

दरभंगा प्रक्षेत्र की पाषाण प्रतिमाएँ








डॉ. सुशान्त कुमार

ग्रन्थ के सन्दर्भ में

'दरभंगा प्रक्षेत्र की पाषाण प्रतिमाएँ' उत्तरी बिहार के गंगा-गंडक-कोसी नदियों के मध्य अवस्थित दरभंगा प्रक्षेत्र से प्राप्त पूर्व मध्यकालीन प्रतिमाओं के आधार पर लिखा गया शोध प्रबंध का पुस्तक रूप है। मिथिला की पाषाण प्रतिमाओं के संदर्भ में दरभंगा प्रक्षेत्र का चयन प्रमुखता के साथ इसलिए किया गया है कि यह क्षेत्र मिथिला के प्रतिमाओं के संदर्भ में संस्कृति और परम्परा की दृष्टि से नाभिकीय प्रतीत होता है।

प्रस्तुत पुस्तक में मिथिला के इतिहास एवं उसके पुरातात्विक महत्व को प्रकट करते हुए प्रतिमा से सम्बन्धित कतिपय नवीन तथ्य एवं मौलिक विचार प्रकट किया गया है। यह पुस्तक मिथिला की प्रतिमा से सम्बन्धित कला और संस्कृति के अछूते विभिन्न आयामों को ही प्रकाशित नहीं करती अपितु मिथिला की मूर्तिकला के अध्ययन की ओर भी इंगित करती है।

सात अध्यायों में विभाजित इस पुस्तक में समाज के अन्दर प्रतिमा के सम्बन्ध में प्रचलित परम्पराओं, मान्यताओं एवं प्रचलित विश्वासों सहित इस प्रक्षेत्र की प्रमुख पाषाण प्रतिमाएँ, इस प्रक्षेत्र की सांस्कृतिक, सामाजिक एवं आर्थिक पहलू का विश्लेषण भी किया गया है, जो मिथिला के स्थानीय इतिहास के कला लेखन में एक मानदण्ड प्रस्तुत करती है।

आशा है, यह पुस्तक निश्चित रूप से मिथिला के इतिहास, पुरातत्व एवं संस्कृति में रूचि लेने वाले जिज्ञासुओं, शोध छात्रों एवं कला विदों के लिए सर्वथा उपयोगी सिद्ध होगा।



ISBN - 978-93-85309-25-0

मूल्य : 4500.00 रुपये

दरभंगा प्रक्षेत्र की पाषाण प्रतिमाएँ

लेखक :

डॉ॰ सुशान्त कुमार



2016

कला प्रकाशन

बी. 33/33 ए-1, न्यू साकेत कालोनी,

बी.एच.यू.वाराणसी

प्रकाशक :
कला प्रकाशन
बी. 33/33 ए - 1, न्यू साकेत कालोनी,
बी० एच० यू०, वाराणसी-5
दूरभाष : 0542-2310682
E-mail : *Kalaprakashanvns@yahoo.in*
Manish . prakashan@yahoo.com

प्रथम संस्करण : 2016
ISBN : 978-93-85309-25-0
मूल्य : **4500.00** रुपये

कम्प्यूटर अक्षर संरचना :
कला कम्प्यूटर मीडिया
बी. 33/33 ए - 1, न्यू साकेत कालोनी,
बी० एच० यू०, वाराणसी-5
दूरभाष : 0542-2310682

मुद्रक :
महावीर प्रेस
भेलूपुरा, वाराणसी

समर्पण

प्रातः स्मरणीय, **परम पूज्य पितामह स्व0 नागेन्द्र मिश्र** (हरिपुर बख्शी टोल, कलुआही, मधुबनी बिहार), अक्षराम्भ कराने वाले **प्रथम गुरु स्व0 चन्द्रशेखर झा** (सरस्वती संस्कृत उच्च विद्यालय बेगूसराय, बिहार) सामाजिक विज्ञान के प्रति आकर्षण पैदा करने वाले **प्रारंभिक गुरु डॉ0 भगवान प्रसाद सिन्हा** एवं **डॉ0 धीरेन्द्र कुमार झा** (जवाहर नवोदय विद्यालय, बेगूसराय), प्राचीन भारतीय इतिहास के विभिन्न गुत्थियों से रू-ब-रू कराने वाले **आदरणीय गुरुदेव डॉ0 राघवेन्द्र वाजपेयी** (राजधानी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली), क्षेत्रीय इतिहास में रुचि पैदा कर आलेख लेखन हेतु प्रेरित करने वाले **सम्मानीय गुरु डॉ0 धर्मेन्द्र कुमर** (स्नातकोत्तर इतिहास विभाग, ल.ना.मि. विश्वविद्यालय, दरभंगा, बिहार) सहित पूर्व मध्यकालीन मिथिला के प्रतिमा निर्माण करने वाले तमाम शिल्पी-कलाकारों को सादर समर्पित...।

— *सुशान्त*

प्राक्कथन

हमारे विशाल देश में क्षेत्र विशेष की अपनी एक संस्कृति है। सत्ता के विकेन्द्रीकरण के साथ पूर्व मध्यकाल में अनेक क्षेत्रीय राज्यों की स्थापना हुई। पूर्व मध्यकालीन सांस्कृतिक संरचना का ललित रूप उसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग है। इस काल में ललित कला विविध रूपों में प्रकट हुई । इनमें मूर्ति कला प्रमुख है । इस काल में अनेक प्रकार की प्रतिमाओं का निर्माण हुआ । सामान्यतः यह निर्माण शासकीय प्रश्रय एवं पोषण के साथ–साथ आम जन मानस की आस्था को भी अभिव्यक्त करता है।

हमारे पूर्वजों का चिन्तन, स्वरूप, विचार दृष्टि एवं दर्शन तथा सम्पूर्ण क्षेत्रीय इतिहास उनके कलात्मक सृजन के जीवंत प्रतीक हैं । मिथिलांचल की संस्कृति ने विरासत स्वरूप पाषाण प्रतिमाओं को नायाब कला कृतियों के रूप में हमें अनमोल निधि प्रदान की है। आवश्यकता है, अतीत से प्राप्त इन निधियों के विश्लेषण तथा ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में इनके योगदान के सारगर्भित शोध परक अध्ययन की । वस्तुतः इतिहास लेखन की परम्परा में क्षेत्रीय अध्ययन जिस समग्र दृष्टि का अधिकारी है, पूर्व में किए गए अनेक प्रयास के वावजूद परिपूर्ण नहीं हो सका है । क्षेत्रीय पुरातात्त्विक अध्ययन की उपेक्षा कर किसी राज्य या देश के इतिहास एवं संस्कृति को समग्रता से अभिज्ञात नहीं किया जा सकता। अतएव इतिहास एवं पुरातत्व का लघुतर भौगोलिक इकाई के रूप में अध्ययन अपेक्षित हैं।

इस तमाम मनःस्थिति की पृष्ठभूमि में लिखी गयी यह पुस्तक नई खोजों के साथ–साथ पुराने परन्तु बिखरे साक्ष्यों को समेकित करने का एक ऐसा प्रयास है, जो मिथिला (दरभंगा प्रक्षेत्र) के प्राक्कलन के प्रति एक नया दृष्टिकोण विकसित कर सकेगा ।

विवेच्य दरभंगा प्रक्षेत्र से तात्पर्य वर्त्तमान दरभंगा कमिश्नरी से है, जो 1972 ई0 के पूर्व एक जिला हुआ करता था । 1–1–1875 के पूर्व दरभंगा सरकार ए तिरहुत का हिस्सा था । मधुबनी, दरभंगा एवं समस्तीपुर को मिलाकर एक स्वतंत्र जिला के रूप में दरभंगा का सृजन तिरहुत से पृथक कर 1875 में किया गया। 1972 में मधुबनी अनुमंडल एवं 1974 में समस्तीपुर अनुमंडल दरभंगा जिला से पृथक होकर अलग जिला के रूप में सृजित हुए और दरभंगा आज अपने वर्त्तमान

स्वरूप में विद्यमान हैं । हमने अध्ययन के लिए (पारम्परिक) मिथिला जो उत्तर बिहार का दो–तिहाई भाग और नेपाल के मैदानी इलाके का बहुतायत क्षेत्र तक विस्तार लिए हुए है, के एक छोटे हिस्से पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है। ये क्षेत्र मधुबनी, समस्तीपुर और दरभंगा जिले हैं, जो कोई दो दशक पूर्व तक एक ही जिला (दरभंगा) के अन्तर्गत थे । इस प्रक्षेत्र का चयन हमने मात्र इसलिए किया कि इस प्रक्षेत्र का महत्व मिथिला की संस्कृति और परम्परा की दृष्टि से नाभिकीय प्रतीत होता है ।

मिथिला के इतिहास लेखन की सर्वाधिक प्रमुख समस्या स्रोत की कमी बतायी जाती है । यह कहा जाता है कि मिथिला के संदर्भ में साहित्यिक स्रोत सीमित हैं और उनकी सबसे बड़ी कमी यह है कि इनमें सम्पूर्ण समाज प्रतिबिम्बित न होकर सिर्फ श्रेष्ठजन की छवि ही दिखाई पड़ती है । इस कमी को संभवतः इतिहास का निकट सहयोगी पुरातत्व पूरा कर सकता था, परन्तु मिथिला में सही मायने में इसका श्रीगणेश भी नहीं हो पाया है, फिर यह भी कहा जाता है कि मिथिला की दल–दली मिट्टी अपने इतिहास को लीलती रही है और इसके अतीत का अधिकांश हिस्सा या तो काल के क्रूर प्रहारों से बिल्कुल विनष्ट हो चुका है अथवा धरती के गर्भ में समाया हुआ है ।

19वीं सदी के अन्तिम दशक में मिथिला के अतीत के अनुसंधान की सुगबुगाहट प्रारम्भ हुई और इसका श्रेय कवीश्वर चन्दा झा को दिया जा सकता है परन्तु सही अर्थों में परमेश्वर झा ने अपनी रचना 'मिथिला तत्व विमर्श', मुकुन्द झा बख्शी ने अपनी पुस्तक 'मिथिला भाषामय इतिहास' और श्याम नारायण सिंह ने अपनी कृति 'हिस्ट्री ऑफ तिरहुत' प्रकाशित कर मिथिला के इतिहास लेखन परम्परा की नींव 20 वीं सदी के प्रारंभिक दशक में डाली, जिसे राधाकृष्ण चौधरी और उपेन्द्र ठाकुर ने एक निश्चित आधार भूमि प्रदान की । मिथिला के इतिहास लेखन के क्षेत्र में इन इतिहासकार–द्वय का योगदान अमूल्य है।

उपेन्द्र ठाकुर की पुस्तक, 'हिस्ट्री ऑफ मिथिला', ने सही मायने में इस क्षेत्र के इतिहास को परम्परा एवं मिथकों के घेरे से निकालकर तार्किकता एवं वैज्ञानिकता की दुनिया में अवस्थित किया । समकालीन राष्ट्रीय एवं आंचलिक इतिहास लेखन की प्रवृतियों के अनुरूप राजनीतिक गाथाओं को अधिक महत्त्व देने के बावजूद उनकी यह रचना सांस्कृतिक तत्वों से पूर्णतया परिचित है । राधाकृष्ण चौधरी की रचनाएँ भी इस संदर्भ में काफी महत्वपूर्ण हैं । उन्होंने मार्क्सवादी विश्लेषणों के द्वारा इस क्षेत्र के इतिहास लेखन और वर्तमान में प्रभावी वैज्ञानिक एवं धर्मनिरपेक्ष इतिहास लेखन की प्रवृतिं के बीच सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया।

मिथिला के इतिहास लेखन में राधाकृष्ण चौधरी और उपेन्द्र ठाकुर को इस बात का श्रेय तो निश्चित रूप से दिया ही जा सकता है कि उन्होंने न केवल मिथिला की आंचलिक अस्मिता को ऐतिहासिक आधार प्रदान किया बल्कि इतिहास लेखन की एक ऐसी मजबूत परम्परा कायम की, जिस पर आज भी मिथिला का इतिहास टिका हुआ है । दुर्भाग्यवश हम आज भी वहीं हैं, जहाँ आज से तीन–चार दशक पहले मिथिला के ये शीर्षस्थ इतिहासकार खड़े थे। यह अत्यन्त चिन्तनीय हैं ।

मिथिला के प्रारंभिक इतिहास लेखन में कुछ लेखों के अलावे, उन्नीसवीं सदी के अंत से ही प्राप्त हो रहे इतिहास के पुस्तकों में उमेश मिश्र, उपेन्द्र ठाकुर, लक्ष्मण झा, मुकुन्द झा बख्शी, आर0 बी0 दास, एस0 एन0 सिंह, परमेश्वर झा, विजय कान्त मिश्र, जयकान्त मिश्र, सुभद्र झा, कृष्ण कान्त मिश्र आदि की पुस्तकें हैं । ये रचनाएँ मिथिला के ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक व्यक्तित्व को समझने एवं विकसित करने की दिशा में महत्वपूर्ण प्रयास हैं ।

मिथिला के ऐतिहासिक अध्ययन का सर्वाधिक दुर्बल पक्ष यह रहा है कि जिन साहित्यिक स्रोतों को अध्ययन का आधार बनाया गया है, न तो उसकी ऐतिहासिकता का परीक्षण किया गया है और न ही उनके सही संदर्भ को रेखांकित किया जा सका है। शास्त्रीय साहित्यिक स्रोतों का असावधान प्रयोग, मिथिला के ऐतिहासिक अध्ययन की एक ऐसी कमी है, जो इसे दोषपूर्ण बनाती हैं।

मिथिला के इतिहास लेखन में अद्यतन प्रवृतियों की अनुपस्थिति के साथ–साथ स्रोतगत उलझन भी एक आम समस्या है । इस क्षेत्र के प्राचीन एवं मध्यकालीन इतिहास के निरूपण में यह तथ्य स्पष्टरूपेण देखने को मिलता है । तकरीबन वही सारे साक्ष्य, विशेषकर साहित्यिक एवं अभिलेखीय, इस क्षेत्र के अतीत को समझने के लिए इस्तेमाल में लाए जाते रहे हैं जिनके आधार पर सम्पूर्ण उत्तर भारत का इतिहास लिखा जाता रहा है । कारण सोचगत भी है और विधिगत भी। आवश्यकता है साहित्यिक स्रोतों, जो अतीत के विश्लेषण के अभी भी मुख्य आधार हैं, के क्षेत्रीय संदर्भ को रेखांकित करने की, जिससे मिथिला की भौतिक संस्कृति के निर्माण के निश्चित स्रोतगत आधार को निरूपित किया जा सके। इसके साथ ही इस क्षेत्र के पुरातात्विक अवशेषों का भी अधिकाधिक इस्तेमाल आवश्यक है । इस क्षेत्र की पुरातात्विक अवहेलना के फलस्वरूप यहाँ पुरातात्विक क्रिया–कलाप अत्यन्त ही सीमित रहा है। बसाढ़ (वैशाली) के अतिरिक्त इस क्षेत्र में सिर्फ बलिराजगढ़, कटरा, करियन, पाँड़ एवं सलेमपुर में उत्खनन हुए हैं और वे भी छोटे पैमाने पर।

दरभंगा प्रक्षेत्र पुरातात्विक दृष्टि से अत्यन्त सम्पन्न है किन्तु इस क्षेत्र की दिशा में गहन अन्वेषण कार्य अद्यतन नहीं किये जा सके हैं । अतः क्षेत्रीय इतिहास में कार्य करने की रुचि होने के कारण विवेच्य क्षेत्र में पाषाण प्रतिमाओं की वहुलता एवं वैशिष्ट्य को दृष्टिगत कर पाषाण प्रतिमाओं पर शोध करने का महती दायित्व शोध निर्देशक डॉ0 शैलेश कुमार सिन्हा की प्रेरणा से मैंने सहर्ष ग्रहण किया।

हमने अपने शोध क्षेत्र (दरभंगा–मधुबनी–समस्तीपुर जिले) में जनवरी 2008 से जुलाई 2012 तक के बीच विभिन्न समयों में अल्पकालीन अन्वेषण किए। इसलिए इनके परिणामों को स्थलपाकी न्याय पर ही आधारित समझना चाहिए। इस अन्वेषण का सबसे महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि पुरातात्विक संभावनाओं के नए रास्ते खुले हैं। अन्वेषणों से निकले कुछ तथ्य तो इतने महत्वपूर्ण है जो मिथिला के पुरातात्विक परिदृश्य को मौलिक रूप से परिवर्तित करने में समर्थ हैं। इस काल में बौद्ध तथा ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित अनेक देवी–देवताओं की मूर्तियाँ निर्मित हुईं । बौद्ध और ब्राह्मण धर्म के व्यापक प्रसार के कारण, इन दोनों धर्मों से सम्बन्धित मूर्तियाँ ही दरभंगा प्रक्षेत्र के विविध क्षेत्रों से व्यापक पैमाने पर प्राप्त हुई हैं ।

शोधपरक विश्लेषण से युक्त शोध प्रबंध को हीं पुस्तक का रूप दिया गया है। प्रस्तुत पुस्तक को सात अध्यायों में संयोजित किया गया है । अध्याय एक में दरभंगा प्रक्षेत्र के ऐतिहासिक एवं भौगोलिक पृष्ठभूमि का विश्लेषण है। इसके अन्तर्गत प्राचीन काल से पूर्व मध्यकालीन मिथिला के इतिहास एवं ऐतिहासिक ढ़ाचे में आये उन भौगोलिक बदलावों को रेखांकित किया गया है, जिनके परिणामस्वरूप पूर्व मध्यकालीन मिथिला (दरभंगा प्रक्षेत्र) का आधार बना। विशेष रूप से पूर्व मध्यकालीन राजनीतिक प्रतिबद्धता, त्रिपक्षीय संघर्ष के दौरान शामिल सेनाओं के बढ़ते प्रभाव से हुए ऐतिहासिक बदलाव की सीमा को रेखांकित करता है।

दूसरे अध्याय में दरभंगा प्रक्षेत्र की पाषाण प्रतिमाओं की ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के अन्तर्गत भारतीय शिल्प और मूर्ति कला के आरंभ की चर्चा, मूर्तियों के निर्माण और उनके सूक्ष्म अवलोकन प्रस्तुत किये गये हैं ताकि आलोच्य विषय को गहनता से समझा जा सके । दरभंगा प्रक्षेत्र के कलाकार पूर्व मध्यकाल में भारत के विभिन्न भागों में प्रचलित प्रतिमा निर्माण के औचित्य से अवगत थे। इस अध्याय में पृष्ठभूमि के आधार स्वरूप हड़प्पा कालीन संस्कृति से

लेकर पूर्व मध्यकालीन पाल–सेन शैली में निर्मित मूर्ति कला के विकास का व्यवस्थित अध्ययन किया गया है ।

तीसरे अध्याय में दरभंगा प्रक्षेत्र की प्रमुख पाषाण प्रतिमाओं की चर्चा की गई हैं। इस अध्याय में दरभंगा प्रक्षेत्र (पुराना दरभंगा जिला) वर्त्तमान समस्तीपुर, मधुबनी और दरभंगा जिला को मिलाकर बना दरभंगा कमिश्नरी से प्राप्त शताधिक मूर्त्तियों की चर्चा की गई है तथा प्रमुख मूर्त्तियों का चित्र सहित विश्लेषण है। इस सम्पूर्ण प्रक्षेत्र से प्राप्त मूर्त्तियों में स्थानीय एवं दक्षिण भारतीय प्रभाव को ढूढ़ने का प्रयास किया गया है । ब्रह्मा, बिष्णु, महेश, कार्तिकेय, गणेश, बुद्ध के अतिरिक्त देवी प्रतिमाओं की चर्चा विस्तार से की गई हैं । साथ ही प्रतिमा लक्षण के शास्त्रीय ग्रंथों में उपलब्ध विवरण के आधार पर प्राप्त मूर्त्तियों के निर्माण की चर्चा भी की गई हैं ।

अध्याय चार में विभिन्न धर्म, संप्रदाय से सम्बन्धित प्राप्त प्रतिमाओं के आधार पर उनके सांस्कृतिक पहलू के विभिन्न आयामों का अध्ययन किया गया हैं। इस अध्याय में प्रतिमाओं के सांस्कृतिक पक्ष का विश्लेषण है जो दरभंगा प्रक्षेत्र के सांस्कृतिक इतिहास को पुरातात्विक आधार प्रदान कर तथ्यपरक एवं प्रमाणिक बनाती है ।

अध्याय पाँच में पूर्व मध्यकालीन दरभंगा प्रक्षेत्र में मूर्तियों के आधार पर सामाजिक जीवन से संबंधित जानकारी की चर्चा की गई हैं । इस अध्याय में विभिन्न धर्मों एवं विचारधाराओं के प्रसार तथा सामंती सामाजिक बदलावों को दर्शाने की कोशिश की गई हैं ।

अध्याय छः में प्रतिमाओं के विश्लेषण पर आधारित पूर्व मध्यकालीन प्रक्षेत्र के आर्थिक बदलाव की बयार और व्यापारिक स्थिति की चर्चा की गई हैं। इस अध्याय में श्रम और श्रम के उपरांत हुए आर्थिक परिवर्त्तन के ऐतिहासिक निहितार्थ को निरूपित करने का प्रयास किया गया है।

अध्याय्र सात में निष्कर्ष को लिखने का प्रयास किया गया है। जिसमें दरभंगा प्रक्षेत्र में फैले प्रतिमाओं के आधार पर मूल तथ्य एवं फलाफलन शामिल हैं।

प्रस्तुत पुस्तक जो वस्तुतः एक शोध प्रबन्ध है, के निर्माण में अनेक संस्थानों, गुरूजनों, मित्रों, परिजनों का सहयोग, मार्गदर्शन, सुझाव और स्नेह प्राप्त हुआ है, जिसके प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ ।

गुरूवर डॉ0 शैलेश कुमार सिन्हा, अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास, पुरातत्व एवं संस्कृति विभाग, जी0 डी0 कॉलेज, बेगूसराय ने जिस कुशलता के साथ

मार्गदर्शन किया तथा उदारतापूर्वक समय दिया, इससे मैं अभिभूत हूँ, जीवन पर्यन्त अपने को अनुगृहीत अनुभव करता रहूँगा।

मैं आदरणीय प्रो0 (डॉ0) रत्नेश्वर मिश्र पूर्व विभागाध्यक्ष, डॉ0 सत्य नारायण ठाकुर (पूर्व विभागाध्यक्ष), डॉ0 विश्वम्भर झा, विभागाध्यक्ष तथा डॉ0 धर्मेन्द्र कुमर, इतिहास विभाग, ल0 ना0 मि0 वि0 वि0, दरभंगा का विशेष रूप से आभारी हूँ जिन्होंने अन्तः सलिल धारा की तरह मुझे सदैव अपने कार्य के प्रति प्रेरित किया।

डॉ0 विजय कुमार चौधरी (निदेशक, काशी प्रसाद जायसवाल शोध संस्थान, पटना) का आभारी हूँ, जिन्होंने शोध अन्वेषक के रूप में मुझे मधुबनी एवं दरभंगा जिले में कार्य करने का सुअवसर प्रदान किया। प्रतिमाओं के छाया चित्रों के संकलन के लिए अन्य शोध अन्वेषकों यशोवर्मन, वरूण, मणिलाल, आलोक, राज नारायण ने काफी सहायता की । छायाचित्रों की सी0 डी0 बनाने में शुभंकरपुर, दरभंगा के स्व0 शक्तिनाथ चौधरी (गुड्डु) एवं बेगूसराय के विवेक रंजन ने मदद की।

सामग्री संकलन के क्रम में श्री शोभाकान्त (दरभंगा), विनयानंद झा (मंगरौनी), सुनील कुमार मिश्र (सतलखा), शिव कुमार मिश्र (बिहार रिसर्च सोसाइटी, पटना), सत्येन्द्र कुमार झा (पुरातत्व निदेशालय, बिहार, पटना) ने काफी सहायता की इनके प्रति हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ । अजीत कुमार (शुभंकरपुर) तथा प्रवेश कुमार चौधरी (पंचोभ) का भी आभारी हूँ जिन्होंने मेरे साथ विभिन्न ऐतिहासिक एवं पुरातात्विक स्थलों का भ्रमण किया। मैं डॉ0 अवनीन्द्र कुमार झा (दरभंगा) एवं डॉ0 अमिय कृष्ण (बेगूसराय) का विशेष रूप से आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे वैचारिक सहयोग प्रदान किया।

इसको पूर्ण करने में माता श्रीमती विजुल देवी, पिता डॉ0 गौरीनाथ मिश्र 'भास्कर' का स्नेह सिंचित आर्शीवाद हमारा सबसे बड़ा सम्बल रहा है । मैं इन दोनों को नमन करते हुए अपने को परम सौभाग्यशाली अनुभव करते हुए हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ साथ ही पत्नी श्रीमती मेनका कुमारी का हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने बच्चों (योगेश एवं जयेश) के लालन पालन में मुझे मेरे पारिवारिक दायित्वों से मुक्त रखा। इस दौरान छोटे भाईयों प्रशान्त कुमार, डॉ0 विक्रान्त भास्कर एवं दिशान्त कुमार का भी आभारी हूँ जिन्होंने घर के दायित्वों से मुझे मुक्त रखा।

अपने ससुराल में रहकर सम्पूर्ण दरभंगा प्रक्षेत्र का भ्रमण किया, इसके लिए ससुराल के सभी सदस्यों रेणुका, वागिश, वाणीश के साथ सास श्रीमती सुनीता देवी एवं ससुर श्री मोहन मिश्र का भी हृदय से कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ ।

सामग्री के संकलन में दरभंगा प्रक्षेत्र के सैकड़ों गाँव, उन गाँवों के ग्रामीण, दरभंगा स्थित ल० ना० मि० विश्वविद्यालय एवं कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय के केन्द्रीय पुस्तकालयों, जी० डी० कॉलेज, बेगूसराय स्थित खूब लाल सिंह पुस्तकालय, काशी प्रसाद जायसवाल शोध संस्थान, पटना के पुस्तकालय से मदद मिली। इन पुस्तकालयों के पुस्तकालयाध्क्षकों एवं उनके सहकर्मियों की मदद से समुचित पुस्तक सामग्री का संकलन संभव हो सका । अतः इनके प्रति मैं कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ ।

प्रस्तुत पुस्तक में मैंने पूर्वाग्रह रहित होकर एवं शोध की अद्यतन वैज्ञानिक एवं व्यवहारिक नीति का अनुसरण करते हुए आलोच्य विषय पर विचार किया है, ताकि सत्य सही परिपेक्ष्य में उद्घाटित हो सके। हमने यथा संभव अपनी परिधि में रहकर अधिकाधिक सामग्री एकत्रित करने का प्रयास किया । यत्र–तत्र कुछ अनुसंगिक बातों के भी उल्लेख हुए हैं जो मूल प्रसंग को विकेन्द्रीकृत न कर उसे अधिकाधिक सुस्पष्ट एवं उजागर करते हैं...।

✍ सुशान्त कुमार

6 मार्च, 2015
बदरी नारायण मंदिर के सामने
शुभंकरपुर, दरभंगा–846006



संकेत-सूची

अ0पु0	–	अग्नि पुराण
ए0ई0	–	एपिग्राफिका इंडिका
ज0न्यू0सो0ई0	–	जर्नल ऑफ न्यूमिस्मेटिक सोसाइटी ऑफ इंडिया
जे0वी0ओ0आर0एस0	–	जर्नल ऑफ बिहार एण्ड ओड़िसा रिसर्च सोसाइटी
जे0बी0आर0एस0	–	जर्नल ऑफ बिहार रिसर्च सोसाइटी
प्रो0 आई0एच0सी0	–	प्रोसीडिंग्स ऑफ इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस
एस0ई0	–	सलेक्टेड इंस्क्रिप्शन्स
वि0ध0पु0	–	विष्णु धर्मोत्तर पुराण
भ0पु0	–	भविष्य पुराण
मानसो0	–	मानसोल्लास
म0पु0	–	मत्स्य पुराण
याज्ञ0	–	याज्ञवल्क्य स्मृति
रू0म0	–	रूप मंडन
राज0	–	राजतरंगिणी
श्वेत0उप0	–	श्वेताश्वर उपनिषद
शत0 ब्रा0	–	शतपथ ब्राह्मण
शि0पु0	–	शिव पुराण
स्कं0 पु0	–	स्कंन्द पुराण



चित्र परिचय

चित्र संख्या	प्रतिमा का नाम	प्राप्ति स्थल
1.	स्थानक विष्णु	विदेश्वर स्थान
2.	स्थानक विष्णु	जय नगर
3.	स्थानक विष्णु	समैला
4.	स्थानक विष्णु	रथौंस
5.	स्थानक विष्णु	डुमरा
6.	स्थानक विष्णु	अकौर
7.	स्थानक विष्णु	भीठ भगवानपुर
8.	स्थानक विष्णु	अन्धरा ठाढ़ी (कमलादित्य स्थल)
9.	स्थानक विष्णु	वेनवारा
10.	स्थानक विष्णु (वराह रूप)	सलेमपुर
11.	स्थानक विष्णु (वराह रूप)	वेनवारा
12.	शेषशायी विष्णु	बलिया
13.	शेषशायी विष्णु	अवाम
14.	गणेश	भीठ भगवानपुर
15.	गणेश	भोज पण्डौल
16.	गणेश	कोर्थु
17.	गणेश	हावी डीह
18.	गणेश	करियन
19.	सूर्य	परसा
20.	सूर्य	भोज पण्डौल
21.	सूर्य	भीठ भगवानपुर
22.	सूर्य	रघौपुरा
23.	सूर्य	रखवारी
24.	अग्नि	डीलाही
25.	अग्नि	विदेश्वर स्थान
26.	कार्तिकेय	बसुआरा



विषयानुक्रमणिका



दरभंगा प्रक्षेत्र की ऐतिहासिक एवं भौगोलिक पृष्ठभूमि

दरभंगा प्रक्षेत्र की ऐतिहासिक एवं भौगोलिक पृष्ठभूमि पर दृष्टि डालने के लिए मिथिला स्थित इस क्षेत्र की राजनीतिक अस्तित्व के निर्माण की प्रक्रिया की प्राचीनता का गहन अध्ययन समीचीन है। वस्तुतः दरभंगा प्रक्षेत्र के ऐतिहासिक एवं भौगोलिक पृष्ठभूमि की ऐतिहासिक, सांस्कृतिक स्थिति पर दृष्टिपात करने के लिए विदेह माधव के सदानीरा तट पर आगमन की कथा से सम्बद्ध कर अभिज्ञात किया जा सकता है। जब यहाँ वैदिक सभ्यता का प्रसार हुआ।

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार अतिपुरातन काल में सरस्वती नदी के किनारे से भूपति विदेह माधव अपने पुरोहित`गौतम राहुगण के संग अग्नि वैश्वानर का अनुसरण करते हुए पूर्व की ओर बढ़ते गये । मार्ग के स्थानों को वैश्वानर वह्नि जलाते आये थे, किन्तु सदानीरा के किनारे पहुँचकर उनकी गति रुक गयी ।[1] सदानीरा उत्तरी पर्वतों से निकलने वाली गण्डक नदी है , जो हाजीपुर के निकट गंगा से मिलती है ।[2]

राजा विदेह माधव ने वहाॅ पहुँचकर अग्नि वैश्वानर से प्रश्न किया कि 'अब मेरा वास कहाॅ हो' उन्हें उत्तर मिला कि 'इस नदी के पूर्व की ओर' ऐसा वर्णन किया गया है कि पूर्वकाल में ब्राह्मणों ने उस नदी को पार नहीं किया था। यज्ञाग्नि का प्रज्वलन उस भूमि में तब तक कभी नहीं हुआ था । नदियाॅ वहाॅ अनेक थीं और धरती वहाॅ की दलदली एवं आर्द्र । वह भूमि मानव–निवास के योग्य न थी। परंतु शनैः – शनैः ब्राह्मणों ने वहाॅ यज्ञाग्नि प्रज्जवलित की और कीचड़मयी दलदली भूमि गीलेपन से मुक्त हुई । वह अत्युर्वरा बनकर कृषि तथा मानव–निवास के पूर्णतया योग्य बन गई । विदेह माधव का वहाँ निवास हुआ । माधव के नाम पर उस भूमि का नाम मिथिला पड़ा।[3]

सदानीरा तट तक आगमन के पश्चात् ऋग्वैदिक काल में ही निमि नाम्क राजा के द्वारा इस क्षेत्र में राजनीतिक सत्ता की स्थापना तथा आर्य संस्कृति का प्रसार हो चुका था। सातवीं शताब्दी ई0 पू0 तक इय क्षेत्र पर जनक राजवंश का शासन स्थापित हो चुका था । वैदिक ग्रंथों में चर्चित नामों में समानता के आधार पर मानना है कि ऋग्वैदिक काल में ही निमि नामक राजा

के द्वारा इस क्षेत्र में राजनीतिक सत्ता की स्थापना तथा आर्य संस्कृति का प्रसार हो चुका था।[4]

विदेह माधव के नाम पर मिथिला या राजा इच्छवाकु के पुत्र निमि के विदेह होने के शापित होने के उपरांत मिथि, विदेह, मिथिला या जनक नाम प्रचलन में आया, इसके पीछे कई कहानी प्रचलित है । बाल्मीकि रामायण, विष्णु पुराण तथा श्रीमद्भागवत महापुराण के अनुसार मिथिला नाम महाराज निमि के नाम पर उद्भूत हुआ है।[5] विदेह माधव के द्वारा मानव निवास योग्य भूमि निर्मित करने के कारण माधव के नाम पर उस भूमि का नाम मिथिला पडा ।[6] शत्रु के दमन से संबंधित क्षेत्र होने के कारण यह भूमि मिथिला है ।[7] मिथिला के राजनीतिक अस्तित्व के निर्माण की प्रक्रिया ऐतिहासिक युग के प्रारंभिक शताब्दियों में ही विदेह माधव एवं उसके कबीले के गंडक तट तक आगमन से शुरु हो चुकी थी।[8] इस भू भाग के प्रथम नृपति प्राचीन ग्रंथों के अनुसार सूर्य कुलोद्भव महाराज मनु के तनय इक्ष्वाकू के पुत्र निमि थे । मिथि निमि के पुत्र हुए । महाराज मनु एक बार अपने कुलगुरु एवं पुरोहित वशिष्ठ की आज्ञा के बिना ही यज्ञ करवाने हेतु गौतम को ऋत्विक वरण कर लेने के अपराध में ऋषि वशिष्ठ का कोपभाजन बन गये, तथा अन्ततोगत्वा उनके शाप से मृत्यु को प्राप्त हुए । तदुपरांत सभी देवता एवं महान ऋषिगण एकत्र होकर उनकी आत्मा से पुनः मनुष्य रुप में प्रकट होने की प्रार्थना की, पर उन सबों का अनुरोध स्वीकृत नहीं हुआ । ऋषियों ने उन्हें वरदान दिया कि उस काल से सतत् उनका निवास मानव–निमेष (पलकों) पर रहेगा । पश्चात् उनके शरीर से उनकी क्षमता के सुयोग्य पुत्र उत्पन्न करंने की इच्छा से उन महात्माओं ने उनके शरीर को मथानी में रखकर उसका मंथन किया। उन सबों को अपने प्रयत्न में सफलता मिली और उस मंथन के फलस्वरुप मिथि नामक उनके एक पुत्र का वहॉ आविर्भाव हुआ, जो अपने पिता के राज्य का उत्तराधिकारी बना। उसी मिथि के नाम पर उसके द्वारा शासित भूमि का नामकरण 'मिथिला' हुआ।[9]

श्रीमद्भागवत में उल्लेख है कि यज्ञ करने के लिए उद्यत राजा निमि का निमंत्रण अस्वीकार कर जब वशिष्ठ इन्द्र को यज्ञ कराने के लिए स्वर्ग चले गये, तब वशिष्ठ की अनुपस्थिति में भृगु आदि मुनियों की सहायता से निमि ने यज्ञ सम्पन्न किया । इन्द्र के यहाँ से यज्ञ समाप्त कर स्वर्ग से लौटने पर वशिष्ट को बहुत क्रोध हुआ और उन्होने निमि को विदेह हो जाने का शाप दे दिया । वशिष्ट के इस शाप के बाद प्रजा घबड़ा गयी। ऋषियों ने अराजकता उत्पन्न होने के

भय से निमि के विदेह (मृत) शरीर का मंथन किया । उस मंथन से जो शिशु उत्पन्न हुआ, उसका नाम मिथिला अथवा विदेह रखा गया ।[10]

मत्स्य पुराण के अनुसार राजा निमि के यहाँ एक बार कुल – पुरोहित वशिष्ट आये । निमि उस काल अपनी रानी के साथ द्यूत क्रीडा में लीन थे। कुल–पुरोहित के आगमन पर निमि ने उनका शिष्टाचारनुकूल स्वागत किया पर वशिष्ट उससे संतुष्ट न हुए । उन्होंने निमि को शरीर पात का शाप दिया । ऋषि के शाप ने जब निमि ने शरीर त्याग किया तब ऋषियों को इस योग्य राजा के अभाव में अराजकता का भय सताने लगा । इस कारण उन्होने निमि के मृत शरीर का मंथन किया । उस मंथन से एक बालक की उत्पत्ति हुई । इस प्रकार बिना जनक–जननी के संयोग से जन्म धारण करने के कारण वह शिशु 'जनक', मृत शरीर से उत्पन्न होने के कारण विदेह तथा मंथन से उत्पन्न होने के कारण 'मिथि' कहलाया। मिथि के नाम पर ही 'मिथिला' नगर का निर्माण हुआ ।[11]

भविष्य पुराण में भी मिथिला नगर एवं जनक उपाधि के उत्पत्ति का वर्णन आया है।[12] निमि का पुत्र अथवा उत्तराधिकारी मंथन के कारण मिथि कहलाया और इसी मिथि के नाम पर सम्पूर्ण भूभाग मिथिला, विदेह कहलाया और वहाँ के राजा जनक और वैदेह पद्वी से विभूषित हुए।[13]

निमि के उत्तराधिकारी के नाम पर मिथिला, विदेह, जनक, वैदेह आदि शब्द प्रचलन में आए पर निमि के पिता कौन थे, निमि किसका उत्तराधिकारी था, उत्तर स्पष्ट नहीं हो सका है। निमि के पिता के रुप में कहीं इक्ष्वाकू का नाम आता है और कहीं मनु का नाम । क्या इक्ष्वाकू और मनु एक ही व्यक्ति हैं या दोनों दो, स्पष्ट नहीं है।

निमि मनु का पुत्र, अयोध्या का राजा था ।[14] सूर्य कुलोद्भव महाराज मनु के तनय इक्ष्वाकू के पुत्र निमि थे ।[15] राजा इक्ष्वाकू के पुरंजय एवं निमि नामक दो पुत्र थे । पुरंजय ने अयोध्या का और निमि ने मिथिला का राज्य ग्रहण किया ।[16] बौद्ध साहित्य में मखादेव नामक राजा के पुत्र के रुप में निमि का नाम आता है।[17]

भविष्य पुराण के पचपनवें सर्ग में वर्णित श्लोकों के अनुसार मिथि के काल में मिथिला के नरेशों का विरुद विदेह की जगह 'जनक' हुआ । वाल्मीकीय रामायण के आदि–कांड में निमि से लेकर सीरध्वज तक सभी राजाओं के लिए 'विदेह' शब्द का प्रयोग किया गया है, मात्र अन्तिम श्लोक में उल्लेख है कि सीरध्वज जनक के अनुज का नाम कुशध्वज था। रामायण तथा पुराणों में

विदेह–जनक राजवंश के 54 राजाओं का उल्लेख मिलता है , जो निम्नलिखित हैं :–

निमि, मिथि, उदावसु, नन्दिवर्द्धन, सुकेतु, देवरात, वृहद्रथ, महावीर अथवा महावीर्य, सुधृति अथवा सत्यधृति, धृष्टकेतु, हर्यश्व, मरु, प्रतिधंक,कीर्तिरथ अथवा कृतारथ, देवमीढ़ अथवा देव सिद्ध, विवुध अथवा विश्रुत, महीध्रक अथवा महाधृति, कीर्तिरात, महारोमा, स्वर्णरोमा अथवा सुवर्ण रोमा, हरस्वरोमा, सीरध्वज, भानुमान अथवा भानुमत, शतधुम्न, शुचि, उर्जनामा, शतध्वज,कृति – द्वितीय, अंजन, कुरुजित, अरिष्टनेमि, श्रुतायु, सुपार्श्व, सृंजय, क्षेमावी, अनेना, भौमरथ, सत्यरथ, उपंगू, उपगुप्त, स्वागत, स्वानन्द, सुवर्च, सुपार्श्व, सुभाष, सुश्रूत, जय, विजय, ऋतु, सुनय, वीतघ्व्य, हवति, बहुलाश्व एवं कृति तृतीय अथवा कराल जनक।

प्राचीन भारतीय साहित्य स्त्रोतों के विश्लेषणोपरांत योगेन्द्र मिश्र ने बिदेह–जनक वंश के इतिहास को तीन भागों में विभक्त किया है –

1. राजा मिथि से लेकर हरस्वरोमा तक का काल – विदेह जनक वंश का उत्थान काल,
2. राजा सीरध्वज से लेकर कृति द्वितीय तक का काल – विदेह–जनक वंश का विस्तार काल तथा
3. राजा अंजन से लेकर कृति तृतीय तक का काल – विदेह जनक वंश के पतन का काल ।[18]

छठी शताब्दी ई0 पू0 तक आते– आते इस राजवंश की जगह गणतंत्र की स्थापना हुई और मिथिला कालांतर में वज्जि महासंघ का सदस्य बना । यह मिथिला के स्वतंत्र राजनीतिक अस्तित्व के पतन की शुरुआत थी । अगले 1600–1700 वर्षों तक अर्थात् 1097 ई0 में नान्यदेव द्वारा कर्णाट राजवंश की स्थापना तक, यह क्षेत्र महती साम्राज्यों और बाह्य शक्तियों के अधीन रहा । इस दौरान इस क्षेत्र में एक आंचलिक संस्कृति के निर्माण की नींव रखी जा चुकी थी जिसे मध्यकालीन शक्तियों के साथ–साथ इस राजनीतिक स्वतंत्रता ने भी गति प्रदान की ।[19] यह सच है कि तकरीबन 600 ई0 पू0 से 1097 ई0 तक यह क्षेत्र मुख्यधारा की इतिहास – यात्रा में शामिल रहा, यह भी सच है कि इन 1700 वर्षों के दौरान यहॉ का प्रशासन एवं अर्थतंत्र उन नीतियों से निर्देशित होता रहा जिनकी जन्मस्थली मिथिला के बाहर थीं, परंतु इसके बाबजूद इसी दौर में इस क्षेत्र के व्यक्तित्व निर्माण की प्रक्रिया शुरु हो गई थी, शायद मगध साम्राज्य से अलग होते ही यहॉ बाह्य नियंत्रण का तंत्र कम कारगर साबित हुआ, जिससे

क्षेत्रीयता के तत्वों के विकास को बल मिला । मिथिला के इतिहास के विश्लेषण में कमोवेश इन्हीं प्रक्रियाओं को समझने का प्रयास होना चाहिए ।[20]

मिथिला छठीं शताब्दी ई0 पू0 तक आते–आते राजतंत्र से गणतंत्र हो चुका था । मिथिला वज्जिसंघ में शामिल था । बौद्ध ग्रंथ अंगुतर निकाय में सोलह महाजनपद की चर्चा है और जैन ग्रंथ भगवती सूत्र में भी सोलह महाजनपद की चर्चा है । अंगुतर निकाय के सोलह महाजनपद की सूची तथा भगवती सूत्र के सोलह महाजनपद की सूची में तुलना करने पर वज्जि दोनों की सूची में समान है ।[21]

मिथिला में राजतंत्र से गणतंत्र की स्थापना के पीछे राजा के विरुद्ध जनता के विद्रोह करने की एक कहानी की जानकारी विभिन्न स्त्रोतों से मिलती है । राजा निमि के वंश में ही कराल जनक नामक एक राजा हुआ था । कराल जनक आत्याचारी राजा था, अतः प्रजा ने उसे गद्दी से उतार दिया और उस दिन से वहॉ राजतंत्र का अंत हो गया।[22] वाल्मीकि रामायण तथा विष्णपुराण के अनुसार जनक राजाओं के शासन–काल में विदेह अथवा मिथिला राज्य आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच चुका था, किन्तु दुर्भाग्यवश यह स्थिति दीर्घ काल तक यथावत न रह सकीं और कृति तृतीय अथवा कराल जनक के बाद विदेह जनक वंश का पतन हो गया । विष्णु पुराण के अनुसार कृति तृतीय अथवा कराल जनक एक क्रूर, प्रजा पीड़क, स्वेच्छाचारी, चरित्रहीन, भ्रष्ट एवं परतियगामी सम्राट था।[23] अश्वघोष ने भी इस घटना का उल्लेख किया है कि कराल जनक ने एक कुमारी ब्राह्मण कन्या का शीलभंग कर अपने पूर्वज त्यागी दार्शनिक जनकों के सुयश सम्पन्न उज्जवल वंश की परम्परागत मर्यादा को कलंकित कर डाला था ।[24] पौराणिक कथाओं से ज्ञात होता है कि पतित भूपति के अनाचार से जनक जनपद क्षुब्ध एवं क्रुद्ध प्रजा की क्रोधाग्नि में जलने लगा । पूरे राज्य में क्रान्ति की लहर फैल गई और अन्ततः जनाक्रोश ने राजतंत्र को ध्वस्त कर डाला । विदेह–जनक वंश के पतनोपरांत लगभग 725 ई0 पू0 में वृज्जि संघ अथवा लिच्छवि गणराज्य की स्थापना के साथ एक नये युग का शुभारंभ हुआ ।[25]

पालि ग्रंथों में भी कराल जनक की चर्चा है ।[26] मज्झिम निकाय के मखादेव सुत में मिथिला के मखादेव राजा की चर्चा है । मखादेव के संबंध में कहा गया है कि उस राजा मखादेव ने एक हजार वर्षों तक बालक्रीड़ा की, चौरासी हजार वर्ष तक वह युवराज रहा फिर चौरासी हजार वर्ष तक उसने स्वयं राज्य किया

और चौरासी हजार वर्ष तक उसने इस मखादेव आम्रवन में घर से बेघर हो प्रवजित होते हुए धर्मसाधना की ।... मखादेव के पुत्र–पौत्रों ने, चौरासी हजार राजाओं तक इस परंपरा को निभाया... राजा निमि उनमें सबसे अंतिम राज़ा हुआ जो अपने पूर्व पुरुषों की तरह धर्म में स्थित हो धर्मपूर्वक ब्राह्मणों, गृहपतियों और नागरिकों, एवं ग्रामवासियों से व्यवहार करता था । ...उस निमि राजा के कड़ार जनक नाम का पुत्र हुआ । वह घर से बेघर हो प्रव्रजित नहीं हुआ। उसने इस कल्याण परंपरा को तोड़ दिया । वह इस वंश का अंतिम पुरुष सिद्ध हुआ।[27]"

मज्झिम निकाय के इस एक सुक्त से कुछ तथ्य निकलते हैं, यथा – क्या निमि का पुत्र कड़ार जनक था ? यद्यपि बौद्ध ग्रंथों से मिथिला के राजा निमि के पूर्वज और निमि के वंशज के संबंध में दी गई जानकारी से संबंधित राजा के नाम में संदेह उत्पन्न हो जाता है तथापि इन्हीं बौद्ध ग्रंथों से मिथिला नगरी का विस्तृत वर्णन भी प्राप्त होता है ।

महाजनक जातक में बुद्ध ने भिक्षुओं से मिथिला के राजाओं की चर्चा करते हुए कहा है कि उन्होंने पूर्व जन्म में स्वयं मिथिला में जन्म लिया था । बुद्ध के कथनानुसार–'विदेह राष्ट्र' के अंतर्गत 'मिथिला' में 'महाजनक' नामक एक राजा राज्य करता था, जिसकी राजधानी मिथिला थी । उसके दो पुत्र 'अरिट्ठजनक' और 'पोलजनक' थे।[28]

महाजनक जातक में महाजनक कुमार ने मिथिला का वर्णन बड़ा ही सुखपूर्वक वैभवपूर्ण एवं ऐश्वर्यशाली ढंग से किया है । इसमें मिथिला नगरी के समृद्ध होने का प्रमाण मिलता है। मिथिला नगरी समृद्ध, विभक्त करके नापी गई, तोरणोद्वारों, प्रसादों, दृढ़ अट्टालिकाओं, कोठों वाली, महापथ वाली, दुकानों, गॉवों आदि से सुसज्जित था।[29]

महाउम्मग जातक में वर्णन है कि मिथिला में विदेह नामक राजा राज्य करता था । इस कथा के अनुसार "महौषद" नामक पंडित मिथिला में बोधिसत्व के रुप में जन्म लिया था । इसके समय पंचाल और विदेह के बीच युद्ध की चर्चा है। इस कथा में वर्णन है कि मिथिला से लोग तक्षशिला शिल्प विद्या सीखने गए पिडगुत्तर नामक व्यक्ति की चर्चा है, जिसका विवाह वहीं के आचार्य की बेटी से हुई लेकिन वह मिथिला के राजा के साथ विवाह कर ली जो बाद में मिथिला की 'उदम्बरा' नाम की रानी हुई।[30] मिथिला से राजकुमार तक्षशिला विद्याग्रहण करने जाते थे ।[31] सुरुचि जातक के अनुसार मिथिला में 'सुरुचि' नाम का राजा राज्य करता था जिसके पुत्र का नाम सुरुचि कुमार था । जो शिल्प सीखने के लिए

तक्षशिला गया ।[32] महाउम्मग, विलनक, सुरुचि जातकों से मिथिला और तक्षशिला के बीच विद्या अध्ययन के लिए आने जाने की जानकारी मिलती है। जातक कथाओं से हमें यह भी जानकारी मिलती है कि मिथिलावासी के सुवर्णभूमि और पूर्वी द्वीपों के साथ घनिष्ठ संबंध रखते थे । विदेह के राजकुमार महाजनक कुमार की कथा से सुवर्णभूमि और पूर्वी द्वीपों के साथ मिथिला में सम्बन्ध की पुष्टि होती है। विदेह राष्ट्र के मिथिला में महाजनक नाम का राजा राज्य करता था जिनके दो पुत्र थे। बड़ा बेटा अरिट्ठजनक और छोटा बेटा पोलजनक ।

महाजनक के मरने के बाद अरिट्ठजनक को राजा बना दिया गया और पोलजनक को सेनापति। दरबारी षडयंत्र के कारण दोनों भाईयो में युद्ध हो गया। भातृ युद्ध में जाने से पहले अरिट्ठजनक ने अपनी रानी से कहा–भद्रे ! युद्ध में हार जीत के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता। यदि मैं युद्ध में मारा जाऊँ तो तुम अपने गर्भ की रक्षा करना। छोटे भाई पोलजनक के हाथों अरिट्ठजनक मारा गया और उनकी पत्नी गर्भ की रक्षा के लिए अपने महल के उत्तरी द्वार से निकलकर बिना दिशा ज्ञान के बाहर चली गयी । रानी भटकते हुए मिथिला से 60 योजन पूर्व–दक्षिण दिशा में चम्पानगर पहुँच गई। वहाँ उसे एक वेदज्ञ ब्राह्मण 'महाशाल' मिला जो रानी को अपनी बहन बनाकर अपने घर ले गया जहाँ गर्भ में पल रहे बच्चे का समयानुसार जन्म हुआ। वही बच्चा आगे चलकर बोधिसत्व के रुप में जाना गया। जनकवंश परम्परा के अनुसार बच्चे का नाम 'महाजनक कुमार' रखा गया।

महाजनक कुमार ने 16 वर्ष की आयु होने पर अपनी माँ से अपने पिता के बारे में पूछा और पिता का खोया हुआ राज्य प्राप्त करने के उद्देश्य से कुछ धन कमाने की इच्छा जताई । वह माँ से आज्ञा लेकर व्यापार करने के लिए नाव से सुवर्णभूमि गया, जहाँ रास्ते में वह समुद्री तुफान में फँस गया। अपने बचाव के लिए वह नाव के मस्तुल पर चढ़ गया, फिर समुद्र में कोई किनारा ढूँढ़ने का प्रयत्न करने लगा। चूँकि वह बोधिसत्व था, इसलिए देवता शक्र ने समुद्रदेवी मणिमेखला को उसे बचाने के लिए भेजा । देवी ने कुमार से प्रश्न किया–कुमार ने समुद्र देवी को अपना कर्तव्य–प्रयत्न बताया और कहा–जो आदमी का कर्तव्य करता है वह रिश्तेदारों, देवताओं तथा पितृ त्रृण से उत्रृण हो जाता है और उसे बाद में अनुताप नहीं होता। उसने देवी को एक गाथा सुनाई :–

'अनणो ज्ञातीनं होति देवानं पितुनोच सो,
करं पुरिस किच्चानि न च पच्छानुतप्पति ।।'

तब देवी कुमार को दृढ़ प्रतिज्ञ देख बोली ' जो तुम इस प्रकार असीम, गहरे, महासमुद्र में भी अपने धार्मिक प्रयत्न रुपी कर्म को नहीं छोड़ रहे हो, जहाँ तेरा मन है वहीं पहुँच जा, यह कहते हुए देवी ने 'मिथिला नगर' के आम्रवन में लाकर मंगलशीला पर बैठा दिया।

दूसरे भाई पोलजनक को कोई पुत्र नहीं था, एक पुत्री थी जिसका नाम 'सीवली' देवी था। पोलजनक मरते समय अपने अमात्यों, दरबारियों एवं सेनापतियों से कहा कि जो व्यक्ति 16 विधियों को जानता हो उसकी परीक्षा लेकर सीवली देवी के साथ राज्य सौंप देना।

सीवली देवी ने महाजनक कुमार से प्रश्न किया और 16 निधियों के बारे में जानकारी प्राप्त की । कुमार का संतोषजनक उत्तर पाकर सीवली देवी ने महाजनक के साथ रहना स्वीकार किया और 'विदेह राष्ट्र' का राज्य सौंप दिया। महाजनक कुमार ने अपने माता और महाशाल ब्राह्मण कुमार को चम्पानगर से मिथिला नगर बुला लिया ओर सुखपूर्वक राज्य करने लगा।[33]

विदेह एक राष्ट्र था इसकी जानकारी विस्तार से बौद्ध ग्रंथों में मिलती है। भारतीय इतिहास में राजनैतिक इतिहास का मुख्य आधार सुनिश्चित तिथिक्रम है और सुनिश्चित तिथिक्रम हमें छठीं शताब्दी ई0 पू0 के बाद ही दिखाई देता है । पूर्वी उत्तरप्रदेश और बिहार के पश्चिमी भाग में भौतिक जीवन में लोहे के प्रयोग और इससे जुड़े तकनीक ने परिवर्तन ला दिया जिसके कारण जीवन यापन सुदृढ़ होने लगा। कालान्तर में छोटे–छोटे जनों का स्थान जनपदों ने ले लिया और ये जनपद ही महाजनपद के रुप में विकसित हुए। राष्ट्र और राष्ट्र राज्य की परिकल्पना सामंतवाद के बाद होने वाले साम्राज्यवाद और साम्राज्यवादी राजतंत्र के उपरांत हुआ। भारत के संदर्भ में यह लागू नहीं होता क्योंकि भारत में राजनीतिक उठापटक के बीच बाह्य आक्रमण होते रहे और बाह्य आक्रमणों के कारण भारतीय उपमहाद्वीप कई क्षेत्रों में बिखरा हुआ था ।

बौद्ध ग्रंथों में विदेह राष्ट्र की चर्चा महाजनक जातक,[34] विलनक जातक,[35] महानारद कस्सप जातक,[36] मखादेव जातक[37] आदि में है । विलनक जातक के अनुसार बुद्ध विदेह राष्ट्र के मिथिला नगर में बोधिसत्व के रुप में वहाँ की पटरानी के कोख से जन्म लेते हैं । इस जातक में भी विदेह को राष्ट्र से संबोधित किया गया है और मिथिला का नगर के रुप में वर्णन है ।[38] संखपाल जातक में विदेह राष्ट्र में मिथिला नगर का वर्णन है ।[39] महानारद कस्सप जातक में कहा गया है कि विदेह राष्ट्र के मिथिला में अंगति नाम का राजा राज्य करता था । अंगति

राजा के समय में मिथिला में कुमुदनी महोत्सव नामक उत्सव होता था ।[40] विदुर जातक में विदेह की चर्चा है , यहाँ राष्ट्र का संबोधन नहीं है लेकिन भौगोलिक दृष्टिकोण से यहाँ पूर्व विदेह के बारे में वर्णन किया गया है।[41] बौद्ध ग्रंथों में मिथिला की चर्चा या पालिग्रंथों के आधार पर मिथिला का संक्षिप्त अवलोकन ''मिथिला की सांस्कृतिक विरासत में बौद्ध धर्म की प्रासंगिकता'' नामक शोध प्रबन्ध में विस्तार से की गई है।[42]

मिथिला के वज्जि महासंघ में शामिल होने के साथ ही मिथिला के स्वतंत्र राजनीतिक सत्ता की कमी का अहसास होने लगता है। वैसे भी यह समय राजनीतिक अंर्तविरोधों का युग था। प्रजातंत्र, राजतंत्र और गणतंत्र का युग चल पड़ा था । प्रजातंत्र में या तो एक अकेला जन होता था जैसे शाक्य, कौलीय और मल्ल, या जनों का एक संघ होता था जैसा कि वृजियों और यादवों में था।[43]

वज्जि प्रदेश गंगा के उत्तर में पड़ता था और नेपाल की पहाड़ियों तक फैला हुआ था। उसकी पश्चिमी सीमा सदानीरा (गंडक) थी जो उसे मल्लों और कोसल से अलग करती थी। पूरब में वह कोशी और महानंदा नदियों के जंगल तक फैला हुआ था। कहते हैं, वज्जि राज्य आठ कुलो; (अष्टकुल) का महासंघ था जिसमें से विदेह, लिच्छवि, ज्ञात्रिक और वज्जि सबसे अधिक महत्वपूर्ण थे । बहुत संभव है कि वज्जि संघ का गठन विदेह राजतंत्र के ह्रास और पतन के बाद हुआ। महावीर तथा बुद्ध के जीवनकाल में वज्जि एक फूलता–फलता गैर राजतांत्रिक राज्य था।[44]... एक गणराज्य के रुप में फल फूल रहा था ।[45] विदेह कुल की राजधानी वैशाली थी ।[46] मिथिला के विदेह और वैशाली के लिच्छवी के बीच की सीमा शायद बागमती नदी थी । बागमती और गंडक के बीच का प्रदेश बसरा कहलाता है। बसारा मुगलकाल में एक परगना था ।[47]

महावस्तु से ज्ञात होता है कि गौतम बुद्ध लिच्छवियों के निमंत्रण पर वैशाली गये थे । बौद्ध साहित्य लिच्छवियों के सामाजिक व राजनीतिक जीवन पर प्रकाश डालता है। लिच्छवियों का आंतरिक संगठन अच्छा था और गौतम बुद्ध के अनुसार लिच्छविगण इसी कारण अजेय था। इस एकता के भंग होने पर लिच्छवि राज्य को मगध या अन्य कोई राज्य विजय कर सकता था ।[48] महात्मा बुद्ध का 46वॉ वर्षावास वैशाली के समीप एक गॉव में बीता। वैशाली के संबंध में ही बुद्ध ने राष्ट्रीय उन्नति के सात सिद्धांत का प्रतिपादन किया था।[49] कहा जाता है कि अजातशत्रु और लिच्छवियों की सीमा पर हिमालय से व्यापारियों का कोई मार्ग आता था।[50] वहीं चुंगी के लिए दोनों शक्तियों (मगध और लिच्छवि) में बहुत

वैमनस्य रहता था और मगध राजा अजातशत्रु उस चुंगी में अधिक हिस्सा लेना चाहता था । प्रयत्न करने पर भी जब अजातशत्रु सफल नहीं हुआ तब उसने आक्रमण करने की ठानी । जब वस्सकार बुद्ध के सामने राय लेने पहुँचा तब बुद्ध ने राष्ट्रीय उन्नति के सात सिद्धांत इस प्रकार बतलाए :–

1) वज्जियों का सन्निपात बार–बार होना ।
2) एक भाव से सभा में एकत्र होना, मिलकर उद्यम करना और कार्य करना।
3) बकायदा कानून बनाए बिना कोई आज्ञा जारी नहीं करना ।
4) बने हुए कानून को नहीं तोड़ना।
5) यथा विहित पुराने राष्ट्रीय नियम के अनुसार चलना ।
6) बुर्जुगों का आदर–सत्कार करना और उनकी सुनने योग्य बातों को मान्ना।
7) जातिय मंदिरों (चैत्यों) का आदर सत्कार करना ।[51]

लिच्छवियों के विषय में एक बार बुद्ध ने कहा था – "भिक्षुओं, तुममें से जिन्होंने तावतिस देवताओं को न देखा हो, लिच्छवियों की इस परिषद से देखें, लिच्छवियों की इस परिषद की आलोचना करें और लिच्छवियों की इस परिषद से तावतिस देवताओं की परिषद का अनुमान करें।[52] अजातशत्रु ने कूटनीति से काम लिया और वैशाली पर चढ़ाई की। अजातशत्रु ने वैशाली को ध्वंस किया और इसके बाद सम्पूर्ण मिथिला अजातशत्रु के अधीन हो गई ।[53]

ऐसा प्रतीत होता है कि विदेह (मिथिला) अजातशत्रु के अधीन होने के बाद मगध साम्राज्य का एक भाग बन गया और यह कर्णाट शासन की शुरुआत होने तक केन्द्रीय शासन के अंतर्गत प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रुप से बना रहा। हमने शोध अन्वेषण के दौरान विभिन्न काल खंड के मृदभांड के टुकड़े देखे हैं जो मौर्य और कनिष्क काल की ओर ईशारा करते हैं।

मौर्य युग में भी मिथिला मौर्य साम्राज्य के अधीन थी ।[54] कौटिल्य ने लिच्छवियों को राजशब्दोपजीवितः गणराजानः कहा है ।[55] मौर्य युग में भी वैशाली एक प्रधान नगरी थी। यह पटना और हिमालय के रास्ते पर थी । अशोक ने वैशाली में एक स्तम्भ बनवाया था। बौद्ध केन्द्र के दृष्टिकोण से वैशाली का महत्व अशोक के समय तक काफी था, इसमें संदेह नहीं । अशोक ने इसे और महत्वपूर्ण बनाया। उसके द्वारा निर्मित स्तम्भ अभी भी स्थान–स्थान पर पाए जाते हैं। अशोक के बाद मिथिला के इतिहास के विषय में कोई विशेष ज्ञान नहीं है। कनिष्क बौद्ध था, किन्तु उसकी राज्यसीमा अभी तक प्रमाणिक तौर पर निश्चित

नहीं हो सकी है। कहा जाता है कि कनिष्क वैशाली से बुद्ध का भिक्षाटन वाला कटोरा उठाकर गन्धार ले गया था ।[56]

प्राचीन मिथिला की राजनीतिक स्थिति के संबंध में हमारा ज्ञान इतना अल्प है कि उस पर कुछ भी निश्चित रुप से नहीं कहा जा सकता है । यों तो रामायण, महाभारत, पुराण, भागवत और बौद्ध–ग्रंथों में इसके उल्लेख मिलते हैं, परंतु उनमें एक ही बात कई बार दुहराई गई है कि उसमें से सत्य निकालना कठिन है । जनक राजवंश से लेकर कर्णाटवंश तक का मिथिला का इतिहास अंधकारमय कहा जा सकता है क्योंकि राजनीतिक इतिहास का पूरा ब्यौरा अभी तक हमलोगों को सही तरीके से नहीं मिला है । सांस्कृतिक दृष्टिकोण से यह काल महत्वपूर्ण है, इसमें संदेह नहीं। इस अल्प ज्ञान का मुख्य कारण यह है कि मिथिला में अभी तक साहित्यिक स्रोतों का व्यापक रूप से विश्लेषण नहीं किया गया है तथा पुरातात्विक स्रोतों में भी वैज्ञानिक आधार पर पुरातात्विक खुदाई नही हुई है। कनिष्क वैशाली तक आया था अथवा नहीं, इसके संबंध में कुछ कहना कठिन है परन्तु यह सही है कि बिहार के कई भागों में उसके सिक्के मिले हैं, जिससे यह सिद्ध होता है कि बिहार पर उसने कब्जा किया, तो यह निश्चित रुप से कहा जा सकता है कि मिथिला भी उसके अधीन रही होगी ।[57]

गुप्तकाल में वैशाली की प्रधानता फिर बढ़ गयी । प्रधानता बढ़ने का कारण गुप्तशासक चन्द्रगुप्त प्रथम का लिच्छवियों के साथ वैवाहिक संबंध से है। चन्द्रगुप्त के शासनकाल (319–350 ई0) की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना गुप्तों तथा लिच्छवियों के बीच वैवाहिक संबंध की स्थापना है । लिच्छवियों का सहयोग और समर्थन प्राप्त करने के लिए गुप्तों ने लिच्छवी राजकुमारी कुमारदेवी के साथ विवाह किया । इस वैवाहिक संबंध की पुष्टि दो प्रमाणों से होती है –

1) एक प्रकार के स्वर्ण सिक्के जिन्हें चन्द्रगुप्त–कुमारदेवी प्रकार, लिच्छवि प्रकार, राजा–रानी प्रकार, विवाह प्रकार आदि विभिन्न नामों से जाना जाता है। इस प्रकार के लगभग 25 सिक्के गाजीपुर, टांडा (फैजाबाद), मथुरा, वाराणसी, अयोध्या, सीतापुर तथा बयाना से प्राप्त हुए हैं।

उपर्युक्त सिक्कों के मुख भाग पर चन्द्रगुप्त तथा कुमार देवी की आकृतियॉ उनके नामों के साथ–साथ अंकित है और पृष्ठभाग पर सिंहवासिनी देवी के साथ–साथ मुद्रालेख 'लिच्छवय' उत्कीर्ण है।

2) समुद्रगुप्त के प्रयाग अभिलेख में उसे 'लिच्छवि' दौहित्र (लिच्छवि कन्या से उत्पन्न) बताया गया है ।[58]

इस वैवाहिक संबंध के फलस्वरुप चन्द्रगुप्त ने लिच्छवियों का राज्य प्राप्त कर लिया तथा मगध एवं उसके समीपवर्ती क्षेत्र का सर्वभौम शासक बन बैठा ।[59] लिच्छवियों की सामाजिक कुलीनता के कारण ही गुप्तों को लिच्छवि रक्त पर गर्व था ।[60] ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय लिच्छवियों के दो राज्य थे :–

1) बैशाली का राज्य
2) नेपाल का राज्य

वैशाली उनका प्राचीन राज्य था तथा नेपाल में उन्होंने प्रथम अथवा द्वितीय शती के लगभग अपना दूसरा राज्य स्थापित कर लिया था । कुमार देवी के साथ विवाह कर चन्द्रगुप्त प्रथम ने वैशाली का राज्य प्राप्त कर लिया था । प्रयाग प्रशस्ति में इस राज्य का उल्लेख गुप्तों के प्रत्यन्त राज्य के रुप में किया गया है। लिच्छवियों का पहले एक सुप्रसिद्ध गणराज्य था । संभव है कि इस समय तक उनकी शासन व्यवस्था राजतंत्रात्मक हो गई हो तथा कुमार देवी लिच्छवि राज्य की उत्तराधिकारी रही हों । यही कारण है कि चन्द्रगुप्त प्रथम को उसका राज्य प्राप्त हो गया ।[61] चन्द्रगुप्त और क़ुमार देवी के विवाह के उपर एक टिप्पणी है कि "अपने महान पूर्ववर्ती शासक बिम्बिसार की भांति चन्द्रगुप्त ने लिच्छवि राजकुमाऱी कुमार देवी के साथ विवाह कर द्वितीय मगध साम्राज्य की स्थापना की।"[62]

कुमार देवी के विवाह और तत्कालीन लिच्छवियों के प्रभाव से यह पता चलता है कि उस समय तक लिच्छवीगण पुनः अपनी राजधानी में एक शक्तिशाली राष्ट्र के रुप में स्थापित हो चुके थे ।[63] इस संभावना की गुंजाइश भी है । मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद शायद लिच्छवियों ने पाटलिपुत्र की कमजोरियों से लाभ उठाकर अपने को स्वतंत्र और मजबूत कर लिया । यदि वे लोग शक्तिशाली न होते तो चन्द्रगुप्त उनकी सहायता से साम्राज्य की स्थापना न कर सकता ।[64] मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद लिच्छवि में राजतंत्र कायम हो गया था या मिथिला वज्जि गणतंत्र से अलग हो गया था, किसी भी प्रकार की कोई जानकारी नहीं मिलती है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय के काल में गुप्त तिरभुक्ति साम्राज्य की अनेक भुक्तियों में से एक थी ।[65] अनेक भुक्तियॉ थी – पुण्ड्रवर्द्धन भुक्ति (उत्तर बंगाल), नगर भुक्ति (दक्षिण बिहार), श्रावस्ती भुक्ति (अवध प्रदेश), अहिक्षेत्र (रोहिल खंड) आदि। उनका शासन सम्राट के प्रतिनिधि राजकुमार द्वारा होता था । ये सभी गंगा घाटी

में अवस्थित था ।[66] 1903–04 में बसाढ़ उत्खनन के दौरान प्राप्त शासकीय मुहरों से अनुमान किया जाता है कि वैशाली में गुप्तकालीन भुक्ति प्रशासन का प्रधान रहता था ।[67] एक मोहर 'श्री घटोत्कचगुप्तस्ये' नाम का मिला है ।[68] बसाढ़ के मुहरों से तत्कालीन तिरभुक्ति के प्रन्तीय शासन, नगर–निगम, व्यापारिक संगठन के विषय में जानकारी मिलती है । मोहर संख्या एक में 'महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त पत्नी महादेवी श्री ध्रुवस्वामिनी' वाक्य अंकित है । चन्द्रगुप्त द्वितीय और महादेवी ध्रुवस्वामिनी से उत्पन्न पुत्र गोविंदगुप्त प्रान्त का शासक था । इसका मुख्यालय वैशाली था ।[69] यह भी जानकारी मिलती है कि कुमारगुप्त प्रतिनिधि था पर मुख्यालय में रुके रहने के कारण उसका भाई गोविंदगुप्त प्रशासनिक कार्य उसके नाम पर करता था ।[70] इसकी पुष्टि कई महत्वपूर्ण स्त्रोतों से की गई है।[71] तिरभुक्ति प्रान्त का वास्तविक शासक कौन था, इस संबंध में यहाँ ऐसा लगता है कि गोविंदगुप्त और कुमार गुप्त के बीच स्पष्ट नहीं हैं। प्रतिनिधि और प्रान्तीय शासक के सम्बन्ध में मेरी मान्यता है कि तिरभुक्ति वही क्षेत्र है जो लिच्छवियों से भावनात्मक रूप से जुड़ा हुआ था और यहाँ संभावना बनती है कि लिच्छवी राजकुमार अपने पुत्र गोविन्द गुप्त को ही यहाँ का प्रान्तीय शासक बनाया होगा।

गुप्त साम्राज्य भुक्ति या प्रान्तों में विभक्त होता था । गुप्त अभिलेखों से नौ प्रमुख भुक्तियों का उल्लेख मिलता है[72] –

1) पुण्ड्रवर्धन भुक्ति (उत्तरी बंगाल और पूर्वी बिहार)
2) वर्धमान भुक्ति (बंगाल और उड़ीसा)
3) तिरभुक्ति (उत्तरी बिहार), (कोशी अंचल को छोड़कर)
4) श्रावस्ती भुक्ति (उत्तर प्रदेश का पूर्वी उत्तरी भाग)
5) अहिच्छत्र भुक्ति (उत्तर प्रदेश)
6) मालवा (मध्यप्रदेश)
7) सौराष्ट्र (गुजरात)
8) नव्यावकाशिक भुक्ति (राजस्थान)
9) श्री भुक्ति (मगध) ।

इनके अतिरिक्त पश्चिमोत्तर भारत भी किसी प्रांतीय के अधीन रहा होगा।[72]

वैशाली की खुदाई में गुप्तकालीन तिरहुत की शासन व्यवस्था पर काफी प्रकाश पड़ता है। प्रान्तीय शासन का यह एक केन्द्र था और यह तिरभुक्ति कहलाता था ।[73] बसाढ़ की खुदाई से हमें गुप्तकालीन तिरभुक्ति के प्रान्तीय

प्रशासन के शासन व्यवस्था पर काफी प्रकाश पड़ता है, जो वैशाली और मिथिला की प्रांतीय राजधानी थी ।[74]

"श्रेष्ठी सार्थवाह कुलिक निगम" युक्त मोहर के मिलने से यह कहा जा सकता है कि गुप्तवंश में तिरभुक्ति केवल शासन का ही नहीं वरन व्यापार का भी एक प्रमुख केन्द्र था।[75] यह मोहर इस तथ्य का द्योतक है कि व्यवसायियों का अपना प्रमाणित निगम था , जिसके द्वारा उनका कारोबार देश एवं विदेश में चलता था ।[76]

वैशाली की खुदाई से प्राप्त गुप्तकालीन मोहरों में से अनेक शासकीय पदाधिकारियों के पद की संज्ञावाली मोहरें हैं ।[77] इनमें तिरहुत से संबंधित प्रमुख शासन कर्मचारियों के पद वाले नाम हैं ।[78]

1) तिरभुक्त्युपटिकाधिकरण
2) तिरभुक्तौ विनयस्थिति स्थापकाधिकरण
3) वैशाल्याधिष्ठानाधिकरण आदि ।

उपर्युक्त मोहरों में उत्कीर्ण प्रयोगों से पता चलता है कि तिरहुत सरकार (वैशाली सरकार) के कार्यालय एवं सम्राट की सरकार (केन्द्र सरकार) के कार्यालय पृथक–पृथक थे और उनके पदाधिकारियों की मोहर भी भिन्न–भिन्न थी ।[79]

वैशाली में भी अलग नगर शासन व्यवस्था थी । गुप्त युग में ही प्रसिद्ध चीनी यात्री फाहियान आया था । वैशाली के बौद्ध केन्द्र होने के नाते वह वहाँ भी आया था । फाहियान के यात्रा विवरण से वैशाली के महत्व का पता चलता है ।[80]

चन्द्रगुप्त द्वितीय ने 375 से 414 ई0 तक शासन किया । इसके पश्चात् उसके पुत्र कुमार गुप्त (414–455 ई0) तथा पौत्र स्कन्दगुप्त (455–467 ई0) के शासनकाल में तिरहुत सरकार पर गुप्तों का शासन पूर्ववत बना रहा । स्कन्दगुप्त के बाद उसका विमाता पुत्र पुरुगुप्त वृद्धावस्था में गुप्त सिंहासन पर बैठा । उसी के काल में गुप्त साम्राज्य का ह्रास दृष्टिगोचर होने लगा । पुरुगुप्त के पश्चात् ह्रासोन्मुख गुप्त साम्राज्य सिंहासन पर क्रमशः नरसिंह गुप्त, कुमार गुप्त द्वितीय, बुद्धगुप्त और भानुगुप्त बालादित्य के पश्चात् ब्रज, तथागत, विष्णुगुप्त, चन्द्रादित्य, वैन्यगुप्त द्वादशादित्य आदि गुप्तकुल में भूपति हुए ।[81]

भानुगुप्त बालादित्य के समय में गुप्त–शक्ति का कुछ काल के लिए पुनरुत्थान हुआ । इसी के शासनाकाल में हूणों के नेता तोरमाण ने 500 और

510 ई0 के बीच भारत पर आक्रमण किया तथा मालवा को अपने अधिकार मे कर लिया। भानुगुप्त बालादित्य के काल तक मिथिला का संबंध गुप्त साम्राज्य के साथ बना रहा था । इसके बाद गुप्तों का आधिपत्य मिथिला पर रहा अथवा नहीं इसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त नहीं है । गुप्तों का सामंत यशोधर्मन ने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर युद्धों के द्वारा गुप्त साम्राज्य के शासित प्रदेशों को स्वायत्त करना आरंभ कर दिया । हुणों के आक्रमण की आशंका के बीच वह तात्कालिक उत्तेजक कारण बन गया ।[82]

यशोधर्मन ने गुप्त साम्राज्य के एक बहुत बड़े अंश पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया और हूण–राज मिहिरकुल को पराजित किया । मिहिरकुल को भानुगुप्त बालादित्य ने भी पराजित कर बंदी बनाया था, जिसक अनुमोदन ह्वेनसांग के यात्रा–वृतांत तथा कल्हण के राजतरंगिणी से होता है।[83]

यह संभावना बनती है जब मिहिरकुल को पराजित किया गया तो शासक भानुगुप्त बालादित्य रहा होगा और यशोधर्मन सहयोगी रहा होगा चूँकि वह सामंत था।

मंदसौर प्रशस्ति स्तम्भ लेख के अनुसार यशोधर्मन के विशाल साम्राज्य की उत्तरी सीमा पर हिमालय पर्वत तथा दक्षिणी सीमा पर उड़ीसा के गंजाम जिले का महेन्द्र गिरि था । पूर्व में ब्रह्मपुत्र नदी बहती थी और पश्चिम में अरब सागर लहरा रहा था ।[84] मन्दसौर प्रस्तर स्तम्भ–उत्कीर्ण–अभिलेख काल के लगभग 10 वर्षों के पश्चात् उत्तर बिहार में प्राप्त 543 ई0 का एक भूदान प्रमाणित करता है कि उस काल में वहाँ "गुप्त–परम–भट्टारक महाराजाधिराज पृथ्वीपति" का प्रतिनिधि शासक (उसका पुत्र) शासन करता था और उसी ने दान दिया था ।[85] इस दानपत्र में अन्तिम दो अक्षर गुप्त के अतिरिक्त सम्पूर्ण नाम के अक्षर मिटे हैं। 'गुप्त' विरुद से अनुमान किया जाता है कि वह गुप्तकाल का भूप था । संभवतः वह कुमार गुप्त द्वितीय का पुत्र और नरसिंह गुप्त का पौत्र विष्णुगुप्त था ।[86] इससे ज्ञात होता है कि यशोधर्मन की विजय से कुछ ही काल पश्चात् पूर्व भारत के गुप्तों के साम्राज्य पर पुनः गुप्तों का आधिपत्य स्थापित हो गया, क्योंकि मन्दसौर प्रशस्ति के अनुसार ब्रह्मपुत्र नदी के तट के पूरे प्रदेशों पर यशोधर्मन का आधिपत्य हो चुका था ।[87]

यशोधर्मन का आधिपत्य कुछ समय के लिए मिथिला पर हुआ होगा पर वह स्थिर नहीं रह सका । यशोधर्मन की विजय के तुरंत बाद ही इस (पूर्वी) क्षेत्र में पुनः गुप्तवंशीय प्रतिनिधि शासक संभवतः विष्णुगुप्त का शासन स्थापित हुआ और

यह भी संभावना है कि परवर्ती गुप्त राजवंश ने मिथिला के क्षेत्र पर शासन किया हो ।

परवर्ती गुप्त काल का प्रतिष्ठाता कृष्णगुप्त था । परवर्ती गुप्तवंश 530 ई0 के आसपास कभी स्थापित हुआ । उसके उत्तराधिकारी क्रमशः हर्षगुप्त और जीवितगुप्त हुए । ऐसा लगता है कि गुप्त सम्राटों के शासन के अन्तिम चरण में उनके विद्यमान रहते ही जीवित गुप्त का पुत्र कुमार गुप्त III ने ईशानवर्मन मौखरी को पराजित कर उसके राज्य का कुछ अंश अपने राज्य में मिला लिया। कुमार गुप्त III के पश्चात् दामोदरगुप्त मगध के राजसिंहासन पर बैठा। मौखरियों के साथ हुए युद्ध में उसका पराभव हुआ और मौखरियों ने मगध साम्राज्य के बहुत बड़े क्षेत्र पर अपना आधिपत्य स्थापित किया । मागध गुप्तों ने मगध का त्याग कर मालवा की शरण ली। दामोदरगुप्त के पुत्र महासेन गुप्त ने हर्षचरित के वर्णनानुसार मालवा जाकर वहाँ एक नये गुप्त राजकुल की नींव दी। इस नवीन गुप्त कुल की प्रतिष्ठा मगध में हो चुकी थी । मगध के परवर्तीगुप्त शासन एवं कन्नौज के मौखरी राजवंश में आपसी प्रतिस्पर्धा के लिए संघर्ष हुआ। प्रतिस्पर्द्धा के संघर्ष के परिणामस्वरुप मिथिला पर आधिपत्य कभी परवर्ती गुप्त राजकुल का रहा, कभी मौखरियों का और कभी गौड़ के राजा शशांक का और फिर थानेश्वर के पुष्यभूति वंश के हर्षवर्द्धन का । उत्तर भारत के पूर्वी हिस्से की राजनीतिक स्थिति स्थिर नहीं थी ।[88] इस प्रकार गुप्तों की मिथिला पर मौखरियों का आधिपत्य हुआ, इतिहास बताता है।[89]

गुप्त युग में ही प्रसिद्ध चीनी यात्री फाहियान का आगमन हुआ था । यहाँ उसने 6 वर्ष तक अध्ययन किया । तीन वर्ष तक वह पाटलिपुत्र में रहकर संस्कृत सीखा, जो पालि भाषा के प्रयोग के बाद आया था ।[90] छठीं शताब्दी में दूसरा चीनी यात्री बांग हुएन टीसी दो बार वैशाली आया और उसने अपनी दूसरी यात्रा में बौद्ध महात्माओं को पोशाक दान दिया था ।[91] इसने टीएल–लो नामक स्थान को तिरहुत कहा है ।[92] उसी शताब्दी में तीसरा चीनी यात्री सुंग–युंग आया । उसके वर्णन में 40 देशों का उल्लेख है जिसमें टीएल–लो नामक एक स्थान था, जिस पर हुणों का आधिपत्य कहा गया है। कुछ लोग इसे आधुनिक तिरहुत कहते हैं। टीएल–लो से तिरहुत समझना सन्देहात्मक हैं, कारण तिरहुत पर हुण साम्राज्य के प्रभाव का कोई भी प्रमाण अभी तक नहीं है। दूसरी बात यह है कि इसका समर्थन अभी तक और किसी दूसरे साधन से नहीं हो सका है ।[93] 635 ई0 में ह्वेनसांग ने तिरहुत की यात्रा की और बौद्ध धर्म के ह्रासोन्मुख रुप को

देखा। दिगम्बर जैन साधुओं के पर्याप्त संख्या को वैशाली, पुण्ड्रवर्धन तथा सौमात्रा में देखा। ब्राह्मण धर्म फिर से सुदृढ़ हो रहा था । मिथिला, काशी और प्रयाग महत्वपूर्ण ब्राह्मणवादी केन्द्र थे । हुएनसांग ने भारत को (पो–लो–में– कुओं) ब्राह्मणों का देश कहा तथा वाणभट्ट ने भी यहाँ के निवासियों को कपिल, कणाद, उपनिषद, वेदान्त मार्ग का अनुयायी बताया ।[94]

चीनी यात्री हुएनसांग के अतिरिक्त कई अन्य चीनी यात्री बिहार आए । उत्तरी बिहार में भी कुछ महत्वपूर्ण धार्मिक केन्द्र थे जहाँ अपनी श्रद्धा प्रदर्शित करने के लिए चीनी यात्री एकत्र होते थे । इन केन्द्रों में 'सिनचे' मन्दिर सर्वाधिक महत्वपूर्ण केन्द्र था जहाँ चार चीनी यात्री आकर रहे थे । ह्वेन सांग के अतिरिक्त निम्नलिखित चीनी यात्री बिहार आये थे –

1) ह्वेन–चिउ (प्रकाशमणि नाम से ज्ञात) – सिनचे तथा अन्य मंदिरों में रहा था और नेपाल तथा तिब्बत के रास्ते लौट गया।
2) ताओ–हि (श्री देव) कुशी देश में रहा था।
3) सिन्–चिउ (चरित वर्मा) सिनचे मंदिर में निवास किया था।
4) चिंग–हिंग (प्रजादेव) सिनचे मंदिर का निरीक्षण किया था।
5) तांग – वैशाली तथा कुशी देश की यात्रा की थी।
6) द्वीन–लुन – (प्रज्ञावर्मा) सिनचे मंदिर आया था।[95]

सिनचे मंदिर के वास्तविक स्थल की ठीक–ठीक जानकारी अब तक नहीं हो पायी है। यह अनुमान किया जा सकता है कि यह मन्दिर वैशाली और कुशी देश के बीच में कहीं अवस्थित था । यह एक महत्वपूर्ण बौद्ध मन्दिर रहा होगा। सुदूर पूर्व के देशों के यात्री इस देवालय में एकत्र होते थे और धार्मिक उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त ठहरते थे । ऐसा प्रतीत होता है कि यह सिनचे मन्दिर एक महत्वपूर्ण विद्या–केन्द्र था जो पश्चात् पाल–शासन काल में एक बिहार के रुप में परिवर्तित हो गया ।[96] सातवीं शताब्दी में इत्सिंग नामक चीनी यात्री मिथिला और वैशाली का भ्रमण किया ।[97]

सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हर्षवर्द्धन नामक शासक हुआ । हर्षवर्द्धन के शासन काल में राजसत्ता कन्नौज में केन्द्रीभूत हूई। यहाँ धार्मिक महत्ता वैशाली से स्थानान्तरित हुई और राजनीतिक एवं प्रशासनिक महत्ता पाटलिपुत्र से । हर्ष ने कन्नौज में एक बौद्ध महासभा का आयोजन किया । हर्ष ने 606 ई0 से 646 अथवा 647 ई0 तक शासन किया । ह्वेनसांग के अनुसार हर्ष ने पूर्व की ओर बढ़कर उन राज्यों पर आक्रमण किया, जिन्होंने उसका आधिपत्य स्वीकार नहीं

किया था । उसने पंच भारत (गौड/इंडिया) को अपने अधीन कर लिया । ये पांच भारत उत्तर भारत के पॉच भौगोलिक इकाई थे। यथा –

1) सारस्वत मंडल (कश्मीर–पंजाब)
2) गौड़ (दिल्ली के आस–पास)
3) कान्यकुब्ज (सम्पूर्ण उत्तरप्रदेश, दक्षिण में विन्ध्य तक तथा बिहार)
4) मैथिल (पूर्वोत्तर बिहार, बंगाल तथा आसाम) तथा
5) उत्कल (बिहार का दक्षिणी छोड़, उड़ीसा–कलिंग)[98]

ऐहोल प्रशस्ति में पुलकेशिन द्वितीय को "समर संसक्त सकलोत्तरापथेश्वर श्री हर्षवर्द्धन पराजयोपलब्ध– परमेश्वरायरनामध्येः" कहा गया है क्योंकि पुलकेशिन द्वितीय को हर्षवर्द्धन के विरुद्ध हुई युद्ध में सफलता मिली थी । उत्तर भारत को जीतकर हर्ष ने उत्तर भारत में एक राष्ट्र की स्थापना की।[99] उत्तर भारत की सभी दिशाओं के राजाओं को दंडित किया तथा 641 ई0 में मगध के महाराज की उपाधि धारण की ।[100] गुप्त साम्राज्य की तरह हर्ष के साम्राज्य में भी भुक्ति और विषय का विभाजन था ।

सातवीं शताब्दी में प्रसिद्ध विद्वान चीनी यात्री ह्वेनसांग तिरहुत आया था। उसने अशोक द्वारा निर्मित स्तूप का उल्लेख किया है । ह्वेनसांग के समय तिरहुत हर्षवर्द्धन के राज्य में था और अर्जुन यहॉ का गवर्नर था । सातवीं शताब्दी में ही इत्सिंग नामक चीनी यात्री ने भी तिरहुत का भ्रमण किया ।[101]

हर्षवर्द्धन के मरने के बाद अराजकता आई । हर्ष के मरने के बाद उसका कोई उत्तराधिकारी नहीं था । अपनी मृत्यु के पहले उसने अपने दूत चीन भेजे थे, जिसके जबाब में चीनी सम्राट के दूत उसकी मृत्यु के बाद भारत पहॅुचे ।[102] कहा जाता है कि अरुणाश्व अथवा अर्जुन ने हर्ष की मृत्यु की पश्चात् चीन सम्राट द्वारा हर्षवर्द्धन के पास भेजे गये द्वितीय दूत मंडल को अपमानित किया । उस दूत मंडल का नेतृत्व वांग– हुएन–त्से कर रहा था ।[103] अर्जुन ने उन्हें सताया और वे भागकर नेपाल की शरण में गए । नेपाल और तिब्बत के राजाओं ने चीनी दूत की मदद की और एक बड़ी सेना के साथ तिरहुत पर आक्रमण किया और अर्जुन से बदला लिया । यह घटना 647 ई0 पू0 के बाद हुई और तब से शायद तिब्बत का प्रभाव उत्तरी बिहार पर 70 वर्ष तक रहा । कहा जाता है कि चीनी दूत अर्जुन को गिरतार कर चीन ले गए । तिरहुत एवं नेपाल के इतिहास में यह एक महत्वपूर्ण घटना है ।[104] ऐसा अनुमान किया जाता है कि शशांक और

भास्करवर्मन ने भी तिरहुत पर राज्य किया । भास्करवर्मन के राज्य के प्रमाण में निर्धनपुर शिलालेख का उल्लेख किया जाता है ।[105] 703 ई0 में तिरहुत नेपाल और तिब्बती प्रभाव से मुक्त हुए ।[106] उसके बाद से फिर तिरहुत का इतिहास अंधकारमय है । सम्पूर्ण पूर्वी हिन्दुस्तान का इतिहास ही इस समय अंधकारमय कहा जा सकता है, किन्तु फिर भी तिरहुत को छोड़कर बिहार के और सभी भागों का इतिहास के विषय मे कोई जानकारी प्राप्त करने का कोई साधन भी नहीं है। संभवतः तिरहुत उस समय शायद स्वतंत्र रुप से अपना शासन चलाता होगा और अर्जुन के बाद किसी खास वंश का राज्य वहॉ रहा होगा। इसका कुछ आभास लामा तारानाथ के लेखों से मिलता है, किन्तु उसकी वास्तविकता पर विश्वास करना अभी गलत होगा ।[107]

हर्षवर्द्धन की मृत्यु के पश्चात् उत्तरी हिन्दुस्तान में विभिन्न राज्यों का उत्थान हुआ। कन्नौज पर आधिपत्य जमाने के लिए एक विशाल संघर्ष शुरु हुआ। केन्द्रीय सत्ता जाती रही। प्रत्येक राष्ट्र अपना आधिपत्य जमाने की कोशिश करने लगा और उत्तरी हिन्दुस्तान में लड़ाइयो का समा बंध गया । 9वीं शताब्दी में पाल, प्रतिहार और राष्ट्रकूट वंशों के बीच लड़ाई शुरु हो चुकी थी और इसका प्रधान क्षेत्र बिहार ही था। मुंगेर में उस समय उत्तर भारतवर्ष का भाग्य निर्णय हो रहा था। दसवीं शताब्दी के प्रारंभ में जेजाकभुक्ति के चंदेलों ने मिथिला पर आक्रमण किया था।[108] यह प्रश्न भी विवादास्पद है ।[109]

9वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और दशम शताब्दी के पूर्वार्द्ध में गण्डक और सोन नदियॉ प्रतिहार और पालों की राज सीमाएं थी । प्रतिहार भोज और महेन्द्रपाल ने शायद तिरहुत पर आक्रमण किया था । उस समय तिरहुत पर पाल राजाओं का कोई अधिकार था या नहीं यह कहना कठिन है, किन्तु नारायण पाल के भागलपुर लेख से पता चलता है कि पाल राजा ने तिरहुत में कुछ गॉव शिव मंदिर को चलाने के लिए दिए थे । जो कुछ भी हो, यह सब कुछ नारायण पाल के राज्य के 17वें वर्ष तक हुआ होगा, क्योंकि यह लेख उसी वर्ष का है ।[110]

नारायण पाल के समय पालों ने अपने बहुत से प्रदेश खो दिए थे । प्रतिहार राजा भोज प्रथम के ग्वालियर अभिलेख से ज्ञात होता है कि भोज प्रथम ने बंगाल पर आक्रमण करके गौड़ राजा को परास्त कर दिया था ।[111] यह गौड़ राजा संभवतः नारायणपाल ही था ।[112] मगध भी कुछ समय के लिए प्रतिहारों के अधीन चला गया था,[113] परन्तु नारायणपाल के सातवें वर्ष में गया,[114] 17वें वर्ष में मृदगलगिरि, तिरभुक्ति अथवा मिथिला उसके अधिकार में थे ।[115]

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह तो कहा ही जा सकता है कि नारायणपाल (852–902 ई0) के काल में मिथिला पाल साम्राज्य के अंतर्गत था, पर मिथिला पर पालों का आधिपत्य कब स्थापित हुआ, अस्पष्ट है ।

नारायण पाल (845–909 ई0) के भागलपुर ताम्रपत्र में इसका सविस्तार वर्णन है कि पालों की सेना में गौड़ लोगों के साथ ही अन्य लोग थे, ये हैं–खश, मालव, हूण, कुलर्क, कर्नाट और लाट । इस सूची में राजपूतों और मराठों के नाम नहीं हैं । इसका कारण है कि राजपूत लोग कन्नौज के प्रतिहारों की सेना में रहते थे तथा मराठे अपने ही प्रान्त के राष्ट्रकूटों की सेना में। अब इन्हें अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं होती थी । इससे स्पष्ट है कि यह वर्णन वास्तविकता पर ही आधारित है । यह क्रम बराबर चलता ही रहा होगा ।[116] दशम् शताब्दी के पूर्वार्द्ध में यशोवर्मा चंदेल ने मिथिला पर आक्रमण किया और शायद पूर्णिया तक अपना आधिपत्य बढ़ाया । मैथिल परंपरा के अनुसार उसी समय परमार भोज का भी प्रभाव पड़ा था । मैथिल अनुश्रूतियों में परमार भोज को विक्रमादित्य कहा गया है । 10वीं शताब्दी में एक बार बौद्ध संघ और मैथिलों के बीच हरिहर क्षेत्र में शास्त्रार्थ हुआ, जिसमें मैथिलों का अपमान हुआ । मैथिलों ने तब विक्रमादित्य को अपने यहाँ बुलाया । उनके साथ ही राजपूतों का प्रवेश मिथिला में हुआ ।[117]

चन्देलों की शक्ति मंद पड़ने के बाद पुनः दूसरी शक्तियॉ सिर उठाने लगीं। महिपाल प्रथम के नेतृत्व में पाल–वंश का पुनरुत्थान हो रहा था ।[118] महीपाल प्रथम के सिंहासनारोहण के समय पाल राजाओं की शक्ति संकुचित हो गई थी। वे अपने पैतृक राज्य को खो चुके थे । महीपाल प्रथम ने अपने क्षीण होते हुए साम्राज्य की बागडोर संभाली तथा अपने पैतृक साम्राज्य का पुनरुद्धार किया।[119]

धीरे–धीरे उसने उत्तर–पूर्वी बंगाल तथा उत्तरी और दक्षिणी बिहार पर भी अधिकार कर लिया । बंगाल और बिहार से प्राप्त उसके अभिलेखों से इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है । राजेन्द्र चोल ने महीपाल को परास्त कर दिया और दक्षिण राधा, दण्ड भुक्ति और बंगाल स्वतंत्र हो गए तथा महीपाल प्रथम का उत्तरी बंगाल में प्रभाव कुछ कम हो गया । सारनाथ अभिलेख से प्रमाणित होता है कि बनारस महीपाल प्रथम के अधीन था परन्तु उसके शासन के अन्त तक बनारस कल्चुरी राजा गांगेयदेव के अधिकार में चला गया । अतः बंगाल, बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश का कुछ भाग एक समय में उसके अधिकार में थे ।[120] चंदेल वंश के बाद मिथिला स्वतंत्र हो गया था ।[121]

चन्देल राजा यशोवर्मन का राज्यकाल लगभग 928 ई0 से 950 ई0 तक रहा। 945 ई0 का इनका एक शिलालेख खजुराहो में मिला है । उनमें (माता–पिता का नाम पूर्व श्लोक में) राजाओं के कुल का तिलक श्री यशोवर्मन राजा उत्पन्न हुए जो गौड़क्रिड़ा लता हेतु तलवार, खशों के बल को तौलने वाले, केशलों का कीश लेने वाले, कश्मीर के वीरों का नाश करने वाले, मिथिला को शिथिल कहने वाले, मालवों के लिए काल, चेदि (कलचुरी) हेतु......, कुरू रूपी वृक्ष हेतु आँधी, गुर्जरों के लिए कठिन ज्वर हुए। उपर्युक्त उदाहरण से तो प्रतीत होता है कि यशोवर्मा भी हर्षवर्धन के समान उत्तरा पथनाथ हो गए थे । किन्तु एक बात ध्यान देने योग्य है कि इस काल में मिथिला नगरी को लुप्त हुए कई शती हो गए थे । अतः यहाँ मिथिला का प्रयोग जनपद के अर्थ में ही किया गया है, यह प्रथम बार ही हुआ है । पहले तो यह शंकास्पद था कि विदेह (मिथिला) जनपद उनके अधिकार में था या नहीं। किन्तु इनके उपरान्त जो तथ्य मिलते हैं उनसे यह निश्चित है कि यह कहना सत्य है ।[122]

यशोवर्मा के उत्तराधिकारी धांग हुए। संयोग से, उनके कई शिलालेख मिलते हैं जिनमें तीन के दिनांक निर्विवाद हैं । इनका राज्यकाल लगभग 950 ई0 से 1000 ई0 तक रहा । 998 ई0 के एक शिलालेख में इन्हें हम्मीरदेव के समान कहा गया है । इसमें लाहौर के राजा की सहायता में सिन्धु के पश्चिम क्रमु के निकट सबस्तगेन से युद्ध करने का संकेत मिलता है । यह युद्ध 989 या 990 ई0 में हुआ था । फरिस्ता ने लिखा है कि लाहौर के राजा जब जयपाल की सहायता से अन्य राजाओं के साथ कालिंजर के राजा ने भी सेना और धन से सहयोग किया था। इस युद्ध में फरिस्ता के अनुसार हिन्दुओं की हार हुई थी । किन्तु फरिस्ता बहुत बड़ा असत्य लेखक है । वास्तव में यह युद्ध मात्र टक्कर का रहा । धांग का राज्य काल लगभग आधी सदी तक रहा । 1002 ई0 के एक शिलालेख में इनकी मृत्यु का सजीव वर्णन किया गया है कि किस प्रकार इन्होंने प्रयाग के संगम पर देह त्याग किया ।[123]

विदेह जनपद पर विचार करने से कुछ जानकारी मिलती हैं यथा –

1) मात्र मधुबनी जिला में दरभंगा–जयनगर पथ पर कलुआही चौक से सटे एक ग्राम है ढंगा। राजकीय अभिलेख में इसका नाम है धांग।
2) दरभंगा जिला के घनश्यामपुर प्रखण्ड में एक ग्राम है ढंगा ।
3) सीतामढ़ी–बैरगिनियाँ रेलमार्ग पर एक स्टेशन है ढेंग। रेलमार्ग अभिलेख में इसका नाम है धांग। ये तीनों ग्राम चन्देल राजा

धांग के नाम पर ही हैं । अन्यथा इनकी कोई अन्य व्युत्पत्ति नहीं होती । ये तीनों परस्पर कोशों दूर हैं । अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि धांग का राज्य विदेह जनपद पर रहा तथा यशोवर्मन की अध्यर्थना में वास्तविकता है ।

धांग के उत्तराधिकारी गण्ड हुए । इनका राज्य काल लगभग 1000 ई0 से 1020 ई0 पर्यन्त है । रहिका–पुपरी मार्ग पर एक ग्राम है, शिवनगर । जहाँ एक प्राचीन शिव मन्दिर है जिनका नाम है गाण्डेश्वर । निश्चय ही शिव के नाम पर ही ग्राम का नाम शिवनगर हुआ होगा । साथ ही चण्देल राजा गण्ड द्वारा स्थापित हुआ होगा । अब कुछ लोग इसे गाण्डीवेश्वर कहने लगे हैं । ये कहते हैं कि वनवास काल में पाण्डव ने यहीं अपना अस्त्र–शस्त्र रखा था और अर्जुन के गाण्डीव के नाम पर ही यह नाम हुआ । यह इस बात का ही अंग है कि इस क्षेत्र के लगभग सभी ग्राम अपने नाम को रामायण या महाभारत से जोड़ते हैं ।[124]

उपर्युक्त तथ्यों से ज्ञात होता है कि यशोवर्मन से गण्ड पर्यन्त विदेह पर चन्देलों का राज्य रहा होगा। यह काल लगभग 930 से 1020 ई0 पर्यन्त रहा। अपने शोध अन्वेषण के दौरान इन क्षेत्रों (कलुआही ढंगा, गाण्डीवेश्वर, शिवनगर आदि) का भ्रमण किया। कलुआही स्थित ढ़ंगा हरिपुर बख्शी टोल मेरा गाँव है और अपने गाँव के इर्द–गिर्द मुझे कोई भी पाषाण प्रतिमाएं नहीं मिली पर ऐसे कई डीह मिले जो उपेक्षित और विनष्ट हो चुके हैं। मृदभांड के टुकड़े ढ़ंगा के करीव नरही, मुरेठ आदि स्थलों से आंशिक रूप से मिली। इन क्षेत्रों का उत्खनन एवं सर्वेक्षण कर पूर्व मध्यकालीन स्थलों की पहचान इस क्षेत्र में की जा सकती है, गाण्डीवेश्वर (शिवनगर) से प्राप्त काले पत्थर की प्रतिमाएं पूर्वमध्यकालीन दृष्टिगोचर होती है।

चन्देलों के उपरान्त कलचुरियों ने विदेह पर अधिकार कर लिया। मुजफ्फरपुर जिला में बेनीवाद कटरा पथ पर एक ग्राम हैं गंगेया। यह कलचुरी राजा गंगेयदेव के नाम पर ही है। एक ही क्षेत्र में एक नाम के अनेक ग्राम होते हैं तो एक को दूसरे से भिन्न बतलाने हेतु विशेषण रूप में कुछ जोड़ दिया जाता है। कभी बगल के ग्राम का नाम, कभी इस ग्राम से पूर्व में हुए किसी अतिप्रसिद्ध व्यक्ति का नाम, कभी उस ग्राम के प्रमुख जाति के नाम आदि । सीतामढ़ी जिला में मेजरगंज प्रखण्ड में एक ग्राम है डुमरी। डुमरी नाम के इस क्षेत्र में अनेक ग्राम है। औरों से भिन्न बतलाने हेतु इसे कहते है कलचुरिया डुमरी। अर्थात् कलचुरियों की

डुमरी। इस ग्राम में अभी भी कलचुरी राजपूतों की बस्ती है। यह कलचुरी आक्रमण का साक्ष्य है। दरभंगा जिला के रतनपुर ग्राम में एक शिव स्थान है। नाम है गंगेश्वर, यह भी गंगेयदेव के नाम पर ही प्रतीत होता है।[125]

रामायण की एक नेपाली हस्तलिखित प्रति के अनुसार सम्वत् 1076 में एक सोमवंशोद्भवमहाराजाधिराज गांगेयदेव के शासन की बात कही जाती है । 1940 ई0 में इसकी दूसरी प्रतिलिपि महामहोपाध्याय मिरासी को लाहौर में मिली । दोनों में पाठ भेद है और लाहौर प्रतिलिपि में "गौड़ ध्वज" के स्थान पर "गरूड़ ध्वज" है। 1940 के पूर्व तक लोग कलुचरी गांगेयदेव मानते थे किन्तु 1942 में महामहोपाध्याय मिराशी ने बताया कि शायद राष्ट्रकूट वंश का कुछ प्रभाव मिथिला में रहा हो ।[126] किन्तु उनके निर्णय की अभी तक स्थिर नहीं समझा जाता है क्योंकि किसी भी कलुचरि लेख में मिथिला अथवा तिरहुत का उल्लेख नहीं मिला है। सम्वत् 1076 को विक्रम मानने के वजाय शक सम्वत् मानने से इसका निराकरण हो सकता है । तीसरी बात यह कि जहाँ कलुचरि लेखों में तिरहुत का कोई उल्लेख नहीं मिलता है; वहाँ पाल–लेखों से यह पता चलता है कि महिपाल प्रथम के 48 वें वर्ष तक तिरहुत उसके अधीन था ।[127]

महिपाल प्रथम का शासनकाल 974 से 1026 ई0 (52 वर्ष) तक था । इमादपुर (मुजफ्फरपुर) शिलालेख 48वें वर्ष का है जिसके आधार पर तिरहुत महिपाल के अधीन था। सारनाथ अभिलेख के अनुसार महिपाल के शासन के अन्त तक बनारस कल्चुरि राजा गांगेगदेव के अधिकार में चला गया । यह संभावना हो सकती है कि महिपाल के शासन के अंतिम समय में तिरहुत पर कलचुरि शासन स्थापित हुआ हो ।

महीपाल प्रथम ने मंदिर, बौद्ध स्मारक, बिहार, शहर, टैंक आदि का निर्माण और जीर्णोद्धार कराया । उसके निर्माण कार्यो, कुशल प्रशासन तथा बौद्ध धर्म के प्रति प्रगाढ़ अनुराग के कारण तिलोपाद अथवा तिलोपा, गौड़ के ज्ञानश्रीमित्र, अद्वयवज्र इत्यादि बौद्ध विद्वान उसके राज्य में आने लगे । देश के अन्य भागों से ही नहीं वरन् तिब्बत से भी बड़ी संख्या में बौद्ध विद्वान भारत आए । इसके शासन में दोनों देशों के विद्वानों का वैचारिक आदान–प्रदान हुआ ।[128]

इसी अवधि में भर लोगों ने भी विदेह के कुछ भाग पर अधिकार कर लिया। इसके अवशेष भरबारा, भराठी, भराम (भरगाम) आदि ग्राम है । पालवंशी रामपाल (1057–1102 ई0) ने भर लोगों को पराजित कर अपना राज्य विस्तार किया ।[129] महीपाल प्रथम के पुत्र नयपाल 1036–41 ई0 (15 वर्ष) ने कई बौद्ध कवियों जैसे

दीपंकर श्री ज्ञान अथवा अतीश, जेतारि, ज्ञानश्री मित्र आदि को अपने दरबार में संरक्षण दिया । इसने दीपंकर श्री ज्ञान अथवा अतीश को विक्रमशिला महाविहार के मुखिया का उच्च पद प्रदान किया ।[130] नयपाल ने बहुत से बौद्ध–विद्वानों को बौद्ध धर्म प्रचारार्थ तिब्बत भेजा।[131] इससे प्रतीत होता है कि उसके पिता महीपाल ने भारत–तिब्बत साहित्यिक आदान–प्रदान का जो सूत्रपात किया था । उसके पुत्र नयपाल ने उसे और आगे बढ़ाया।[132]

ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्वाद्ध में पाल राजाओं द्वारा तिब्बत से सांस्कृतिक तथा धार्मिक सम्बन्ध स्थापित हुए। तिब्बत से भारत आने वाले और भारत से तिब्बत जाने वाले बौद्ध भिक्षु संभावना है कि मिथिला होकर ही जाते रहे होंगे। यह संभावना हो सकती है कि पाल राजा के शासन क्षेत्र से तिब्बत जाने का वही रास्ता रहा होगा जो अर्जुन अरूणाश्व के शासन काल में था । फिर भी स्पष्टतया कुछ नहीं कहा जा सकता कि किस मार्ग से तिब्बती बौद्ध यात्री आते–जाते थे। तिब्बती बौद्ध यात्री मिथिला होकर आते थे । इस आधार पर या तो यह कहा जा सकता है कि मिथिला पर पालों का प्रभाव था या मिथिला के शासकों द्वारा वैचारिक आदान–प्रदान के लिए मार्ग के उपयोग करने की अनुमति दी गई थी।

नयपाल के पश्चात् उसका पुत्र विग्रहपाल तृतीय 1041–54 ई० (14 वर्ष) सिंहासनारूढ़ हुआ । उसने परमारों तथा चन्देलों को परास्त करके अपनी स्थिति को सुदृढ़ किया और महानदी उपत्यका को भी जीत लिया ।[133] इसके समय में पाल साम्राज्य क्षीण हो गया था । पूर्वी, पश्चिमी तथा दक्षिणी बंगाल तथा धीरे–धीरे मगध का कुछ भाग इसके अधिकार से चला गया था ।[134] परन्तु उत्तरी बंगाल और मगध से प्राप्त इसके अभिलेख वहाँ पर इसके शासन को सूचित करते हैं । यह परमेश्वर परम भट्टारक महाराजाधिराज उपाधि से विभूषित था ।[135] नौलागढ़ शिलालेख से यह सिद्ध होता है कि उत्तरी बिहार में क्रिमिला विषय (जिला) था। नौलागढ़ से प्राप्त लेख और सिक्के से यह सिद्ध होता है कि यहाँ पाल राजा विग्रहपाल तृतीय का शासन काल था ।[136]

क्रिमिला विषय का केन्द्र नौलागढ़ और इस विषय के क्षेत्र विस्तार के बारे में व्यापक जानकारी का अभाव है। नौलागढ़ से 1984 और 1986 में सिक्के मिले और इन सिक्कों में स्पष्टतः श्री विग्रहपाल लिखा हुआ नहीं है। ये सिक्के इस प्रश्न को उपस्थापित करते हैं इनका वजन चार ग्रेन से कम है तथा इस पर विग्रह शब्द लिखा है। यह विग्रह पाल शासक है या गुर्जर प्रतिहार शासक, विचार

करने योग्य है। और वैसे भी राम शरण शर्मा ने श्री वि से संबंधित विभिन्न सिक्कों की प्राप्ति के संबंध में गुप्तोत्तरकाल में सिक्कों के अभाव के संबंध में गंभीरता से चर्चा अपनी पुस्तक 'पूर्व मध्यकालीन भारत का सामंती समाज और संस्कृति में की है।

नौलागढ़ से प्राप्त गुप्तकालीन मृणमुहर से इस क्षेत्र की थोड़ी बहुत जानकारी मिलती है। एक मुहर के अग्रभाग पर त्रिशुल और गुप्त ब्राह्मी लिपि में समुद्र अंकित है। नौलागढ़ से प्राप्त एक दूसरे मृण मुहर से गुप्त ब्राह्मी लिपि में दो पंक्ति में लेख अंकित थे । प्रथम पंक्ति का प्रथम अक्षर टूटा हुआ था । अतः उसका पाठ "क्षभुक्त" विषय आता था । दूसरी पंक्ति स्पष्ट पाठ "अधिकरणस्य" था।[137]

गुप्तकालीन "क्षभुक्त" निःसंदेह "तिरभुक्त" से अलग रहा होगा । "क्षभुक्त" के तात्पर्य को स्पष्ट करने के लिए इस मुहर को ठीक से पढ़ने की आवश्यकता है।

विग्रहपाल तृतीय के समय में पालवंश का सूर्यास्त हो रहा था और दक्षिण के षष्ठम विक्रमादित्य के आक्रमण के फलस्वरूप कर्णाट वंश का अभ्युत्थान बंगाल और मिथिला में हो रहा था ।[138]

रामपाल 1057–1102 ई0 (45 वर्ष) ने बचे हुए साम्राज्य पर शासन प्रारम्भ किया । इसने वारेन्द्री पर अधिकार किया। मगध को अपने साम्राज्य में सम्मिलित किया । रामपाल ने कामरूप को भी जीता, उड़ीसा पर चढ़ाई की तथा अपना साम्राज्य कलिंग तक बढ़ाया और पूर्वी गंगा में बढ़ती हुई शक्तियों की ओर ध्यान दिया । बाद में मिथिला (उत्तरी बिहार) भी उसके अधिकार से चला गया ।[139]

रामपाल की सेना में कर्णाट के नान्यदेव रहे होंगे तथा रामपाल के विदेह विजय में इनका प्रमुख योगदान रहा होगा । कालक्रम में रामपाल की दुर्बलता का लाभ उठाकर 1097 ई0 में नान्यदेव ने स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया । पूर्वमध्य काल में बिहार से पाल–शक्ति की समाप्ति के साथ ही, उत्तर बिहार में कर्णाटों के शक्तिशाली राज्य की स्थापना भी एक महत्वपूर्ण घटना है । नान्यदेव के नेतृत्व में स्थापित इस राज–वंश ने 1097 से 1324 ई0 तक उत्तर बिहार पर अपना शासन किया और कई बार दक्षिण बिहार के क्षेत्रों को भी प्रभावित किया। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि इस वंश के नेतृत्व में मिथिला का वास्तविक अग्रगामी इतिहास प्रारम्भ होता है, जिसने पूर्वी भारत के इतिहास में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी ।[140]

नान्यदेव कर्णाट वंश का संस्थापक ही नहीं सबसे प्रातापी शासक भी हुआ। उसने अपने राज्यकाल में पाल, कलचुरि, सेन और गहड़वालों के पारस्परिक संघर्षों के बीच अपनी दूरदर्शिता, नीतिकुशलता और बहादुरी से अपना राज्य स्थापित किया। नान्यदेव ने चेदि सम्राट को आगे बढ़ने से रोक दिया । उसने सौवीर और मालवा को पराजित किया था । नेपाल को भी जीतकर अपने राज्य में मिला लिया था । उसके राज्यकाल को मिथिला का स्वर्णयुग कहा जाता है। नान्यदेव के दो पुत्र थे– मल्लदेव और गंगदेव । ऐसा प्रतीत होता है कि नान्यदेव की मृत्यु के बाद कर्णाट राज्य दोनों भाइयों में बंट गया–पूर्वी भाग का राजा मल्लदेव और पश्चिमी भाग का राजा गंगदेव हुआ । मधुबनी जिला के भीठ भगवानपुर गाँव में मल्लदेव का एक मूर्ति–अभिलेख मिला है जिस पर ''ऊँ श्री मल्लदेवस्य'' लिखा है । जनश्रुतियों के अनुसार भीठ भगवानपुर मल्लदेव की राजधानी थी । सिमरॉव का विधिवत् उत्तराधिकारी गंगदेव हुआ और इसलिए कर्णाट वंशावली में नान्यदेव का उत्तराधिकारी गंगदेव को ही माना गया ।[141]

मिथिला के कर्णाट शासकों में गंगदेव एक ऐसा शासक था जिसने गृहकलह और तत्कालीन संघर्षमयी राजनीति के बावजूद विकासशील मिथिला को अपनी बुद्धिमत्ता, कार्य–क्षमता और प्रशासनिक योग्यता से और आगे बढ़ाने में योगदान दिया। एक सफल प्रशाासक के रूप में गंगदेव की उपलब्धियाँ कर्णाटों के इतिहास में सराहनीय है । यदि नान्यदेव ने विजय और एकीकरण की नीति से मिथिला के कर्णाट़ वंश की नींव डाली, तो गंगदेव ने अपनी प्रतिभा से मिथिला में शान्ति और सुव्यवस्था की नींव डाली । जब बिहार का दक्षिणी भाग और अन्य समकक्षी राज्य अपनी आन्तरिक और बाह्य समस्याओं से जूझ रहे थे, उस समय गंगदेव मिथिला में शान्ति और सुव्यवस्था बनाये हुए था ।[142]

गंगदेव का उत्तराधिकारी नरसिंहदेव (1188–1227 ई0) हुआ । वह चतुर एवं बहादुर राजा के साथ–साथ योग्य प्रशासक था । उसके शासन–काल में सम्पूर्ण भारत के साथ दक्षिण बिहार में मुसलमानों का तूफानी आक्रमण हो रहा था । तथापि उसने मिथिला को एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में अक्षुण्ण रखा । इतना अवश्य हुआ कि पूर्णियाँ जिले का एक भाग उसके हाथ से निकल गया ।[143]

इतिहास अध्ययन के क्षेत्र में भारतीय राष्ट्रवाद का तत्व इतना अधिक प्रबल रहा है कि आंचलिक अस्मिता के लिये कोई स्थान ही नहीं बचा । राष्ट्रीय एकात्मवाद के घटक ने इतिहास को अपने मोहपाश में इस भाँति ग्रसित कर लिया है कि भारत की संश्लेषणात्मक संस्कृति के निर्माण में क्षेत्रीय संस्कृतियों के

अवदान को चिह्नित करना मुश्किल हो गया है । यथा उत्तर भारत कें अन्य अंचलों की भाँति मिथिलाँचल का इतिहास भी एक निश्चित कालखण्ड में मगध साम्राज्य का इतिहास हो जाता है, जिसमें इसकी क्षेत्रीय पहचान विलुप्त हो जाती है । क्षेत्रीय–स्थानीय तत्व की इस उपेक्षा ने पुरातत्व के समक्ष भी कठिनाई पैदा की है । स्थानीय अनुश्रुतियाँ और अंधविश्वासों से आवृत्त मिथिला के पुरातात्विक स्थलों की पहचान कायम करने में भीषण कठिनाई का सामना करना पड़ता है। इसमें इतिहास पुरातत्व की सहायता कर सकता था, परन्तु वह तो राष्ट्रीय व्यक्तित्व निर्माण में इस भाँति लगा रहा कि क्षेत्रीय–स्थानीय इतिहास का कोई रूप ही नहीं बन पाया । इतिहास और पुरातत्व की जो पारम्परिक निर्भरता है, वह मिथिला के संदर्भ में खंडित हो जाती है और इस प्रकार मिथिला के अतीत के उद्भेदन की पूरी जिम्मेवारी अकेले पुरातत्व के कंधों पर आ जाती है और इसके कार्यों को कठिन बना देती है । एक तरफ जहाँ मिथिला के अतीत का पूर्ण विवरण प्रस्तुत करने में इतिहास असमर्थ है, वहीं स्थानीय अनुश्रुतियों एवं अंधविश्वासों के कुहरजाल में फँसे पुरातात्विक स्थलों की पहचान निर्धारित करना और फिर वहाँ पुरातात्विक कार्यों को आगे बढ़ाना भी एक कठिन कार्य है। समस्या है संभावनायुक्त पुरातात्विक डीहों को चिह्नित करने और फिर वहाँ पुरातात्विक कार्यों को आगे बढ़ाने की ।[144]

मिथिला में फैले असंख्य डीह–डाबर इसकी भौगोलिक संरचनाजनित प्राकृतिक प्रकोपों के परिणाम हैं। साहित्यिक स्रोतों से हमें जानकारी मिलती है कि घने जंगलों से आच्छादित मिथिला की दलदली भूमि को आर्यों की विदेह शाखा ने उपनिवेशित किया।[145] मिथिला की मिट्टी जलोढ़ है और यहाँ नदियों का जाल फैला हुआ है । यहाँ भारी भवनों के धँसने की समस्या आज भी है । ऐसे में इतिहास के विभिन्न चरणों में भू–धसान, बाढ़ और आग की विभिषिका से मिथिला सदैव संत्रस्त रहा है । यह बार–बार बसने और उजड़ने के लिये अभिशप्त रहा है। यहाँ की नदियाँ भी बार–बार अपनी धारा बदलती रहती हैं । परिणामस्वरूप कई प्राचीन बस्तियों का कोई नामोनिशान तक नहीं है और कई प्राचीन नगरों एवं बस्तियों की आज तक पहचान नहीं हो पायी है । मिथिला में अनगिनत डीहों और पुरानी बस्तियों के मलवों के अस्तित्व के ये प्रमुख कारण हैं। कई पुरातात्विक साक्ष्य नदियों की तलहटियों में, धरती के प्रथम जलस्तर से भी नीचे और पुराचिह्नविहीन सपाट मैदान में भी दस से पन्द्रह फीट की गहराईयों से जब–तब प्राप्त होते रहते हैं।[146] झंझारपुर (मधुबनी जिला) के लखनौर गाँव के

समीप बड़का डीह है जिसे निर्मला डीह भी कहा जाता है। यह बड़का डीह अभी लगभग 15–16 फीट ऊँचाई में है। अन्वेषण के दौरान इस क्षेत्र के किसान गुदरी यादव, ब्रह्मदेव यादव एवं तिरपित यादव ने मुझे बताया था कि 1987 ई0 के बाद के पूर्व यह डीह लगभग 25 फीट की ऊँचाई में थी। पूरे क्षेत्र में मिट्टी भर गई और डीह की ऊँचाई कम हो गई। यह तो एक बानगी भर है। इस क्षेत्र में ऐसे ढ़ेरों उदाहरण सुनने को मिलते हैं।

आधुनिक तिरहुत या तिरमुक्ति जो 25° 28′ से 26° 52′ उ0 अक्षांश एवं 84° 56′ से 46° 46′ पूर्वी देशान्तर के मध्य स्थित है, मिथिला कहलाती है। यह भूमि उत्तर में हिमालय, पूर्व में कोसी, दक्षिण में गंगा और पश्चिम में गण्डक नदी के मध्य स्थित है। इसमें आज का पश्चिमी चम्पारण, पूर्वी चम्पारण, मुजफ्फरपुर, दरभंगा, सीतामढ़ी, समस्तीपुर, मधुबनी, कटिहार, सहरसा, पूर्णियाँ और बेगूसराय के साथ–साथ नेपाल की तराई के क्षेत्र आते है। विभिन्न कालक्रम में इसके भौगोलिक क्षेत्र के विस्तार में परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है, जो हिमालय के पाद पृष्ठ से आरंभ होकर दक्षिण में गंगा तक 100 मील की चौड़ाई में तथा पूर्व में महानन्दा से पश्चिम में गण्डकी नदी तक 250 मील लम्बी है । यह सम्पूर्ण क्षेत्रफल 25000 वर्ग मील होता है।[147] ह्वेनसांग के अनुसार वज्जि पूर्व से पश्चिम के क्षेत्र में लम्बा था और दक्षिण से उत्तर की ओर संकरा था ।[148] यह विवरण तत्कालीन क्षेत्र की सीमा बताता है जिसके बीच गंडक और महानदी नदियाँ थी और 300 मील की लम्बाई तथा 100 मील की चौड़ाई में स्थित था । यह संभावना है कि इसमें वज्जि महासंघ के विभिन्न नगर और अष्टकुल की राजधानियाँ शामिल थीं।[149]

प्रत्येक क्षेत्र का इतिहास वहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों का उपज होता है । भौगोलिक अवस्था ही इतिहास की रूपरेखा निर्मित करती है। किसी भी क्षेत्र या राज्य के विकास में भौगोलिक परिस्थितियाँ महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करती है।

दरभंगा प्रक्षेत्र की भौगोलिक स्थिति में नदियों की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। जिसके इर्द–गिर्द मानव अधिवासीय टीलों, गढ़ों के साथ–साथ महत्वपूर्ण पुरातात्विक स्थल भी मिलते हैं । इस सम्पूर्ण प्रक्षेत्रों में गंडक, बागमती, कमला जैसे महत्वपूर्ण नदियों के साथ कई छोटी–छोटी नदियाँ भी अपने जल से सम्पूर्ण क्षेत्र को सिंचित करने के साथ ही मानव आवागमन के मार्ग को भी सुलभ बनाती रही है।

गण्डक उत्तरी बिहार की एक महत्वपूर्ण नदी है । यह हिमालय से निकलती हुई चम्पारण, सारण और मुजफरपुर जिलों में बहती है । गंडक की विभिन्न धाराएँ नेपाल की तराई में स्थित है । हाँडसन[150] ने 1849 में गंडक के संबंध में लिखा है कि गंडक बेसिन में हमें पश्चिम में बरिगर, नारायणी, श्वेत गंडकी, मरसाईंगदी, दरंदी, गंडी और त्रिशुल मिलते हैं । ये सात धाराएं आम जनों के बीच सप्त गंडकी के नाम से जानी जाती है । प्राचीन भारत में नदियों को सात धाराओं का वर्णन करने की उत्कंठा रहती थी । सिन्धु[151] को भी सात मुखों वाला कहा गया है । इसके साथ ही कोसी को भी सप्त धाराओं वाला कहा गया है।

आज भी हॉडसन के नामों की चर्चा विभिन्न स्थलों पर देखी जा सकती हैं । इसी नाम की दूसरी नदी चम्पारण, मुजफ्फरपुर, समस्तीपुर और बेगूसराय से होकर गुजरती है और खगड़िया जिले में गंगा से मिल जाती है।

ऐसी सम्भावना भी बन सकती है कि पूर्व मध्यकाल या मध्यकाल में गंडक नदी ने अपने मार्ग में परिवर्त्तन किया हो और बुढ़ी गंडक और गंडक नाम की दो नदी अस्तित्व में आयी हो । सम्प्रति गंडक का उद्‌गम स्रोत्र हिमालय से निकलने वाली सप्त धाराएँ है तो बुढ़ी गंडक का उद्‌गम स्रोत सिकरहना नदी हैं।[152]

शतपथ ब्राह्मण[153] में सर्व प्रथम गंडक का विवरण मिलता है । इसे सदानीरा के नाम से पहचाना गया है । मिथिला शरण पांडेय ने बौद्ध साहित्य में वर्णित माही को गंडक माना है । यह एक ऐसी दूसरी नदी है जो गंगा के बाद महत्व रखती है।

बागमती निचले हिमालय के महाव्रत चोटी[154] से निकलती हुई दक्षिण की ओर दरभंगा जिले की दिशा में बहती हुई ही तिकेश्वर के नजदीक थोड़ा नीचे जाते हुए तिलयुगा नदी से मिलती है । इस तरह बागमती बुढ़ी गंडक नदी से मिलती हुई गंगा में मिलती है। वृहत विष्णु पुराण में मिथिला खंड में वर्णित नदी को एम0 एस0 पाण्डेय बागमती नदी के नाम से उल्लिखित करते हैं ।[155] चौदहवी शताब्दी में विद्यापति इस नदी को बाघवती कहते हैं। बागमती नदी की विभिन्न धाराएं यथा–छोटी धारा, बड़ी धारा आदि धाराओं के नाम इस क्षेत्र में सुनने को मिलती है। दरभंगा शहर में भी बागमती की एक धारा शुभंकरपुर मुहल्ले से गुजरती है। इन धाराओं को समेकित रूप में अधवारा समूह के नाम से सम्पूर्ण प्रक्षेत्र में जाना जाता है।

कमला नदी अपने सहायक नदियों तिलयुगा और अन्य छोटी–2 धाराओं से सम्बद्ध की जाती है । मधुबनी जिले में यह जल स्रोत के रूप में कार्य करती है। इसकी निचली धारा घघरी के नाम से जानी जाती है । कमला कोसी के सात धाराओं में से दो धाराओं को प्राप्त करती हुई पूर्णिया से दक्षिण काढ़ागोला में गंगा से मिलती थी । इस नदी की चर्चा प्रारंभिक संस्कृत और बौद्ध साहित्य में कहीं–कहीं मिलती है। वृहद विष्णु पुराण में मिथिला के हृदय से इसे गुजरने वाले नदी के रूप में वर्णन किया गया है ।[156]

कोसी उत्तरी बिहार की अत्यन्त महत्वपूर्ण नदी रही है । यह हिमालय से निकलती हुई वराह क्षेत्र के समतल भूमि में प्रवेश करती है । यह क्षेत्र हिन्दुओं का पवित्र स्थल है। यह नदी पूर्णिया जिला के पश्चिमी भाग में बहती थी और उसकी प्रमुख धारा मनियारी घाट के निकट गंगा में मिल जाती थी । मार्कण्डेय पुराण[157] में भी इसे अदभूत बतलाया गया है और इसे कौशिकी नाम से पुकारा गया है। कुमार संभव[158] में भी ऐसी चर्चा आई है। हेमिल्टन[159] ने इस नदी के संबंध में लिखा है कि इसके किनारे बसने वाले पंडित के अनुसार कुशी दक्षिण दिशा की ओर बहती थी जहाँ वर्त्तमान में ताजपुर अवस्थित है और वहाँ से पूर्व की ओर यह ब्रह्मपुत्र में बहती थी । इसका गंगा से कोई संबंध नहीं है । कोसी अपने धाराओं को बदलने के कारण अत्यन्त खतरनाक नदियों में गिनी जाती है। भारत में ऐसी दूसरी कोई नदी नहीं है जो इतनी शीघ्रता से अपने धारा में परिवर्त्तन करती है । यह वर्तमान से और पूर्व की ओर बहती होगी । प्राचीन एवं पूर्वमध्यकालीन मिथिला या तिरहुत में बहने वाली ये नदियाँ वर्तमान में भी थोड़ी–बहुत भिन्नता के साथ दरभंगा प्रक्षेत्र में विद्यमान है जिनके तटवर्ती क्षेत्रों में दर्जनाधिक पुरातात्विक ऐतिहासिक महत्व के स्थल से पाषाण प्रतिमाओं की प्राप्ति हुई है । इस तरह से इस क्षेत्र के प्राचीन आवासीय एवं आवागमन के स्रोत के रूप में ये नदियां क्षेत्रीय इतिहास के अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

मिथिला की संस्कृति के निर्माण में इस क्षेत्र के भौगोलिक बनावट की भूमिका को नकारा नहीं जा सकता है। गंडक, गंगा, कोसी एवं हिमालय से घिरा यह प्रदेश जहाँ विदेशी समूहों के लिए सुगम्य नहीं था, वहाँ पर इसका परिवेश क्षेत्रीय व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक था । भूगोल की इस भूमिका का प्राग्शसी ने भी सशक्त ढंग से रेखांकित किया है । उनका यह सारगभित विश्लेषण ''दीप्रिजननोटबुक्स' की प्रस्तावना लगती है जिसमें उन्होंने सामाजिक जीवन के क्षेत्रीय, स्थानिक एवं भौगोलिक आधारों पर अत्यधिक बल दिया है, हालाँकि ऐसा

प्रयास उनके विशिष्ट प्रतिभागी लुकाज ने नहीं किया । जहाँ लुकाज ने सांसारिकता को केन्द्रीयता प्रदान की, वहीं ग्राम्शी के लिए सामाजिक इतिहास एवं वास्तविकता को केवल भौगोलिक शब्दों यथा भूभाग, क्षेत्र, भूमिखंड, अंचल आदि में ही समझा जा सकता है । भूगोल की भूमिका की यह चर्चा न तो एक विषय को दूसरे विषय पर थोपने का प्रयास है और न ही भौगोलिक नियतिवाद में विश्वास । यह सिर्फ मिथिला के ऐतिहासिक विश्लेषण की केन्द्रीय समस्या को उजागर करने का प्रयास है । भौगोलिक विभेद केवल भिन्न भू–दृश्यों के बनावट में ही सहायक नहीं होते बल्कि एकान्तक सामाजिक एवं सांस्कृतिक संरचनाओं के निर्माण की प्रक्रिया को भी बल देते हैं ।[160]

इस संदर्भ में इतिहास एवं परम्परा के अन्तर्संबंधों की चर्चा भी आवश्यक है । भौगोलिक स्थितियाँ जहाँ मिथिला के क्षेत्रीय स्वरूप के निर्माण में सहायक हैं वहीं परम्पराओं में अंधविश्वास इसकी ऐतिहासिक समझ में विसंगतियाँ पैदा कर देती हैं। सीता के जन्म की कथा या आदिसुर से जुड़ी परम्पराएँ वास्तविकताओं को ऐसा मिथकीय जामा पहना देती हैं कि तथ्यगत तर्क दरकिनार हो जाते हैं। यह सच है कि परम्पराओं के विकास का क्रम ऐतिहासिक होता है परन्तु यह सच नहीं है कि परम्पराएँ अपनी सम्पूर्णता में एतिहासिक तथ्यों का ही वाहक होती हैं। परम्परा में धर्म का विशिष्ट स्थान होता है और इसमें शामिल है पारलौकिकता में विश्वास जो लौकिक जीवन के संदर्भ में अंधविश्वास का पर्याय बन जाता है। स्वस्थ एवं अविकृत परम्पराएँ इतिहास के सृजन में मदद करती हैं, परन्तु परम्पराएँ कभी इतिहास की जगह नहीं ले सकती हैं । मिथिला के अतीत के विश्लेषण के क्रम में इस बात को ध्यान में रखते हुए स्थानीय परम्पराओं को इतिहास के नजरिए से खारिज करने की जगह उनके मिथकीय पक्ष को चिह्नित कर उनकी उपयोगिता पर गौर करने की आवश्यकता है ।[161]

मिथिला के ऐतिहासिक अध्ययन में अब तक भौगोलिक परिप्रेक्ष्य पर भी विशेष विचार नहीं किया जा सका है। विभिन्न ऐतिहासिक युगों में भूगोल ने मिथिला की भौतिक संस्कृति को किस सीमा तक प्रभावित किया, अन्य सांस्कृतिक इकाइयों के साथ अन्तः क्रिया में इसकी क्या भूमिका रही है और इसने मिथिलावासियों की मानसिक एवं चरित्रगत विशिष्टताओं को किस प्रकार निर्धारित किया है, इसका अध्ययन किया जाना जरूरी है। मिथिला के इतिहास को भूगोल से संदर्भित करने पर शायद कतिपय नये तथ्यों के प्रकाश में आने की संभावना भी बनती हैं ।[162]

इस प्रकार सम्पूर्ण प्रक्षेत्र के ऐतिहासिक एवं भौगोलिक पृष्ठभूमि से यह पता चलता है कि पूर्व मध्यकाल में यह सम्पूर्ण क्षेत्र विभिन्न राज बंशों से सम्बद्ध रहा हैं ।

पाद टिप्पणी

1) शतपथ ब्राह्मण, प्रथम खंड अध्याय – 4
2) राम प्रकाश शर्मा–मिथिला का इतिहास पृ0 9, दरभंगा
3) उपरोक्त
4) उपेन्द्र ठाकुर – मिथिलाक इतिहास पृ0 – 8, पटना
5) राम प्रकाश शर्मा – मिथिला का इतिहास पृ0 –7, दरभंगा
6) उपरोक्त
7) हलायुध, शब्द कल्पद्रुम, भाग –3 पृ0 – 723 उणादि – 60
8) विजय कुमार ठाकुर का आलेख, मिथिला संस्कृति एवं परंपरा पृ0 –58,पटना
9) राम प्रकाश शर्मा, मिथिला का इतिहास पृ0 –7, दरभंगा
10) श्री मदभागवत, स्कन्द – 9 अध्याय – 133
11) मत्स्य पुराण, अध्याय – 55
12) भविष्य पुराण, शब्द कल्पद्रुम भाग – 3 पृ0 –723
13) राधाकृष्ण चौधरी का आलेख मिथिला का संक्षिप्त राजनीतिक इतिहास (श्री राम चरित्र अभिनंदन ग्रंथ) बेगुसराय पृ0 – 367
14) उपेन्द्र ठाकुर हिस्ट्री ऑफ मिथिला पृ0 –7, दरभंगा
15) राम प्रकाश शर्मा मिथिला का इतिहास पृ0 –7, दरभंगा
16) राधाकृष्ण चौधरी का आलेख श्री रामचरित्र अभिनंदन ग्रंथ पृ0 –367,बेगूसराय
17) मिथिला की सांस्कृतिक विरासत में बौद्ध धर्म की प्रासंगिकता चंद्रशेखर पासवान का शोध ग्रंथ (बौद्ध अध्ययन विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय 2006) पृ0 –2
18) योगेन्द्र मिश्र हिस्ट्री ऑफ विदेह – पृ0 2–6, पटना
19) विजय कुमार ठाकुर, मध्यकालीन मिथिला पृ0 – 1–37
20) विश्वम्भर झा एवं अन्य (सं0), मिथिला संस्कृति एवं परंपरा पृ0 – 58
21) कृष्ण चंद्र श्री वास्तव, प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति पृ0 –95–97
22) राधाकृष्ण चौधरी का आलेख श्री राम चरित्र अभिनंदन ग्रंथ पृ0 –367
23) अजीत कुमार, बिहार का इतिहास पृ0 –38
24) अश्वघोष, बुद्ध चरित 4/80
25) अजीत कुमार, बिहार का इतिहास पृ0 –38
26) मखादेव जातक, मज्झिम निकाय का मखादेव सुक्त
27) उपरोक्त

28) जातक भाग – 6/539 (गाथा– 25–115) महाजनक
29) उपरोक्त
30) जातक भाग– 6/546 (गाथा – 84,90–91) महाउम्मग
31) जातक भाग – 2/160 (विलनक)
32) जातक भाग – 4/489 (सुरूचि)
33) जातक भाग –6 संख्या 539/4,11 पृ0 –40,42 (महाजनक)
34) जातक –6/539 गाथा – 25–115 (महाजनक)
35) जातक भाग –2/160(विलनक)
36) जातक भाग – (महानारद कस्सप)
37) जातक भाग – 1/9 (मखादेव)
38) जातक भाग –2/160 (विलनक)
39) जातक भाग – 5/524 (संखपाल जातक)
40) जातक भाग – (महानारद् कस्सप)
41) जातक भाग – 4/541 (विदुर जातक्)
42) मिथिला की सांस्कृतिक विरासत में बौद्ध धर्म की प्रासंगिकता चंद्रशेखर पासवान का शोध ग्रंथ (बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय 2006) पृ0 –2
43) रोमिला थापर, भारत का इतिहास पृ0 – 43, दिल्ली
44) द्विजेन्द्र नारायण झा, प्राचीन भारत पृ0 – 87,17, दिल्ली
45) डी0 एन0 झा, प्राचीन भारत एक रूपरेखा पृ0 – 49, दिल्ली
46) झा0, श्रीमाली (सं0) प्राचीन भारत का इतिहास पृ0 –165, दिल्ली
47) एस0 एन0 सिंह, हिस्ट्री ऑफ तिरहुत पृ0 –20, कलकत्ता
48) झा0, श्रीमाली (सं0), प्राचीन भारत का इतिहास पृ0 –167, दिल्ली
49) राधा कृष्ण चौधरी का आलेख श्री रामचरित्र अभिनंदन ग्रंथ पृ0 –368, बेगूसराय
50) बुद्ध चर्या, राहुल सांस्कृत्यायन पृ0 – 520
51) राधाकृष्ण चौधरी का आलेख श्री रामचरित्र अभिनंदन ग्रंथ पृ0 –368, बेगूसराय
52) उपरोक्त
53) उपरोक्त
54) उपरोक्त
55) कौटिल्य अर्थशास्त्र, शाम शास्त्री, पृ0 – 455
56) ए0 एस0 आई का रिपोर्ट, Vol. - I , 18.62–65, पृ0 –64–74
57) राधाकृष्ण चौधरी का आलेख श्री राम चरित्र अभिनंदन ग्रंथ पृ0 –369, बेगूसराय
58) कृष्ण चन्द्र श्रीवास्तव, प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति पृ0 –401–402
59) विसेन्ट स्मिथ अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया पृ0 –279, कृष्ण चन्द्र श्रीवास्तव : प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति, पृ0 –402

60) एलन, कैटलाग ऑफ द क्वांयस ऑफ दी गुप्त डायनेस्टी पृ0 –19
61) कृष्ण चन्द्र श्रीवास्तव, प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति पृ0 –203
62) हेमचन्द्र राय चौधरी पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्सिएंट इंडिया पृ0 – 530
63) इंडियन ऐन्टिक्वटी 1911, राधा कृष्ण चौधरी का आलेख श्रीराम चरित्र मानस पृ0 –50
64) राधाकृष्ण चौधरी का आलेख श्री राम चरित्र अभिनंदन ग्रंथ पृ0 –370, बेगूसराय
65) दीक्षितर, गुप्ता पॉलिटी पृ0 –246–52, उपेन्द्र ठाकुर हिस्ट्री ऑफ मिथिला पृ0 –117, दरभंगा
66) उपेन्द्र ठाकुर, हिस्ट्री ऑफ मिथिला पृ0 –117, राम प्रकाश शर्मा मिथिला का इतिहास, पृ0 –148, दरभंगा
67) उपेन्द्र ठाकुर, हिस्ट्री ऑफ मिथिला पृ0 –117, दरभंगा
68) उपरोक्त
69) उपरोक्त
70) उपरोक्त
71) उपरोक्त
72) फुलेश्वर सिंह, प्राचीन भारत का इतिहास पृ0 –365, पटना
73) राधाकृष्ण चौधरी का आलेख श्री राम चरित्र अभिनंदन ग्रंथ पृ0 – 370, बेगूसराय
74) राधाकृष्ण चौधरी, हिस्टी ऑफ बिहार पृ0 –68, पटना
75) राधाकृष्ण चौधरी का आलेख श्री रामचरित्र अभिनंदन ग्रंथ पृ0 –370, बेगूसराय
76) रामप्रकाश शर्मा, मिथिला का इतिहास पृ0 –149, दरभंगा
77) उपरोक्त
78) राधाकृष्ण चौधरी का आलेख श्री रामचरित्र अभिनंदन ग्रंथ पृ0 –370, बेगूसराय
79) रामप्रकाश शर्मा, मिथिला का इतिहास पृ0 – 149, दरभंगा
80) राधा कृष्ण चौधरी का आलेख श्री रामचरित्र अभिनंदन ग्रंथ पृ0 –370, बेगूसराय
81) रामप्रकाश शर्मा, मिथिला का इतिहास पृ0 – 150–153, दरभंगा
82) उपरोक्त
83) उपरोक्त
84) उपरोक्त
85) उपेन्द्र ठाकुर, हिस्ट्री ऑफ मिथिला पृ0 – 124, दरभंगा
86) मजूमदार, ऐन्शिएंट इण्डिया पृ0 –257
87) रामप्रकाश शर्मा, मिथिला का इतिहास पृ0 –154, दरभंगा
88) उपरोक्त
89) उपरोक्त
90) राधाकृष्ण चौधरी, हिस्ट्री ऑफ बिहार पृ0 – 69, पटना

91) राधा कृष्ण चौधरी का आलेख श्री राम चरित्र अभिनंदन ग्रंथ पृ0 –370, बेगूसराय
92) उपेन्द्र ठाकुर, हिस्ट्री ऑफ मिथिला पृ0 –129, दरभंगा
93) राधा कृष्ण चौधरी का आलेख श्री राम चरित्र अभिनंदन ग्रंथ पृ0 –370, बेगूसराय
94) उपेन्द्र ठाकुर, हिस्ट्री ऑफ मिथिला पृ0 –130, दरभंगा
95) राधाकृष्ण चौधरी, हिस्ट्री ऑफ बिहार पृ0 –82, पटना
96) राधाकृष्ण चौधरी, बेगूसराय अभिज्ञान ग्रंथ पृ0 –21, बेगूसराय
97) राधाकृष्ण चौधरी, हिस्ट्री ऑफ बिहार पृ0 –83, पटना
98) रामप्रकाश शर्मा, मिथिला का इतिहास पृ0 –151, दरभंगा
99) उपरोक्त
100) उपेन्द्र ठाकुर, हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ0 –128, दरभंगा
101) राधाकृष्ण चौधरी का आलेख श्री राम चरित्र अभिनंदन ग्रंथ पृ0 –370, बेगूसराय
102) उपरोक्त
103) रामप्रकाश शर्मा, मिथिला का अतिहास पृ0 – 163, दरभंगा
104) राधाकृष्ण चौधरी का आलेख श्री राम चरित्र अभिनंदन ग्रंथ पृ0 –370, बेगूसराय
105) उपरोक्त
106) उपरोक्त
107) उपरोक्त
108) उपरोक्त
109) उपरोक्त
110) उपरोक्त
111) नीरजा पाण्डा, पाल अभिलेखों में प्रतिपादित बौद्ध धर्म पृ0 –32
112) उपरोक्त
113) उपरोक्त
114) उपरोक्त
115) उपरोक्त
116) उपेन्द्र झा का आलेख विदेह के कुछ ऐतिहासिक तथ्य पृ0 – 387 प्रो0 उमानाथ झा अभिनन्दन ग्रन्थ, दरभंगा
117) राधाकृष्ण चौधरी का आलेख श्री राम चरित्र अभिनंदन ग्रंथ पृ0 –371, बेगूसराय
118) उपरोक्त
119) नीरजा पाण्डा – पाल अभिलेखों में प्रतिपादित बौद्ध धर्म पृ0 – 36
जर्नल ऑफ दि ए0 ओ0 ऑफ बंगाल –खण्ड 61, पृ0– 77–87,
महीपाल प्रथम का वानगढ़ अभिलेख
120) नीरजा पाण्डा – पाल अभिलेखों में प्रतिपादित बौद्ध धर्म पृ0 – 36
वी0 पी0 सिन्हा डायनेयस्टिक हिस्ट्री ऑफ मंगध पृ0 – 200

121) राधा कृष्ण चौधरी का आलेख श्री राम चरित्र अभिनंदन ग्रंथ पृ0 –371, बेगूसराय
122) उपेन्द्र झा का आलेख विदेह के कुछ ऐतिहासिक तथ्य पृ0 – 387 प्रो0 उमानाथ झा अभिनन्दन ग्रन्थ, दरभंगा
123) उपरोक्त
124) उपरोक्त
125) उपरोक्त
126) राधा कृष्ण चौधरी का आलेख श्री राम चरित्र अभिनंदन ग्रंथ पृ0 –371, बेगूसराय
Bendall's History of Acepal Sunounding Kingdons, (Catalogne of Nepal Manuscript - 1 P. - Sartri)
M M Mirashi, hanghyadeka of Tirbhukti is silver jubllee voheme of the Amals of Bhandarkar oriental Research unstitnte.
127) राधा कृष्ण चौधरी का आलेख श्री राम चरित्र अभिनंदन ग्रंथ पृ0 – 371, बेगूसराय इमादपुर (मुजफरपुर) शिलालेख – "श्रीमान् महिपाल देव राज संवत् 48 ज्येष्ठ दिन शुक्ल पक्ष" और मजूमदा आर0 सी0 – इंडियन हिस्टोरिकल क्वाटरली Vol-7, P-68
128) नीरजा पाण्डा – पाल अभिलेखों में प्रतिपादित बौद्ध धर्म पृ0– 36
129) उपेन्द्र झा का आलेख विदेह के कुछ ऐतिहासिक तथ्य पृ0 – 387 प्रो0 उमानाथ झा अभिनन्दन ग्रन्थ, दरभंगा
130) नीरजा पाण्डा – पाल अभिलेखों में प्रतिपादित बौद्ध धर्म पृ0 – 36
बी0 पी0 सिन्हा, डायनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ मगध, पृ0 – 211–13
131) नीरजा पाण्डा – पाल अभिलेखों में प्रतिपादित बौद्ध धर्म पृ0 – 36
रामचरित् भूमिका पृ0 – 12
132) नीरजा पाण्डा – पाल अभिलेखों में प्रतिपादित बौद्ध धर्म
133) नीरजा पाण्डा – पाल अभिलेखों में प्रतिपादित बौद्ध धर्म पृ0 – 38
मजूमदार, आर0 सी0 दि हिस्ट्री ऑफ बंगाल प्रथम भाग, पृ0 – 146
134) नीरजा पाण्डा – पाल अभिलेखों में प्रतिपादित बौद्ध धर्म पृ0 – 39
मजूमदार आर0 सी0 दि हिस्ट्री ऑफ बंगाल प्रथम भाग, पृ0 – 148
135) नीरजा पाण्डा – पाल अभिलेखों में प्रतिपादित बौद्ध धर्म पृ0 – 39
एपीग्राकिका इण्डिका खण्ड 29, पृ0 48–57 विग्रहपाल तृतीय का बनगांव अभिलेख
136) राधा कृष्ण चौधरी का आलेख श्री राम चरित्र अभिनंदन ग्रंथ पृ0 – 372, बेगूसराय
137) फुलेश्वर सिंह, बेगूसराय का इतिहास, स्वर्ण जयन्ती स्मारिका जी0 डी0 कॉलेज बेगूसराय, 1995 पृ0 16, राधा कृष्ण चौधरी द्वारा एक मुहर का विवरण भारतीय इतिहास कांग्रेस (रांची) 1964 में प्रकाशित दूसरे मूहर का विवरण भारतीय इतिहास कांग्रेस (जवलपुर) 1974 में प्रकाशित

138) राधा कृष्ण चौधरी का आलेख श्री राम चरित्र अभिनंदन ग्रंथ पृ0 – 372, बेगूसराय
139) नीरजा पाण्डा, पाल अभिलेखों में प्रतिपादित बौद्ध धर्म पृ0 – 42 – 43
140) मदन मोहन मिश्र, पूर्व मध्यकालीन बिहार का समाज एवं धर्म पृ0 –22–23, पटना
141) उपरोक्त
142) उपरोक्त
143) उपरोक्त
144) धर्मेन्द्र कुमर, मिथिला मिसलेनी पृ0 – 83–84, दरभंगा
145) योगेन्द्र मिश्र, हिस्ट्री ऑफ विदेह पृ0 –78, दरभंगा
146) धर्मेन्द्र कुमर, मिथिला मिसलेनी पृ0 – 83–84, दरभंगा
147) उपेन्द्र ठाकुर, हिस्ट्री ऑफ मिथिला पृ0 3, दरभंगा
148) जुलियन ह्वेनसांग – II. 402
149) कनिंघम, द एशिंएन्ट ज्योग्रफी ऑफ इण्डिया पृ0 – 378, दरभंगा
150) हॉड्डसन जे0 ए0 एस0 बी0 1849 भाग – 2 पृ0 – 761–873
151) सेलेक्टेडेड इंस्क्रिप्सन पृ0 – 276
152) साई सोसाईटी के तत्कालीन सचिव आलोक कुमार से हुई बातचीत पर आधारित
153) शतपत ब्राह्मण – IV, 1–1– IV
154) हिमालयन माउंटेन एण्ड तिव्वत भाग–3 पृ0 148
155) एस0 एन0 सिंह, हिस्ट्री ऑफ तिरहुत पृ0 – 2, कलकत्ता
156) उपरोक्त
157) मार्कण्डेय पुराण – 57
158) कालिदास, कुमार संभव – 6–33
159) हेमिल्टन, इस्टर्न इण्डिया – खण्ड –3 भाग – 15
160) विश्वम्भर झा एवं अन्य (सं0), मिथिला संस्कृति एवं परंपरा पृ0 – 58–59, पटना
161) उपरोक्त
162) रत्नेश्वर मिश्र (सं0), रिजन इन हिस्ट्री पृ0 –220, पटना



द्वितीय अध्याय

दरभंगा प्रक्षेत्र की पाषाण प्रतिमाओं की ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

कला के इतिहास में मूर्त्तिकला का इतिहास अति प्राचीन है । मानव आरंभिक काल से कला 'सृजन' एवं कला 'वृद्धि' करता रहा है । संभव है उनके प्रारंभिक प्रयास प्राकृतिक एवं कृत्रिम उपादानों द्वारा स्वयं को सजाने–संवारने तक सीमित रहे हो । सभ्यता के विकास के साथ मानव की कला अभिव्यक्ति का दायरा बढ़ा और कला वस्तुओं के निर्माण में उनकी अभिरूचि उत्पन्न हुई। भारत की प्राचीनतम संस्कृति पाषाणिक संस्कृतियां हैं जो पुरापाषाणिक, मध्यपाषाणिक एवं नव पाषाणिक के रूप में विख्यात हैं। इनमें प्रथम शिकार आधारित यायावरीय, द्वितीय भोजन संग्रह एवं पशुचारण तथा तृतीय कृषि व्यवस्था की परिचायक है। भारतीय संदर्भ में मानव की कलात्मक अभिव्यक्ति का सुस्पष्ट पुरातात्त्विक साक्ष्य अभी तक उच्चपुरापाषण काल के पहले का ज्ञात नही हैं।[1]

प्रारंभिक इतिहासकारों ने भारतीय कला के इतिहास को धर्म अनुशासित युगों में विभाजित किया है और 'हिंदू', 'मुसलिम', 'जैन' आदि विशेषणों से इसका वर्गीकरण किया है। स्पष्टतः यह विभाजन धर्मांध प्रवृत्ति का परिचायक है। इसका प्रभाव यह हुआ कि भारतीय कला का 'भारतीय' स्वरूप धर्मों की परिधि में घिर गया । मूलतः यह विभाजन अनैतिहासिक है । कारण, भारतीय कला में निरंतर समन्वय एवं सामंजस्य की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है । प्राचीन स्मारकों जैसे स्तूप, चैत्यगृह, मंदिर आदि के निर्माण से संबंधित अभिलेखों में ऐसी जनवादी, सर्वहारा प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं जिसमें धर्मांधता का प्रभाव नहीं मिलता । शुंग स्वयं बौद्ध नहीं थे परंतु उनके शासनकाल में सांची एवं भरहुत आदि स्थानों पर बौद्ध स्तूपों का निर्माण हुआ। दक्षिण कोसल से प्राप्त पंद्रहवीं सदी के एक लेख में एक मोची देवपाल द्वारा 'खल्वाटिका' नामक स्थान पर विष्णु के एक मंदिर के निर्माण का उल्लेख है। जौनपुर के मुसलमान शासकों के निर्माण कार्यों में हिंदू शिल्पियों का

यथेष्ट योगदान था; इस संबंध में प्राप्त अभिलेखों में 'धनौ' नामक शिल्पी का स्पष्ट उल्लेख है।[2]

देश के विभिन्न भागों में सातवीं से तेरहवीं सदी तक के समय में बने मंदिरों में भी इस प्रकार की एकरूपता का अभाव हैं । क्षेत्रीय विशेषताएं विभिन्न शैलियों में निरंतर प्राप्त होती रही हैं। कला का राजवंशानुगत आधार पर वर्गीकरण करने में भी अधिकांशः विद्वानों की अनुरक्ति रही है । तदनुसार 'मौर्य', 'शुंग', 'सातवाहन', 'पल्लव', 'चोल', 'पांडय', 'चालुक्य', 'राष्ट्रकूट', आदि कला धाराओं की परिकल्पना दृष्टिगोचर होती है परंतु 'शैली' तथा 'स्थानीयता' दोनों आधारों पर वंशानुगत विभाजन प्रामाणिक नही प्रतीत होता । जिस कला को 'मौर्यकला' कहा गया वह भारतीय, ईरानी एवं ग्रीक परंपराओं के सामंजस्य से विकसित हुई । मात्र शासकों के कुल के नाम के आधार पर कला युगों का नामकरण समुचित नहीं प्रतीत होता। इसी भांति तथाकथित 'शुंग' कला शैली के उदाहरण और इसकी प्रसिद्धि शुंगों के शासन क्षेत्र से इतर क्षेत्र में भी प्राप्य है। 'सातवाहन' कला का पश्चिम भारतीय स्वरूप इसी के आंध्र प्रदेशीय स्वरूप से बहुत भिन्न है। कुषाण कला की दो प्रमुख शैलियां, मथुरा और गांधार प्रदेश में अलग–अलग ढंग से व्यक्त हुई। गुप्त कला में भी एक ओर 'सारनाथ शैली' है तो दूसरी ओर 'मथुरा शैली'। अधिकांशतः आधुनिक विद्वान अब गुप्त कला के क्षेत्रीय भेदों को प्रत्यक्षतः स्वीकार करते हैं।[3]

मैंने अपने शोध अन्वेषण के दौरान दरभंगा प्रक्षेत्र में पाया है कि यहाँ भी क्षेत्रीय भेद प्राप्त होता है। दरभंगा, मधुबनी और समस्तीपुर जिले की प्रतिमाएं कमोवेश बेगूसराय और सहरसा के आसपास के क्षेत्रों से प्राप्त प्रतिमाओं के समान है पर गंगा के दक्षिणी हिस्से से प्राप्त प्रतिमाओं में साम्यता नहीं है। गंगा के उत्तरी और दक्षिणी हिस्से से प्राप्त प्रतिमाओं में शैलीगत विभिन्नता के साथ–साथ प्रतिमा के प्रकार में भी विभिन्नता दिखाई पड़ती है। उदाहरणार्थ–गंगा के उत्तर वैष्णव प्रतिमाओं की प्रमुखता है तो गंगा के दक्षिण बौद्ध प्रतिमाओं की प्रमुखता हैं। प्रतिमाओं का बारीकी इन अध्ययन की आवश्यकता अभी भी बनी हुई है।

दरभंगा प्रक्षेत्र की पाषाण प्रतिमाओं के शास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से दरभंगा प्रक्षेत्र की पाषाण प्रतिमाओं की ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि एक महत्वपूर्ण आधार स्तंम्भ है। सम्पूर्ण प्रक्षेत्र पूर्व मध्यकालीन संस्कृति का प्रमुख केन्द्र रहा है। सांस्कृतिक धरोहर इसकी पहचान रही है । हमारी बर्त्तमान संस्कृति अतीत का प्रतिबिम्ब है। अतीत को अभिज्ञात करके ही हम वर्त्तमान

और भविष्य की दिशा एवं दशा को निर्धारित कर पाएगें । हमारा अतीत समृद्ध धरोहर से परिपूर्ण है।

सिन्धु घाटी सभ्यता में पाषाण शिल्प का भी अभूतपूर्व विकास हुआ था। अलावस्टर, चूना–पत्थर, सेलखड़ी, बलुआ पत्थर और स्लेटी पत्थर से निर्मित कुल ग्यारह मूर्तियां मोहनजोदड़ो से और दो मूर्तियां हड़प्पा से ज्ञात है । सभी प्राप्त मूर्तियाँ खंडित है। एक भी ऐसी मूर्ति ज्ञात नहीं है जिसका सिर और धड़ दोनों भाग सुरक्षित हों ।[4] प्रस्तर निर्मित जो मूर्तियाँ मोहनजोदड़ो से प्राप्त हुई हैं। शिल्पगत सौंदर्य की दृष्टि से अति साधारण है, किन्तु हड़प्पा से प्राप्त मूत्तियाँ आकर्षक, सुन्दर और प्रभावशाली हैं । सैंधव सभ्यता भारत की आरंभिक सभ्यता है, किन्तु प्राप्त कलात्मक उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि आरंभिक सभ्यता होने के वावजूद भी कला का अभूतपूर्व विकास हुआ था । मूर्ति निर्माण प्रक्रिया से उच्च कोटि के विकसित शिल्प तकनीक का परिचय मिलता है, साथ ही मूर्तियों में सौंदर्य की प्रखर सर्जना तत्कालीन जीवन को उन्नत और परिष्कृत सौन्दर्य–बोध का भी पूर्व स्पष्टीकरण करती है।[5] किन्तु दरभंगा प्रक्षेत्र के पुरातात्विक साक्ष्य इस काल का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं। वैदिक कला के स्वरूप का निर्धारण मुख्यतः साहित्यिक साक्ष्य पर आधारित है। इस कला के स्वरूप की व्याख्या वैदिक साहित्य में उल्लिखित वेश और आकृतियों से सम्वन्धित विवरणों तथा तत्संबंधी भाव व्यंजना के आधार पर करने के प्रयास किए गए है।[6]

वैदिक काल में प्रतिमाओं की पूजा और उसका निर्माण होता था या नहीं इस विषय में विद्वानों के दो वर्ग हैं, प्रथम वर्ग के अनुसार वैदिक काल में प्रतिमा का पूजन या निर्माण नहीं होता था और दूसरे वर्ग के विचारक यह मानते हैं कि वैदिक युग में प्रतिमाओं की पूजा के साथ–साथ निर्माण भी किया जाता था। यद्यपि वैदिक कला के पुरातात्विक साक्ष्य हमें प्राप्त नही हैं तथापि कला के दार्शनिक दृष्टिकोण को समझने की महत्वपूर्ण रोचक सामग्री वैदिक साहित्य के मनन और विश्लेषण से प्राप्त होती है।[7]

सैन्धव सभ्यता के पश्चात् प्राचीन भारत की वैदिक सभ्यता में मूर्ति और प्रतिमाओं के उदाहरण हमें नहीं मिलते हैं। यह एक आश्चर्य की बात है कि सैन्धव सभ्यता के विकासकाल में प्रतिमा–निर्माण का विकास अत्यधिक सीमा तक हुआ और उसके पश्चात् उसके विकास में एक अवरोध आ गया ।

प्रतिमा निर्माण के लिए अनेक प्रकार की वस्तुओं का प्रयोग होता रहा है। इसी के आधार पर प्रतिमाओं के अनेक प्रकार निर्धारित होते हैं । रामायण में ऐसा

प्रसंग प्राप्त होता है कि जब सीता वाल्मीकि आश्रम में रहती थी उस समय राम ने अश्वमेघ यज्ञ किया । सीता (वैदेही) के उपस्थित न रहने के कारण राम ने उनकी सोने की प्रतिमा बनवाकर अपने समीप स्थापित करवायी ।[8] महाभारत में भीम की लोहे की प्रतिमा का प्रसङ्ग प्राप्त होता है । जब धृतराष्ट्र ने अपने वक्षः स्थल से भीम की प्रतिमा को दबाकर चूर–चूर कर दिया तब विलाप करते हुए धृतराष्ट्र को कृष्ण ने समझाते हुए कहा कि आपने भीम को न मार उनकी लोहे की प्रतिमा नष्ट की है –

मा शुचो धृतराष्ट्र त्वं नैष भीमस्त्वया हतः ।
आयसीप्रतिमा ह्यैषा त्वया राजन्निपातिता ।।[9]

पुराणों में प्रतिमा निर्माण के अनेक प्रसंग प्राप्त होते हैं । कृष्ण अक्रूर जी से कहते हैं कि मिट्टी और शिला की बनी प्रतिमाएँ अधिक दिन उपासना करने पर मनुष्य को प्रसन्न करती हैं –

नह्याम्मयानि **तीर्थानि न** देवामृच्छिलामयाः ।।[10]

इसी प्रकार जब कृष्ण उद्धव को क्रिया–योग एवं कर्मकाण्ड का उपदेश देते हैं, तब वे अपनी प्रतिमाओं के निर्माण के विषय में भी बतलाते हैं कि प्रतिमाएँ मिट्टी, काष्ठ, पत्थर, धातु, चन्दन, बालुका, मनोमयी तथा मणि द्वारा निर्मित होती हैं –

शैली दारूमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती ।
मनोमयी मणिमयी प्रतिसाष्टविधा स्मृता ।।[11]

इन आठ प्रकार की प्रतिमाओं द्वारा भगवान् की उपासना की जा सकती है ।

ब्राह्मण काल में मूर्ति शिल्प का विकास दृष्टिगोचर नहीं होता है। इस काल में कला को प्रोत्साहित नहीं किया गया ।[12] उपनिषद काल में भी कला के लिए कोई स्थान दृष्टिगोचर नहीं होता । यद्यपि राजसूय यज्ञ में लोहे ताम्बे आदि के प्रयोग देखे गऐ हैं । यज्ञ में प्रयुक्त हवन कुंड को बड़े पक्षी के आकृति का अवश्य बनाया जाता था लेकिन उसके पंख नहीं होते थे ।[13] राजा जनक के विभिन्न प्रकार के राजमहलों का उल्लेख अवश्य मिलता है किन्तु यहाँ भी प्रतिमाओं का अभाव दृष्टिगत होता है । यद्यपि रामायण में सीता की अनुपस्थिति में स्वर्ण के सीता के निर्माण की यत्र–तत्र चर्चाएं मिलती है । इससे मूर्ति शिल्प के निर्माण का संकेत मिलता है। महाजनक जातक[14] में मिथिला का उल्लेख हुआ है, जिसमें कला के चतुर्दिक विकास की चर्चा की गई है । प्रारंभिक बौद्ध काल में किसी भी प्रकार के सौन्दर्यपरक दृष्टिकोण को निषिद्ध माना गया था, लेकिन धीरे–धीरे

ब्राह्मण धर्म के प्रभाव पड़ने के कारण इस धर्म के नियमों में भी परिवर्तन हुआ । लिच्छवी के युवक शिल्प अध्ययन के लिए तक्षशिला गए । भिक्षु बड़े–बड़े भवनों के निर्माण में दक्ष थे ।[15] भवनों के निर्माण के संबंध में अन्य बौद्ध ग्रंथ में भी चर्चाएं मिलती है।

प्राक् मौर्य काल एवं मौर्य काल में कला के क्षेत्र में विस्तार दृष्टिगोचर होता है। इस काल में हमें पाषाण प्रतिमाओं के निर्माण का सुन्दर उदाहरण मिलता है। यद्यपि उत्तर बिहार में पाषाण प्रतिमाओं के उदाहरण नहीं मिलते है। पाषाण प्रतिमाओं का नहीं मिलना यह प्रमाणित नहीं करता कि इस क्षेत्र में उस काल में प्रतिमस निर्मित नहीं होती होगी। संभव है कि गहन पुरातात्विक सर्वेक्षण और उत्खनन से प्रतिमाओं के अभाव को दूर किया जा सके।

यद्यपि साहित्यिक साधन काष्ठ कला के विकास की चर्चा करते हैं, लेकिन काष्ठ के नश्वर होने के कारण ऐसे उदाहरण हमें नहीं मिल पाते। ज्ञातव्य है कि इस काल में काष्ठ कला का स्वरूप काफी विकसित था।[16]

मौर्य काल में एक समृद्ध एवं विकसित मूर्तिशिल्प के प्रभाव मिलते है । पाषाण शिल्प का अत्यधिक सुंदर स्वरूप इस काल की देन है। यक्ष यक्षिणी की प्रतिमा इसके अच्छे उदाहरण है । मौर्य काल के उपरान्त कला का क्षेत्र व्यापक हो जाता है । यह राज्याश्रित न होकर आम जनों की कला के रूप में सामने आता है और अधिक से अधिक लोगों के बीच में कला का विकास होता है ।

मौर्य युग में भारत राजनैतिक एकता के सूत्र में आबद्ध हुआ और एक शक्ति सम्पन्न केंद्रीयभूत सत्ता स्थापित हुई । राजनैतिक स्थायित्व, आर्थिक संपन्नता, कुशल प्रशासन ने अन्य गतिविधियों के साथ कला के वहुमूखी विकास का मार्ग प्रशस्त किया । इस युग में हड़प्पा युग के बाद प्रथम बार कलाभिव्यक्ति के लिए प्रस्तर को माध्यम बनाया गया । कलाकृतियों के निर्माण में चुनार के लाल धूसर बालुकाश्म प्रस्तर का उपयोग हुआ है ।

मौर्यकालीन कला शैली, संरचना और भावों के अंकन की दृष्टि से दो रूपों में स्पष्ट होती है। राजकीय कला और लोक कला, इस प्रकार का विभाजन आनन्दकुमार स्वामी ने सर्वप्रथम व्यक्त किया था ।[17] राजकीय कला के अन्तर्गत धौली की गजमूर्ति और अशोक निर्मित स्तम्भों की गणना की जाती है तथा लोक कला के अन्तर्गत यक्ष मूर्तियाँ तथा उन सामान्य मूर्तियों की गणना होती है, जिनका निर्माण राजकीय संरक्षण में न होकर जनसाधारण के बीच शिल्पियों के

द्वारा हुआ है। स्तम्भों और उस पर पशु–आकृतियों की प्रतिष्ठा में कलाकार ने विशाल मौर्य–साम्राज्य के राजकीय वैभव और साम्राज्यिक प्रतिष्ठा को मूर्तिमान कर दिया है। राजपूतकालीन चित्रकला और स्थापत्य निदर्शन की परम्परा की आरंभिक कड़ी के रूप में, राजकीय संरक्षण में राज्याश्रित शिल्पियों द्वारा उत्कीर्ण मौर्य स्तम्भ शिल्पों को देखा जा सकता है । इसके विपरीत लोक–कला में निर्मित यक्ष–मूर्तियों के निर्माण की परम्परा प्राचीन है। वस्तुतः यक्ष और यक्षिणियों की पूजा बुद्ध के पहले से ही चली आ रही थी। मौर्ययुगीन मूर्तिकला के समग्र विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस युग में राज्याश्रित या दरबारी कला और लोक कला की दो धाराएं समान रूप से प्रवाहित हो रही थी । राज्याश्रित कला स्तम्भों और उनके शीर्षो में अभिव्यक्त हुई है, साथ ही उन पर ईरानी और यूनानी दोनों ही कला–परम्परा के प्रभाव की काफी गुंजाइश है । लोक कला का रूप विशाल, यक्ष, यक्षिणियों की मूर्त्तियों तथा सामान्य मृणमूर्त्तियों में दृष्टिगत होता है जिनका निर्माण गैर सरकारी शिल्पियों द्वारा लोक परम्परा में व्याप्त तत्वों के आधार पर किया गया है ।[18]

शुंग–काल की कला भारतीय कला के इतिहास में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है, जो अपनी विशिष्ट उपलब्धि की दृष्टि से मूर्ति और वास्तुकला में दर्शनीय है । इस काल में मूर्तिकला के कई केन्द्र विकसित हुए, जिसमें सांची, भरहुत, बोधगया, मथुरा आदि केन्द्र विशेष रूपेण उल्लेखनीय हैं । इस युग में मूर्त्तिकला के विकास के अनुकूल सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक वातावरण की सृष्टि हुई । समस्त उत्तर भारत धर्म के प्रवाह में प्रवाहित था । ब्राह्मण धर्म में भागवत धर्म का विकास हुआ, जिसमें धीरे–धीरे मूर्तिपूजा को स्थान दिया गया । इस युग में बौद्ध धर्म का भी विकास हुआ, जिसमें स्तभों के साथ–साथ चैत्यगृह तथा बिहार निर्मित हुए । विदेशी सम्पर्क भी इस काल की मूर्ति–कला के विकास का एक प्रमुख कारण था । मध्य एशिया से विदेशी जातियाँ भारत में आई और उनके साथ उनकी कला–परंपरा भी आई, जो भारतीय मूर्त्ति–कला के विकास में सहायक हुई। शुंगकालीन मूर्तियों में प्रतीकात्मकता है। यह विशेषता इस काल की मूर्त्तियों की सबसे बड़ी विशेषता है। इस युग में बौद्ध धर्म बड़े ही वेग से भारत के विभिन्न भागों में फैल रहा था और इस क्रिया में जातक कथाओं का मूर्तिकला में प्रदर्शन सहायक सिद्ध हुआ, क्योंकि पत्थरों के माध्यम से धर्म की शिक्षा जन साधारण में थी।[19]

सातवाहन और इक्ष्वाकुवंशीय शासकों के शासनकाल में मूर्तिकला को अभूतपूर्व प्रोत्साहन मिला था, जिसके फलस्वरूप दक्षिण–पूर्वी भारत में अनेक स्तूपों और चैत्यों का निर्माण हुआ। दक्षिण भारत की आर्थिक सम्पन्नता ने इस कला के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। विदेशों से समुन्नत व्यापारिक सम्बन्ध होने के कारण कृष्णा और गोदावरी का मध्यवर्ती भाग आंशिक रूप से सुदृढ़ हो चुका था । इस काल की कला के विकास में समाज के विभिन्न वर्गो का भी योगदान रहा है। इस युग की मूर्ति–कला की सामग्रियां गोदावरी और कृष्णा नदियों के मध्यवर्ती भू–भाग से प्राप्त होती है । अमरावती और नागार्जुनीकोण्डा की मूर्त्ति–कला एक तरफ बौद्ध धर्म के विविध पक्षों का उद्घाटन करती है तो दूसरी तरफ मनुष्य के लौकिक जीवन के आनन्दमय पक्ष सम्बन्ध से रखती है।[20]

कुषाण युगीन मूर्तिकला में पूर्वकालीन विषयों तथा अनेक नवीन अभिप्रायों की अभिव्यक्ति हुई । कलाकृतियों के निर्माण में इस काल में भी प्रायः जनसामान्य का ही सहयोग अधिक था । कुषाण कालीन कला शैली में स्थानीय विशिष्टताओं के भी दिग्दर्शन होते हैं । इस युग में प्रचलित मथुरा, संघौल और गंधार कला परम्परा के सभ्यक विवेचन से ही मूर्तिकला का ऐतिहासिक और शिल्पगत स्वरूप स्पष्ट हो सकता है । प्राचीन व्यापारिक पथ पर स्थित तथा आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न मथुरा ब्राह्मण, बौद्ध, जैन और लोकधर्मो का केन्द्र रहा है ।[21]

मथुरा लगभग एक सहस्त्राब्दी तक कला का प्रमुख केन्द्र रहा है । भारतीय कला के अनेक अलंकरण, उपमान और शिल्प विधान निर्धारित करने का गौरवशाली श्रेय मथुरा को है । मथुरा मूर्तिकला की परम्परा ई0 शती के आरम्भ होने के कई शती पूर्व ही स्थापित हो चुकी थी । कुषाणकालीन मथुरा–शिल्प की पहचान सरलता से हो जाती है, क्योंकि इनके निर्माण में लाल पत्थर का प्रयोग किया गया है, जो समीपवर्ती सिकरी नामक स्थान से प्राप्त होता था ।[22]

उत्तर–पशिमच भारत का प्राचीन नाम गान्धार था, जिसका उल्लेख वैदिक तथा संस्कृत साहित्य में अनेक स्थलों पर हुआ है। कुषाण सम्राटों के शासन–काल में इसी गान्धार प्रदेश में प्रचलित कला शैली गान्धार कला है । भौगोलिक दृष्टि से गान्धार प्रदेश ऐसा था जहाँ भारतीय, यूनानी तथा रोमन संस्कृतियों का संगम होता था । परिणामस्वरूप इस स्थान की कला में पूर्व और पश्चिम की कला–परम्परा का दर्शन होता है । इस शैली का सम्बन्ध मुख्य रूप से कुषाण शासक कनिष्क से जोड़ा जाता है । वैसे इस शैली में गान्धार में ई0 पू0 द्वितीय शती से

ही मूर्तियों का निर्माण किया जाने लगा था । किन्तु इस कला का पूर्ण विकास कुषाण शासकों के शासन काल में ही हुआ है । इस शैली के शिल्पकार यद्यपि ग्रीक थे, किन्तु उनकी कला का आधार भारतीय विषय, अभिप्राय और प्रतीक थे।[23] यूनानी कला–शैली का कलाकारों ने भारतीय विषयों को मूर्तिमान करने में सर्वाधिक प्रयोग किया है।

गुप्तकालीन कला परंपराओं से चली आ रही कला धारा का चरमोत्कर्ष है जहाँ वैष्णव मूर्ति भी है तो शैव भी; बौद्ध है तो जैन भी । गुप्त युग में वैष्णव धर्म पराकाष्ठा पर रहा जिसके प्रमाण गुप्त शासकों द्वारा धारण किए गए उपाधियों से स्पष्ट होता है।

गुप्तयुगीन मूर्त्तियाँ देवता के ध्यान का साधन ही नहीं थीं, वे अपने आप में शिल्पी की सौन्दर्य साधना का लक्ष्य भी थी किन्तु पाल–युग में देव–मूर्तियाँ देव विशेष में ध्यान के केन्द्रीयकरण का माध्यम बनकर रह गयीं और इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु शिल्पकार ने पूर्व–निश्चित लक्षणों एवं रूढ़ियों को दृढ़ता से पालन करना आवश्यक समझा । इसके परिणामस्वरूप शिल्पी का सौन्दर्य–बोध स्वतन्त्र और सहज रूप से नहीं उभर सका । यद्यपि सुन्दर मूर्तियों में देवता निवास करते हैं, यह परम्परागत धारणा शिल्पी को लक्षणों से जकड़ी देव–काया में धार्मिक भावना के अनुकूल वातावरण की सृष्टि के ही साथ पार्थिव सौन्दर्य भरने की दिशा में भी प्रेरित करती रही । फलतः शिल्पी द्वारा कला–निरूपण में लावण्य एवं कमनीयता के उद्रेक का भरसक प्रयत्न किया गया, तथापि उसमें वह भावव्यंजकता न आ सकी जो कलाकार की सौन्दर्य–दृष्टि की उन्मुक्त उड़ान से सम्भव हो सकती है।[24]

गुप्तयुगीन मूर्ति–शिल्प में मौलिकता का जो रूप स्पष्ट होता है उसका अभाव इस युग की मूर्तियों में दृष्टिगत होता है । सौन्दर्य सर्जना हेतु शिल्पी ने अपनी प्रतिभा को कुछ अन्य दिशाओं में अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया है । उसके द्वारा नियमों के पालन के साथ–साथ ब्यौरों पर अधिक बल देने का परिणाम यह हुआ कि मूर्तियों में आभूषणों की भरमार–सी हो गई । विरागी बुद्ध को भी आभूषणों से अलंकृत प्रदर्शित किया गया । बोधिसत्त्व के रूप में तो उन्हें पहले से ही आभूषणों से युक्त प्रदर्शित किया जाता रहा। किन्तु ब्राह्मण देव–मूर्तियों को आभूषणों से सुसज्जित करने की प्रथा के प्रभावस्वरूप इस समय बुद्ध–मूर्तियों को भी आभूषणों से मण्डित किया जाने लगा । सम्भवतः इसका यह

भी कारण रहा होगा कि प्रतिमा–शास्त्रीय नियमों में बँधे रहने के कारण कलाकार मूर्ति में सौन्दर्य भरता था। अतः सौन्दर्यांकन हेतु आभूषणों का प्रयोग एक आवश्यकता के रूप में अंगीकृत हुआ है । इस शैली की मूर्तियों में किरीट, मुकुट, हार, कंगन, बाजूबन्द आदि आभूषणों का प्रदर्शन हुआ है । किन्तु आभूषण–प्रदर्शन की शिल्पी की अनियन्त्रित भावना के फलस्वरूप मूर्तियों का भाव–पक्ष कुंठित होता–सा प्रतीत होता है फिर भी शिल्पियों द्वारा निश्चयात्मक मूर्तियों में अंग–प्रत्यंगों के झुकाव के माध्यम से गतिशीलता और सजीवता लाने का प्रयास किया गया, जो काफी अंशों में सफल रहा । इस प्रकार लक्षणों में आबद्ध, अलंकरण की अतिशयता और अंग–प्रत्यंगों का चपल आभंग इस शैली की मूर्तियों की विशिष्टताएँ हैं ।[25]

इस शैली की आरम्भिक देव–मूर्तियों में मानवीय सौन्दर्य को आकर्षक रूप में उद्भासित किया गया है । देवियों की मूर्तियों में उन्नत वक्ष, क्षीण कटि, विस्तृत नितम्ब और दीर्घ जंघा के माध्यम से भारतीय रमणी–सौन्दर्य की कमनीय छवि का प्रस्तुतीकरण है । पुरूष–मूर्तियों की काया में नारी–सुलभ कमनीयता का भाव परिलक्षित होता है, जो तन्त्रवाद के प्रभाव को स्पष्ट करता है । शाक्त मत के प्रचार से शक्तियों का रूप पुरूष देव–मूर्तियों में भी ले लिया गया । बोधिसत्त्व और अन्य देवताओं की मूर्तियों में नारी–सौन्दर्य और शक्ति का समावेश हुआ है। इनका गोलाकार चेहरा, कोमल चिकनाई लिये अंग, सरस प्रवाह के साथ–साथ चौड़ा वक्ष स्थल और खड़ी मुद्रा, पुरूष और नारी के मिश्रित गुणों का सामंजस्य है ।[26]

परवर्ती बौद्ध सम्प्रदाय में ध्यानी बुद्ध अमिताभ, रत्नसंभव, अमोघसिद्धि, वैरोचन और वज्रसत्त्व से उद्भूत अनेक देवी–देवताओं की कल्पना कर ली गई। इन विविध देवताओं के स्वरूप–निर्धारण में समन्वयात्मक प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। अनेक बौद्ध–देवों का स्वरूप ब्राह्मण देवी–देवताओं से ग्रहण किया गया प्रतीत होता है । साथ ही परवर्ती युग में जो धार्मिक कट्टरता एवं द्वेष की भावना व्याप्त थी, वह इस काल की बौद्ध–मूर्तियों में उजागर हुई है । अनेक बौद्ध देवी–देवताओं द्वारा ब्राह्मण–देवताओं को अपमानित करते हुए मूर्तियों में दिखाया जाने लगा । अपराजिता, पर्णशबरी और विघ्नान्तक आदि बौद्ध देव शक्तियों द्वारा हिन्दू मंगलकारी देव गणेश को दलित करते हुए, त्रैलोक्यविजय द्वारा शिव और पार्वती को पददलित करते हुए और वज्रहुंकार के द्वारा भैरव का मर्दन करते हुए

मूर्तियों में प्रदर्शित किया गया । यही नहीं, बोधिसत्त्व के जिस उदात्त रूप की कल्पना महायान में की गई थी, वह रूप भी इस द्वेषपूर्ण मनोवृत्ति का शिकार हुआ। अवलोकितेश्वर के हरिहरिवाहनोद्भव रूप में उन्हें गरूड़ पर आरूढ़ विष्णु के ऊपर सवार कल्पित किया गया है।[27]

मूर्ति–कला के क्षेत्र में पाल–युग की कला–शैली का अपना एक विशिष्ट महत्त्व है । बिहार और बंगाल की प्रतिभा ने कला की इस नवीन शैली को जन्म दिया है, जिसे पूर्वी भारत की मगध–वंग शैली कहा गया है । पाल वंशीय शासकों के काल में इस शैली के अस्तित्व में आने के कारण इसे पालशैली नाम भी दिया गया है । तारानाथ ने इसे पूर्वी–भारतीय शैली कहा है और इसका श्रेय धीमान और उसके पुत्र वित्तपाल को दिया है । इस शैली की प्रमुख विशेषता यह थी कि मूर्तियों के निर्माण के लिये चिकने काले रंग के कसौटी वाले पत्थरों तथा धातुओं का प्रयोग किया गया है ।[28]

तारानाथ ने भी क्षेत्रीय वर्गीकरण को मान्यता दी है । इन्होंने कला में 'पश्चिमी', 'मगध' तथा 'पूर्वी' शैलियों की परंपरा को स्वीकार किया है । तारानाथ ने उन कलाकारों के नाम भी दिए हैं जिन्हें इन शैलियों के उद्भव का श्रेय था, जैसे श्रृंगधर, महीपाल, बित्पाल आदि। यद्यपि विभाजन एवं वर्गीकरण के सर्वमान्य सिद्धांतों की स्थापना दुष्कर है फिर भी राजवंशों को तिथिपरक साधन मानकर, देश एवं काल के आधार पर कलाधारा के प्रमुख आगम स्थानों का निर्धारण संभव है । अतः विशिष्ट क्षेत्र तथा प्रत्येक क्षेत्र की शासकीय परंपरा एवं तिथिपरक सीमाओं के आधार पर शैलियों की व्यवस्था निम्नांकित ढंग से की जा सकती है ।[29]

1. मगध बंग शैली : छठी सदी के उत्तरार्ध से आठवीं सदी तक; परवर्ती गुप्त एवं पालों के अंतर्गत ।
2. प्रारंभिक कलिंग शैली : छठी सदी के उत्तरार्ध से लगभग 900 ई0 तक; शैलोद्भव एवं भौमकर शासकों के अंतर्गत ।

उपर्युक्त विभिन्न शैलियाँ प्रादेशिक नामकरण पर आधारित है। अधिकांशतः ये शैलियाँ छठी सदी में स्थापित हुई। यह काल पूर्ववर्ती कला परंपरा के परिवर्तन का काल था। इसके बाद उत्तरोत्तर कला में मध्ययुगीन परंपराओं का समावेश होता गया। यद्यपि कतिपय क्षेत्रीय शैलियों का विस्तार आठवीं सदी के बाद तक है किंतु उनके प्रारंभिक काल के आधार पर इन्हें संक्रमण काल के अंतर्गत रखना

उपयुक्त प्रतीत होता है । विभिन्न क्षेत्रीय राजवंशों के आधार पर इनकी तिथियों को निश्चित किया गया है। अतः इन शैलियों के कालक्रम के निर्धारक तत्व के रूप में राजवंशों की समायोजना की गई हैं।

लगभग 900 ई. में 'क्लासिकल' प्रवृत्तियों के स्थान पर 'मध्ययुगीन' परंपरा का उत्तरोत्तर व्यापक प्रभाव स्पष्ट हुआ। तदनुसार मध्ययुगीन शैलियों के निम्नलिखित क्षेत्रीय भेद उल्लेखनीय हैं :–

1. परवर्ती मगध बंग शैली : 1000 ई. से 1245 ई. तक; पाल तथा सेन वंशों के अंतर्गत।
2. परवर्ती कलिंग शैली : 900 से 1300 ई. तक; सोमवंश एवं गंगवंश के अंतर्गत ।
3. कामरूप शैली : दसवीं सदी के उत्तरार्ध से 1227 ई. तक; असम के चंद्रवंशी शासकों के अंतर्गत ।

800 ई0 से लेकर 1200 ई0 तक इस काल–शैली में कोई विशेष मौलिक परिवर्तन दृष्टिगत नहीं होता है । वस्तुतः इसका यही प्रमुख कारण रहा है कि इस समय तक बौद्ध, ब्राह्मण एवं जैन देवी–देवताओं का स्वरूप बिखरा हुआ न होकर अपना एक निश्चित स्वरूप ग्रहण कर चुका था और शास्त्रीय नियमों में आबद्ध देवी–देवताओं के स्वरूप की मूर्तियाँ साधनमाला में दिये गये लक्षण–नियम के आधार पर निर्मित प्राप्त होती हैं । इसी प्रकार ब्राह्मण देवी–देवताओं की मूर्तियों को निर्मित करने में भी पौराणिक और शिल्पशास्त्रीय नियमों का पालन हुआ है।[30]

शारीरिक संरचना की दृष्टि से स्त्री और पुरूषों की आकृतियों में गोल और सौम्य मुखाकृति, सामान्य चौड़े और मांस–पेशियों का उतार–चढ़ाव स्पष्ट दिखायी देता है । वक्षस्थल स्वाभाविक है, उसमें मथुरा शैली के उभारपन का अभाव है। इस रूप में निर्मित मूर्तियाँ हस्तकला की अच्छी कारीगरी प्रस्तुत करती हैं, जो इस कला में श्रेष्ठ समझी जाती हैं । इस शैली में निर्मित मूर्तियाँ अधिकतर खड़ी और बैठी मुद्रा में ही हैं, जिन्हें इकहरे या दुहरे कमलासन पर स्थित दिखाया गया है। दुहरे कमलासन में नीचे स्थित कमल–पुष्प की पंखुड़ियाँ नीचे की तरफ और ऊपरी कमल–पुष्प को ऊपर की विकसित पंखुड़ियों से युक्त प्रदर्शित किया गया है । कमनीय और लचीली सुघड़–काया, सूक्ष्म–वस्त्र, नपेतुले आभरण तथा भाव–व्यंजकता गुप्तयुगीन मूर्ति–कला की विशेषता थी । पालयुगीन कलाकारों ने अपने

शिल्प में अधिकतम रूप गरिमा समेटने का प्रयास किया है तथापि उसमें यह सहज सौन्दर्य दृष्टिगोचर नहीं होता जो पूर्ववर्ती शिल्प का वैशिष्ट्य था । स्वर्णिम काल की मूर्ति–कला में देव–मूर्तियों के निर्माण सम्बन्धी शास्त्रीय लक्षण अपनी निर्माणावस्था में थे तथा शिल्पी को मूर्ति–निर्माण में अपनी सौन्दर्य कल्पना को आकार प्रदान करने का पूरा–पूरा अवसर प्राप्त था । फलतः मूर्तियाँ अतिशय रमणीय और भावव्यंजक बन पड़ी हैं।

आठवीं शती तक आते–आते देव–मूर्तियों के निर्माण–लक्षण और लांछन पूर्णतः निश्चित हो गये थे और साथ ही कलाकार की सौन्दर्यानुभूति के परिणाम भी रूढ़ हो चुके थे । पूर्वी भारत में संक्रमणयुगीन कला के प्रमुख उदाहरण बिहार, बंगाल तथा उड़ीसा के क्षेत्र से प्राप्त हैं । बिहार एवं बंगाल के प्रदेशों में विकसित शैली का नाम 'मगध–वंग शैली' माना जा सकता है । मगध–वंग शैली का प्रसार छठी सदी के उत्तरार्ध से आठवीं सदी तक हुआ । इस क्षेत्र के प्रमुख शासक थे परवर्ती गुप्त एवं पाल । प्रारंभिक कलिंग शैली का विकास छठी सदी के उत्तरार्ध से लगभग 900 ई0 तक हुआ । इस कालक्रम में मुख्यतः शैलोद्भव एवं भौमकर वंशीय शासकों की सत्ता उड़ीसा के क्षेत्र में थी ।

मगध–वंग शैली के विकसित रूप के लिए 'पूर्वी शैली' का नामोल्लेख भी प्राप्त है । इस शैली के स्वतंत्र अस्तित्व का विवरण तारानाथ (1609 ई0) के वृत्तांत में है । तदनुसार देवपाल एवं धर्म पाल नामक पालवंशीय शासकों के समय में धीमन और उसके पुत्र बित्पाल ने अनेक मूर्तियाँ विभिन्न माध्यमों (धातु, प्रस्तर आदि) में बनाई । बित्पाल का निवास–स्थान बंगाल में था । उसके अनुयायियों द्वारा बनाई गई मूर्तियों से 'पूर्वी शैली' का उदय हुआ । चित्रकला में पूर्वी शैली के प्रणेता थे धीमन । तारानाथ के इन विवरणों से बंगाल के प्राचीन कलाकारों एवं उनके अनुयायियों की सूचना मिलती है । इनके प्रयत्नों से इस क्षेत्र में एक विशिष्ट शैली की स्थापना हुई । पूर्वी क्षेत्र के कलाकार बड़े यशस्वी थे।[31]

पूर्व वर्णित तीन शैलियों (मगध–बंग शैली, कलिंग शैली, कामरूप शैली) के अर्न्तगत सम्पूर्ण बिहार की कला/प्रतिमाओं को शामिल किया गया है परन्तु मैंने जिस प्रक्षेत्र में कार्य किया है वहाँ मुझे राजनीतिक दृष्टि से पाल शासन का प्रभाव कम दृष्टिगोचर होता है, साथ ही पालों के सामानान्तर इस क्षेत्र में अन्य दूसरे राजवंशों का प्रभाव प्रतीत होता है और इस क्षेत्र की कला विशेष कर पाषाण प्रतिमाओं की कला में मगध–बंग शैली की कला को ढूंढ़ने की स्थिति में कुछ

शैलीगत अंतर भी दिखाई पड़ता है। इस अंतर को पूर्वी भारतीय शैली के बीच देखने की आवश्यकता है जो पूर्वमध्यकालीन दरभंगा प्रक्षेत्र खासकर मिथिला में विभिन्न राजवंशों के समक्ष पली बढ़ी और कर्णाट शासन के दौरान अबाध गति से चलती रही।

800 ई0 से 1200 ई0 के बीच दरभंगा प्रक्षेत्र की कला को जानने के प्रयास के लिए हमारे पास प्रकाशित सामग्रियों, विशेषकर पुस्तक/पुस्तिकाओं की संख्या अत्यल्प है और इनकी विवेचना के आयाम अपेक्षा के अनुरूप काफी संकीर्ण हैं। विजय कान्त मिश्र की पुस्तिका 'मिथिला आर्ट एन्ड आर्क्योलॉजी' एक प्रशंसनीय प्रयास है, परन्तु कला–विश्लेषण/विवेचन की दृष्टि से यह पुस्तिका बहुत कुछ कह नहीं पाती । जयदेव मिश्र की पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ बुद्धिस्ट आइकोनोग्राफी इन बिहार' ने मिथिला से प्राप्त बौद्ध मूर्तियों का उल्लेख किया है, जिसमें अपेक्षाकृत नई प्रतिमाओं का भी समावेश है, परन्तु मिश्र का यह अध्ययन बौद्ध प्रतिमाओं तक सीमित रहने के कारण मिथिला की मूर्तिकला के सम्बन्ध में सीमित उपादेयता का रह जाता है । विजयकान्त मिश्र की तरह जयदेव मिश्र की पुस्तक में भी मिथिला में पाल मूर्तियों के विकास और विस्तार के किसी विवेचन का सर्वथा अभाव है। जयदेव मिश्र ने अपनी पुस्तक में कई बौद्ध प्रतिमाओं की चर्चा की है यद्यपि इन मूर्तियों के पहचानने का इन्होंने कोई प्रयास नहीं किया है।[32]

दरभंगा प्रक्षेत्र की पाषाण प्रतिमाओं को देखने से प्रतीत होता है कि दरभंगा प्रक्षेत्र की प्रतिमाओं में क्षेत्रीय भौगोलिक प्रभाव है । इस क्षेत्र की मूर्तिकला पाल अथवा सेन कला का आंशिक प्रतिनिधित्व ही करती है। ये प्रतिमाएँ स्थानीय परिवर्तन के साथ पूर्वी शैली की परंपरा को भी स्वीकार करती है पर कला–इतिहासकारों द्वारा इस क्षेत्र की मूर्तिकला के प्रति उपेक्षा की दृष्टि भी सामने आई है। सर्वाधिक परेशानी तो मुझे यह हुई कि उत्तरी बिहार के विभिन्न हिस्सों में फैली विभिन्न प्रतिमाओं के अध्ययन के संदर्भ में कोई महत्वपूर्ण कार्य देखने को नहीं मिला। हमने अपने शोध कार्य के दौरान इस क्षेत्र से संबंधित प्रकाशित सामग्रियों का अभाव तो पाया ही, इस क्षेत्र में मूर्तियों की सामान्य जानकारी से संबंधित आलेख भी कम ही दिखे।

पूर्वी शैली के तहत परवर्ती मगध बंग शैली, पाल कला शैली की चर्चा होती है । पाल कला या पूर्वी शैली में नालंदा, गया, कुर्किहार, भागलपुर आदि गंगा के दक्षिणी हिस्से से मिली प्रतिमाओं की चर्चा सर्वत्र की गई है परन्तु गंगा के उत्तरी

हिस्से, बेगूसराय, समस्तीपुर, दरभंगा, मधुबनी, सहरसा आदि विभिन्न क्षेत्रों से प्राप्त प्रतिमाओं की चर्चा नहीं मिलती है। जबकि संभावना है कि यह क्षेत्र राजनीतिक दृष्टि से कुछ समय के लिए पालों के अधीन थे । 1097 ई0 के बाद इन क्षेत्रों पर कर्णाटों का शासन स्थापित हुआ।

पाल शैली के विस्तार के सम्बन्ध में हटिंगटन की एक और मान्यता, जिसे अभी तक व्यापक स्वीकृति मिली हुई है, का परीक्षण करना आवश्यक हो जाता है । उनका मानना है कि पाल शिल्प का नाभिकीय क्षेत्र मगध रहा था, जिसका विस्तार और विस्थापन पाल शासन के अन्त होने के उपरान्त ही अन्य क्षेत्रों में हुआ । इसका तात्पर्य यह हुआ कि अन्य क्षेत्रों के साथ ही मिथिला में भी 10वीं सदी से पूर्व की पाल शैली की बनी मूर्तियों का पाया जाना संभव नहीं है । सत्येन्द्र कुमार झा ने अपने अन्वेषण के दौरान अकौर की विष्णु प्रतिमाओं को प्रारंभिक काल का पाया । इसके अतिरिक्त विजयकान्त मिश्र की पुस्तक में भी कुछ मूर्तियों के चित्र उत्तर पाल की अपेक्षा पूर्व पालकालीन प्रतीत होते हैं, मसलन विदेश्वरस्थान और गिरिजास्थान से प्राप्त विष्णु की मूर्तियाँ एवं मधुबनी से प्राप्त उमा–माहेश्वर की प्रतिमा। अपने अन्वेषण के दौरान बाथे में इन्होंने एक उमा–माहेश्वर की मूर्ति और जरैल में एक सिंहवाहिनी दुर्गा की मूर्ति पाई, जिसे ई0 1000 की सीमा के पश्चात रखना कठिन है ।[33]

अपने शोध के दौरान मैंने पाया है कि दरभंगा प्रक्षेत्र की लगभग 10 प्रतिशत प्रतिमाएँ पूर्व कालीन है। कुछ पाल सेन कला से पृथक ईशारा करते हैं। बागमती के किनारे तिरौता नामक ग्राम, जो शिवहर जिला मुख्यालय से करीब 10 कि0 मी0 की दूरी पर अवस्थित है, से एक गणेश की मूर्ति और एक शिवलिंग प्रकाश में आए हैं। अत्यल्प अलंकरण और पृष्टपादिका (गणेश की मूर्ति के सन्दर्भ में) की बनावट के आधार पर इनके पूर्व पाल तो क्या उसके कुछ पहले के भी होने की संभावना दिखती है। चन्द्रधारी संग्रहालय दरभंगा की एक गणेश प्रतिमा गुप्तकाल की प्रतीत होती है[34] जबकि डॉ0 अमिय कृष्ण ने यहाँ से प्राप्त दोनों प्रतिमाओं को बाद के काल का माना हैं।[35] करियन (समस्तीपुर) से प्राप्त नृत्य–गणेश की मूर्ति गुप्त अथवा इसके तुरंत बाद की प्रतीत होती है। इन साक्ष्यों के आधार पर हटिंगटन की उक्त अवधारणा को स्वीकृति देना मुश्किल है। इसके विपरीत संभावना ऐसी लगती है कि पाल कला शैली जिन प्रारंभिक प्रवृत्तियों से निर्मित और परिष्कृत हुई उनमें मिथिला क्षेत्र की शिल्प–प्रवृत्तियों का योगदान रहा होगा।

जरैल की दुर्गा, तिरौता से प्राप्त गणेश और एकमुखी शिवलिंग एवं बाथे के उमा–माहेश्वर पाल शैली के प्रारंभिक दौर का प्रतिनिधित्व करते हैं। पालकालीन मूर्तियों के सम्बन्ध में जो जानकारी है, वह सीमित होते हुए भी सान्दर्भिक है, जो भविष्य में किए जाने वाले अन्वेषण–अनुसंधान के लिए पथ–निर्देशक हो सकती हैं । ऐसे ही कतिपय प्रश्नों को हम यहाँ रखना चाहते हैं कि मिथिला के सीमित क्षेत्र के अन्तर्गत पाये जाने वाली पाल–प्रतिमाओं की संख्या तो अच्छी है ही, परन्तु इनकी विविधता भी अत्यन्त प्रभावशाली है। पाल–सेनकालीन मूर्तियों के अध्ययन में मिथिला को हाशिये पर रखने की प्रवृत्ति कला इतिहास लेखन के लिए एक बेईमानी है और इसके खतरनाक परिणाम हो सकते हैं, जो शिल्प शैलियों के उद्‌भव, विकास और प्रसार के सम्बन्ध में अविश्वसनीय या निराधार सिद्धान्तों के प्रतिपादन के रूप में देखने को मिल सकते है।[36] इस प्रकार पूर्वी भारत की मगध–वंग कला–शैली में बौद्ध एवं ब्राह्मण दोनों ही धर्मों से सम्बन्धित मूर्तियों का निर्माण किया गया। वस्तुतः इस कला–शैली को धार्मिक अंश ने ओजस्वी स्वर प्रदान किया है। कलाकार की प्रेरणा पारम्परिक विधि एवं नियम से नियन्त्रित होने पर भी सौन्दर्य के प्रति सहज अनुराग से आवेष्टित है; जो मानव आकृतियों के विविध रूपों, मुद्राओं, कुहनियों एवं घुटनों के कोणात्मक मोड़, अंगों को उचित आकार तंथा मुखों को उचित अभिव्यक्ति देने में प्रस्फुटित है । साथ ही उनकी आलंकारिक प्रतिभा ने बहुरूपदर्शी नमूनों एवं अभिप्रायों का सृजन किया है। इस कला–शैली की छाप को भारत के बाहर दक्षिण–पूर्व एशिया के विभिन्न देशों की कतिपय मूर्तियों पर भी देखा गया है ।[37]

यहाँ एक प्रश्न उपस्थापित होता है कि क्या 800–1200 ई0 (पूर्व मध्य काल) में दरभंगा प्रक्षेत्र में बनी विभिन्न प्रकार की शताधिक मूर्तियाँ पाल शैली की नहीं है ? इन मूर्त्तियों पर कर्णाटों के या अन्य क्षेत्रीय प्रभाव भी पड़े हैं ?

दरअसल, दक्कन एवं दक्षिण भारत में छठी के उत्तरार्द्ध से आठवीं सदी तक वेंगी के पूर्वी चालुक्यों एवं बादामी के पश्चिमी चालुक्यों के अंतर्गत आन्ध्र कर्णाट शैली विकसित हुई । 973 ई0 से 1189 ई0 तक कल्याण के पश्चिमी चालुक्यों के अंतर्गत उत्तरी कर्णाट शैली और 1110 से 1291 ई0 तक द्वार समुद्र के होयसलों के अंतर्गत दक्षिणी कर्णाट शैली के क्षेत्रीय भेद उपलब्ध होते हैं ।[38] 1097 ई0 1324 ई0. तक उत्तर बिहार में कर्णाटों के शक्तिशाली राज्य स्थापित थे । उत्तर बिहार में स्थापित शासन के साथ ही दक्षिण बिहार के कुछ क्षेत्रों को

भी प्रभावित किया। सत्येन्द्र कुमार झा के मिथिला की पाल प्रतिमाएं से संबंधित आलेख में दरभंगा प्रक्षेत्र की पाषाण प्रतिमाओं को उक्त समझा जा सकता है। निःसंदेह आलेख में उठाए गए प्रश्न विचारणीय हैं।

इस क्षेत्र की पुरातात्विक संभावना के प्रति उपेक्षा की दृष्टि और नकारात्मक मानसिकता इतिहासकार और पुरातत्वविद् एक सरीखे ही अपनाते आ रहे हैं। इस दृष्टि से पाल–सेनकालीन मूर्तिकला (जिसे पाल शैली के रूप में जाना जाता है) शायद सबसे ज्यादा प्रभावित रहा है । पाल शिल्पकला की निष्णात विदुषी एल0 एल0 हंटिंगटन का दृष्टिकोण इस मानसिकता को समझने का एक अच्छा जरिया हो सकता है। इन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ पाल–सेन स्कूल ऑफ स्कल्पचर्स में मिथिला तो क्या, सम्पूर्ण उत्तर बिहार के पाल मूर्तियों में से किसी एक पर भी चर्चा करना उचित नहीं समझा । अपने तीन सौ पृष्ठ के व्यापक ग्रंथ में इन्होंने इस व्यापक क्षेत्र (उत्तर बिहार) के सम्बन्ध में मात्र तीन पंक्तियों में उल्लेख करना ही यथेष्ट समझा और यह उल्लेख भी तथ्यतः अत्यन्त सरलीकृत वक्तत्य हैं। प्रस्तुत प्रसंग में उपेक्षा की प्रवृत्ति जो हंटिंगटन के वक्तव्य से आभासित होती है। वह उन तमाम ऐसे विद्वानों पर भी लागू होती हैं जो पुरातत्व और प्राचीन कला के गर्मज्ञ रहे हैं, जिनमें बिहार पर कार्य करने वाले पुराविद् भी सम्मिलित हैं। हंटिंगटन का एक अन्य और व्यापक रूप से स्वीकृत प्रमेय यह है कि पाल शैली का विस्तार ब्राह्मण धर्म के पुनरूत्थान के साथ हुआ । दसवीं सदी के पश्चात् बौद्ध धर्म का ह्रास हुआ और मगध में पाल शैली के शिल्प–केन्द्र, जो अभी तक मगध क्षेत्र में ही सीमित रहे थे, नष्ट होने लगे । ब्राह्मण धर्म के पुनरूत्थान ने न केवल नए देवताओं का अंकन इस शैली के आधार पर किया, बल्कि इसमें शिल्प की दृष्टि से भी कई नए आयाम जोड़े । परन्तु मिथिला से प्राप्त मूर्त्तियों के अनुभव सर्वथा भिन्न हैं। स्पष्ट है कि नई खोजों को दृष्टि में रखकर नई मान्यताओं का निर्माण अब अपेक्षित हो गए हैं । सम्भावनाओं को दृष्टि में रखकर हमें आगे के अन्वेषण को दिशा और गति देनी होगी । मिथिला से प्राप्त होने वाली मूर्तियों की विशिष्टताओं को गहनता से पड़तालने और पहचानने के प्रयास होने चाहिए और उनका पाल शैली के नाभकीय क्षेत्र से क्या सम्बन्ध रहे थे, उन्हें रेखांकित करने की कोशिश होनी चाहिए । इन प्रयासों के अभाव में, मिथिला की शिल्प–कला की उपलब्धियों को हाशिये से उठाकर कला–अनुसंधान की मुख्यधारा में लाना मुश्किल होगा।[39]

पाषाण प्रतिमाओं की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का आधार दरभंगा प्रक्षेत्र में काफी प्राचीन प्रतीत होता है। पूर्व मध्यकालीन संस्कृति का एक प्रमुख केन्द्र के रूप में दरभंगा प्रक्षेत्र तो रहा ही है साथ ही साथ इस क्षेत्र में विखरी हुई पाषाण प्रतिमाए इस क्षेत्र के क्षेत्रीय इतिहास और संस्कृति के मौलिक स्वरूप को भी वैज्ञानिक कसौटी पर कलात्मक, धार्मिक, शास्त्रीय आदि रूपों में भी परिवद्धित करता रहा है । जिस किसी स्थल से पाषाण प्रतिमा की प्राप्ति हुई है, कमोवेश ये महत्वपूर्ण स्थल सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के आधार स्तम्भ हैं ।

वैष्णव, शैव, शाक्त, बौद्ध आदि विभिन्न प्रतिमाएँ इस सम्पूर्ण क्षेत्र की समृद्ध ऐतिहासिकता एवं संस्कृति के आधार स्तम्भ हैं। विभिन्न धर्मो की प्रतिमाएँ सामाजिक समरसता के भी परिचायक हैं। इस पूरे प्रक्षेत्र में सांस्कृतिक इतिहास का क्रमबद्ध अध्ययन किया जा सकता है। क्षेत्रीय इतिहास में महत्वपूर्ण जानकारियों से हम रू–ब–रू हुए हैं । मिथिला की पाषाण प्रतिमाएँ पुरातात्विक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण एवं सांस्कृतिक आधार प्रस्तुत कर नई दिशा प्रदान करती है । इसके बाबजूद विभिन्न प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करने के लिए पुनः पुरातात्त्विक आधार का सर्वेक्षण एवं विश्लेषण किया जाना प्रतीत होता है ।

पूर्व से कई स्थलों के नाम इतिहास में चले आ रहे हैं कुछ नाम नए भी जुड़े है और कुछ लुप्त भी हुए है। मिथिला मिहिर के मिथिलांक (1936) में मिथिला के तीर्थ स्थल के रूप में कुल 49 स्थलों का जिक्र किया गया है । इसमें क्रम संख्या 1 से 5 तक कुछ प्रसिद्ध तीर्थ; 6 से 17 तक देवी तीर्थ, 18 से 42 तक शिव तीर्थ, 43 से 49 तक अन्य तीर्थ नामक शीर्षक के अन्तर्गत विविध विषय भाग में शामिल है ।

मिथिलांक[40] में वर्णित स्थल है :–

1) जनकपुर – जनक की राजधानी ।
2) श्री क्षेत्र – मुजफरपुर 'पुनौरा' ग्राम, लखनदेई नदी तट
3) सीतामढ़ी – लखनदेई नदी समीप
4) श्रीगिरिजास्थान – फुलहर गाँव, जनक की कुलदेवी गिरिजा स्थापित
5) अहल्या स्थान – अहियारी गाँव
6) श्री दुर्गास्थान – उच्चैठ गाँव
7) श्री राजेश्वरी स्थान – डोकहर गाँव, गौरी शंकर
8) श्री भुवनेश्वरी स्थान – भगवतीपुर गाँव

9) श्रीभद्र कालिकास्थान – कोइलख गाँव
10) श्री योगनिद्रा स्थान – भारी गाँव (नेपाल) खिरोई नदी के समीप
11) श्री कालिकास्थान – सखरा गाँव (नेपाल) अंकुक्षि (पणुआमय) नदी किनारे
12) श्रीचामुण्डास्थान – पचही गाँव
13) श्रीउग्रतारा स्थान – वनगाँव महिषी गाँव, जड़्घिका (धेमुड़ा) नदी तट
14) श्री जयमड्गला – भागलपुर
15) श्री चण्डीस्थान – चण्डीपुर गाँव (भागलपुर, अंकुक्षि नदी तट)
16) कात्यायनी स्थान – काष्ठवन (मुंगेर)
17) कामाख्या तीर्थ – पूर्णिया
18) श्री शिलानाथ – कमला नदी तट
19) श्री कपिलेश्वर स्थान – मधुबनी
20) श्री कूपेश्वर – जयनगर
21) श्री कल्याणेश्वर – कलना गाँव
22) श्री जलेश्वर –नेपाल, विरजा नदी तट
23) श्री क्षीरेश्वर – नेपाल, कोराड़ी परगना के वन में
24) श्री मिंथिलेश्वर – जनकपुर (नेपाल) के कुसुमा ग्राम में
25) श्री भैरवनाथ – राज खण्ड (मुजफरपुर) लखनदेई नदी के तट पर
26) श्री हरिहर स्थान – जनकपुर के पूर्वभाग में
27) श्री हलेश्वर – नेपाल के महतरी प्रगन्ने
28) श्री भुवनेश्वर – नाहर गाँव
29) श्री चण्डेश्वर – हटही गाँव, बलान नदी के किनारे
30) श्री कुशेश्वर – रौता गाँव, जीवछ नदी के किनारे
31) श्री कामदानाथ – उच्चैठ गाँव
32) श्री मणीश्वर –मनमा ग्राम मुजफरपुर में खिरोई नदी तट पर
33) श्री ईशानाथ – मिहिला प्रगना के दवामी गाँव
34) सिंहेश्वर स्थान – मधेपुर (भागलपुर)

35) विद्यापति मठ – बाजितपुर स्टेशन
36) उग्रनाथ – भवानीपुर
37) अजगबीनाथ – सुल्तानगंज
38) मन्दारमधूसूदन – बौसी
39) बूढ़ानाथ – भागलपुर
40) गैबीनाथ – मुंगेर
41) मदनेश्वर स्थान – पूणिया जिला
42) थानेश्वर – समस्तीपुर
43) धनुषास्थान – कुसुमागाँव (नेपाल) के समीप यमुनी के तट पर
44) विधि स्थान (विथान) – रोसड़ा स्टेशन से पूर्व, ब्रह्मा की मूर्त्ति
45) याज्ञवल्क्य आश्रम – कुसमा गाँव (नेपाल)
46) गौतमाश्रम – ब्रह्मपुर गाँव (दरभंगा) में खिरोई नदी तट पर
47) वाल्मीक्याश्रम – नेपाल सप्तरी प्रगले में मण्डना लक्ष्मणा संगम पर
48) कौशिकाश्रम – कोशी गाँव (नेपाल)
49) विभाण्डकाश्रम – योगिवन (जगवन वर्तमान नाम) में विरजा नदी तट पर स्थित बताये गये हैं।

मिथिला संस्कृति एवं परम्परा[41] नामक पुस्तक में मिथिला के पुरातात्विक स्थल के निम्नलिखित नाम है :– करेह नदी के किनारे कोपगढ़, मंगलगढ़, करियन की चर्चा हैं, प्रारंभिक ऐतिहासिक बस्तियों के रूप में बलिराजगढ़, कोपगढ़, मंगलगढ़, नौलागढ़, जयमंगलागढ़ की चर्चा है तो पूर्वमध्यकालीन गढ़ के रूप में अंधराठाढ़ी, अकौर, बिस्फी, बहेरा की चर्चा की गई हैं । अन्य स्थलों में –

1) बिसफी
2) अकौर
3) उच्चैठ
4) कपिलेश्वर
5) मंगरौनी
6) बलिराजगढ़
7) राजेश्वर
8) अंधराठाढ़ी
9) जड़िसेन
10) पस्टन
11) भौरागढ़
12) अहियारी
13) पंचोभ
14) कोपगढ़

15) बहेड़ा 16) मंगलगढ़
17) करियन 18) पाण्डव स्थान
19) नौलागढ़ 20) बीरपुर–वरियारपुर
22) सांख 23) संघौल
24) अन्य स्थलों में बेगूसराय का कंकौल–विष्णु
25) मोहनपुर – विष्णु 26) रजौरा – वराह
27) पंचबा – चामुंडा 28) उलाव एक मुखी शिवलिंग की चर्चा मिली हैं । इसी पुस्तक में मिथिला के बौद्ध स्थल[42] के रूप में कुछ नामों की चर्चा है, जिसमें:–

1) आपण 2) भद्दिय नगर
3) मिथिला 4) यवमज्झक
5) गोकुलांक बिहार 6) मिथिलुथ्यान
7) मखादेव अंववन 8) वैशाली
9) जंवूगाम 10) नागवन
11) आतिक 12) गग्गलिगान
13) कोटिगाम 14) हथ्थिगाम
15) कपिननच्चना 16) कलंदक गाम
17) भंडगाम 18) बेलुव
19) उक्ताचेला 20) जयकच्छक
21) अंबगाम 22) कूटागारशाला
23) सुविदेहा 24) बलिराजगढ़
25) पष्टन नवटोली 26) अंधराठाड़ी
27) विदेश्वरस्थान 28) मनपौर
29) असूरगढ़ 30) जंथरि
31) कोपगढ़ 32) मंगलगढ़
33) पांड़ 34) करियन
35) जयमंगलागढ़ 36) नौलागढ़
37) संघौल 38) वनगांव

39)	बराटपुर	40)	महिषी
41)	कटरा	42)	सकलीगढ़
43)	सिकलीगढ	44)	वायसी गढ़ी
45)	कोल्हुआ	46)	केसरिया
47)	लौरिया अरेरज	48)	लौरिया नंदन गढ़
49)	रमपुरमा	50)	श्वेतपुर (चेचर)
51)	हाजीपुर के नाम हैं ।		

राम प्रकाश शर्मा द्वारा लिखित मिथिला का इतिहास[43] में निम्नलिखित महत्वपूर्ण स्थानों की चर्चा की गई हैं :–

1)	उच्चैठ एवं कालिदास	2)	विराटपुर वा वनाटपुर
3)	गाण्डीवेश्वर तथा वाणेश्वर	4)	बलिराजपुर
5)	पंडौल	6)	भवानीपुर
7)	वाजितपुर का विद्यापति नगर	8)	ब्रह्मपुर अथवा ब्रह्मपुरी
9)	अहियारी	10)	रतनपुर
11)	विसाल एवं फुलहर	12)	कपिलेश्वर स्थान
13)	हुलासपट्टी, चतुर्भुज पिपराही तथा मधुवन की चतुर्भुज मूर्तियाँ	14)	सीतामढ़ी
15)	हलेश्वर स्थान	16)	पंथपाकर
17)	नानपुर	18)	पुनौरा
19)	देकुली	20)	कटरा
21)	ओइनी	22)	विसफी और सौराठ
23)	नौलागढ़	24)	जयमंगलागढ़
25)	अलौलीगढ़	26)	लोहना और सकरी
27)	पूसा, बथुआ एवं पहाड़पुर	28)	करियन और उदयनाचार्य

29)	ढाड़ी और वाचस्पति मिश्र	30)	जगवन अथवा योगवन का याज्ञवल्क्य आश्रम
31)	कछरा एवं कीचक	32)	सुगौना
33)	पाही टोल सरसों	34)	सुग्गा ग्राम
35)	धनुषा	36)	रीगा, अथरी, यजुआर, माउबेहट तथा भट्टसिम्मरि वा भट्टपुरा
37)	दरभंगा	38)	जनकपुर
39)	रजवाड़ा	40)	मंगरौनी
41)	भौर	42)	महिष्मति अथवा महिसी
43)	भटट्पुर	44)	मोनापुर
45)	श्रृंगीश्वर या सिंहेश्वर स्थान	46)	दुर्वासा आश्रम
47)	जहु आश्रम एवं सुल्तानगंज ।		

एस० एन० सत्यार्थी–जी द्वारा इस सम्पूर्ण क्षेत्र के विभिन्न ऐतिहासिक स्थलों एवं मूर्त्तियों की चर्चा दर्शनीय मिथिला[44] नामक पुस्तक में की गई हैं, जिनके नाम निम्नलिखित हैं :–

1)	कोर्थ	2)	बोरवा
3)	कनहई	4)	पोखराम और लदहो
5)	साहो (परारी)	6)	इटवा–शिवनगर
7)	हाबीडीह	8)	देकुली
9)	अन्दामा	10)	असगाँव – धर्मपुर
11)	दरभंगा शाहर	12)	तारालाही
13)	डिलाही	14)	रामपुर
15)	सिमरिया भिण्डी	16)	अरई
17)	सवास	18)	रतनपुर
19)	वनवारी	20)	गन्धवारी
21)	जरहटिया	22)	भैरव बलिया
23)	भंडारिसम (मकरन्दा)	24)	नेहरा

25)	हावी भौआर	26)	धरौरा
27)	बहेड़ा	28)	रूपनगर
29)	सोनहद	30)	अहिरैन
31)	पाली	32)	तुमौल
33)	छर्रापट्टी .	34)	बुढ़ेव
35)	बैद्यनाथपुर	36)	तिलकेश्वर स्थान
37)	वरसाम	38)	रहुआ संग्राम
39)	भीठ भगवानपुर	40)	महादेव मठ
41)	भजनाहा (पथराही)	42)	बलिराजगढ़
43)	अन्धराठाढ़ी	44)	रखवारी
45)	पस्टन	46)	परसा
47)	विष्णु वरूआर	48)	तिरहुता
49)	गिरिजा स्थान	50)	उच्चैठ
51)	दामोदरपुर	52)	भोजपरौल
53)	अकौर	54)	डोकहर
55)	सौराठ	56)	मडरौनी
57)	कोइलख	58)	भगवतीपुर नाहर
59)	जमथरि	60)	लोहना
61)	विदेश्वर स्थान	62)	उजान
63)	नदियामी	64)	लहेरियासराय शिव मंदिर
65)	होरलपट्टी	66)	बाथो
67)	सुपौल – बिरौल	68)	शाहपुर गोनौन
69)	मदरिया	70)	महिया
71)	खड़ड्क	72)	अवाम
73)	हुलासपट्टी	74)	इटहरवा
75)	भवानीपुर	76)	जितवारपुर (हरिनगर)
77)	कालिकापुर	78)	नरार
79)	जयनगर	80)	वसुदेवा

81) बसौनी – भरिहर 82) वारी
83) सिरूआ – मनोरडीह 84) वनगाँव (भगवती स्थान)
85) महिषी 86) शिवनगर (गाण्डीवेश्वर स्थान)
87) नगरडीह 88) देकुली
89) भगवती स्थान नवादा 90) भच्छी की त्रिमूत्ति
91) भरौड़ा या भरवाड़ा 92) विसपी
93) कपिलेश्वर स्थान ।

मिथिला शोध संस्थान से प्रकाशित पुस्तक[45] में मिथिला के मंदिरों का प्रादूर्भाव एवं स्वरूप शीर्षक में सत्य नारायण ठाकुर के द्वारा निम्नलिखित स्थलों की चर्चा की गई हैं । ऐसी संभावना लगती है कि इन नामों में से अधिकांश स्थलों के नाम मिथिलांक[46] से लिए गए हैं ।

1) श्री शिलानाथ – कमला तट, जनकराजा के पूर्वी द्वार, जयनगर
2) कपिलेश्वर स्थान – रहिका से तीन मील पूरब मधुवनी से 6 मील पश्चिम
3) श्री कूपेश्वर – जयनगर स्टेशन से द0 पू0 अवस्थित
4) कल्याणेश्वर – बासोपट्टी के कलना गाँव में
5) श्री जलेश्वर
6) श्री मिथिलेश्वर
7) श्री भैरब नाथ
8) हरिहर स्थान
9) श्री भुवनेश्वर – नाहर वस्ती (मधुबनी)
10) श्रीं चण्देश्वर – हटरी ग्राम (झंझारपुर) वलान नदी तट
11) कुशेश्वर स्थान – जीवछ नदी तट पर रउता बस्ती में
12) उच्चैठ के कामदानाथ महादेव – अर्द्धनारीश्वर शिवलिंग
13) श्री मनिश्वर नाथ – जोगियारा स्टेशन के समीप खिरोई नदी तट
14) श्री गरीब नाथ
15) श्री ईशनाथ
16) सिंहेश्वर स्थान
17) विद्यापतिमठ वाजितपुर

18) अजगैबीनाथ
19) बूढ़ा नाथ मंदिर
20) मुण्डेश्वनाथ
21) थानेश्वर स्थान – समस्तीपुर स्टेशन से पश्चिम
22) नवरत्न मंदिर – कर्णाट वंशीय राजा शिवसिंह द्वारा मिर्जापुर में स्थान
23) सोमेश्वर –मोतिहारी के अरेराज में स्थित
24) सुकेश्वरस्थान
25) सोमनाथ – मधुबनी के सौराठ में स्थित ।

शाक्त तीर्थ स्थलों के रूप में निम्नलिखित की चर्चा की गई हैं ।

1) जनकपुर –नेपाल
2) श्री क्षेत्र – सीतामढ़ी के पुनौरा में लखनदेई नदी तट पर स्थित
3) गिरिजा स्थान
4) अहिल्यास्थान
5) भगवती स्थान अकौर
6) डोकहर
7) भुवनेश्वरी – भगवतीपुर
8) श्री भद्रकालिका स्थान – कोइलख
9) बूढ़ी माई स्थान – मंगरौनी
10) योगनिन्दा स्थान – नेपाल
11) चामुण्डा स्थान – बेनीबाद (दरभंगा – मुजफरपुर सड़क)
12) जयमंगला स्थान – बेगूसराय
13) श्री चण्डी स्थान – भागलपुर के चण्डीपुर गांव
14) कात्यायनी स्थान – मुंगेर के काष्ठवन में स्थापित
15) पूरण देवी अथवा पूर्ण देवी – पूर्णियां
16) जवालामुखी देव – बेनीपुर (दरभंगा) के कुशरौड़ ग्राम में स्थापित
17) म्लेच्छमर्दिनी माँ – मिर्जापुर (दरभंगा)
18) काली मंदिर – राजनगर (मधुबनी)
19) सिंहासन स्थान – नवादा (बेनीपुर)

20) वनाशोभगवती – मनिगाछी (दरभंगा)
21) कालीबाग – धकजरी (बेनीपट्टी)
22) कंकाली काली – राम बाग (दरभंगा)
23) माधवेश्वर परिसर – दरभंगा
24) सतीमाई स्थान – शुभंकरपुर (दरभंगा)
25) काली मंदिर – सैदनगर (लहेरियासराय)
26) तारा मंदिर एकमीघाट – सैदनगर (लहेरियासराय)
27) विष्णु तीर्थ – नेपाल वराह क्षेत्र
28) मंदार मधुसूदन – बौंसी (भागलपुर)
29) चतुर्भुजी विष्णु – अकौर (मधुबनी)
30) राम मंदिर नरगौना – दरभंगा
31) विष्णु मंदिर – अकौर (मधुबनी)
32) उग्र तारा स्थान – सहरसा

सूर्य मंदिर :–

1) सूर्य मंदिर – कन्दाहा
2) झंझारपुर का सूर्य मंदिर
3) कन्दर्पीघाट स्थित सूर्य मंदिर
4) अकौर का सूर्य मंदिर की चर्चा की है ।

डाईरेक्ट्ररट ऑफ ऑर्कियोलोजी (पुरातत्व निदेशालय), बिहार के सदस्यों[47] एवं डा0 डी0 के0 चक्रवर्ती, फैकेल्टी ऑफ ओरियन्टल स्टडीज (कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय) द्वारा उत्तर बिहार में किए गए अन्वेषण कार्य से जानकारी मिलती है कि पाल कालीन वस्तुएं उत्तर बिहार में बहुतायल स्थानों पर बिखरी हुई हैं । ये मुख्यतः दरभंगा एवं मधुबनी जिले के डुमरा, अकौर, उच्चैठ, मानपुर, दुरगौली, देवपुरा, धगजरी, कोपागढ़, मिरारवान, कपिलेश्वर, राजेश्वर, मंगरौनी, बालानी, कथुना डीह, नवदेवनाडीह, सहारणडीह, बहेरा, वलिराजगढ़, अंधराढ़ाड़ी, पस्तन, नवाटोली, बाढ़पोखरा, राजनगर एवं पाण्डवगढ़ । पालकालीन इन स्थलों से एक महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त की जा सकती है कि लगभग सभी स्थल एक मार्ग द्वारा एक दूसरे से जुड़े हुए थे । इसी मार्ग से स्थानीय व्यापार भी संभव रहा होगा। वर्त्तमान सीतामढ़ी, मधुबनी सड़क का बहुत ही पुराना इतिहास है । पालकालीन स्थल पुपरी से मधुबनी तक इसी मार्ग के इर्द–गिर्द बिखरे पड़े हैं । अहिल्या

स्थान, डुमरा, उच्चैठ, दुगौली, अकौर, देवपुरा, धगजरी, कपिलेश्वर और मंगरौनी जैसे स्थल इस सड़क के दोनों ओर पड़ते हैं।[48]

मिथिला मिसलेनी[49] में धर्मेन्द्र कुमर ने भीठ भगवानपुर, छर्रापट्टी, रघैपुरा (असगांव, धर्मपुर) रखवारी, कन्दाहा में सूर्य की चर्चा की हैं। ए हिस्ट्री ऑफ बुद्धिस्ट आइक्नोग्राफी इन बिहार[50] में जयदेव मिश्र ने सेक्शन III में रेयर बुद्धिष्ट डीटीज इन तिरभुक्ति (नार्थ बिहार) में विभिन्न स्थलों की चर्चा की है, जिसमें चौगांमा, मनपौर, विदेश्वर स्थान को महत्वपूर्ण मानते हुए अन्य बीस बौद्ध स्थलों की चर्चा की है। इन बौद्ध स्थलों में

1) ठाड़ी (अंधरा ठाड़ी)
2) पस्टन
3) वाचस्पति नगर
4) भागीरथपुर (पण्डौल)
5) बहेरा
6) अहिल्या स्थान
7) शिवसिंह गढ़ (दरभंगा)
8) नारायणपुर (लोहना स्टेशन)
9) भच्छी
10) सकरी – मनीगाछी (मधुबनी)
11) बलिया – विक्रमपुर (मधुबनी)
12) फिरोजगढ़ (निर्मली)
13) बलिराज गढ़
14) करियन
15) जयमंगल गढ़ (समस्तीपुर)
16) हसनपुर (निजी संग्रहालय)
17) नौलागढ़ (बेगूसराय)
18) चौगामा (बहेड़ी)
19) राजनगर
20) मकरनपुर (जयनगर) हैं।

मिथिला के मंदिर, गढ़ एवं पुरातत्व[51] नामक पुस्तक में अधिकांशतः मधुबनी जिले में स्थित मंदिर, गढ़ एवं मूर्तियों के अलावे पुरातात्विक महत्व की चर्चाऐं हैं । इनके द्वारा दिए गए स्थलों की सूची में राज राजेश्वरी, सौराष्ट्रे सोमनाथंच, माधवेश्वर मंदिर, उर्वशीनाथ रहिका, रहिकेश्वरी मंदिर, महंकार बाबा, कपिलेश्वर शिवालय, वन दुर्गा, उग्रनाथ शिवालय, वाणेश्वर भगवती, बलिराजगढ़, मंगरौनी, कोइलख, नाहर भगवतीपुर, भौड़ागढ़, गंगा सागर, राजनगर, बरूआर, बसुआरा, सप्ता, दुदाही, बलिया, सरिसब पाही, शंभुआर, विसफी, भैरवा, जगवन, अहियारी, पाली, उच्चैठ, जगत, फुलहर, कमतौल, अकौर, उत्तरा, शिवनगर, भोज पण्डौल, बेनीपट्टी, सलेमपुर, गम्हरिया, बिसौल, कल्याणेश्वर, जनकपुर, शिलानाथ, जय नगर, अर्धावा, ब्रह्मपुर, सखड़ा भीठ भगवानपुर, अंधराठाढ़ी, देवहार लोहना, विदेश्वर स्थान, बेला (खुटौना), रखवारी, मदनेश्वर स्थान, सरड़ा, परसा, हुलासपट्टी, हरड़ी, असुरगढ़, जमुथरि, बलिया, रहुआ, संग्राम, नवानी, कंदर्पीघाट, मैवी, लखनौर शामिल हैं । मिथिलाक खोज नामक शीर्षक में[62] स्थलों की चर्चा की गई हैं ।[52]

ऐसा प्रतीत होता है कि उपरोक्त सभी स्थलों के नाम एक दुसरे जगह से लिए गए हैं तथा श्री रामनिरेषण मिश्र, एस0 एन0 सत्यार्थी, सुनील कुमार मिश्र आदि लोगों ने क्षेत्र भ्रमण कर अपने–अपने पुस्तकों में स्थलों को स्थान दिया हैं। शोध कार्य करने के दौरान ही इस सम्पूर्ण प्रक्षेत्र के ऐतिहासिक एवं पुरातात्विक पुरावशेषों के अन्वेषण का कार्य पटना स्थित काशी प्रसाद जायसवाल शोध संस्थान ने अन्वेषकों द्वारा कराया जिसमें मैं भी दरभंगा तथा मधुबनी जिला में एक अन्वेषक रहा हूँ और अन्वेषण के दौरान विभिन्न पूर्व मध्यकालीन महत्वपूर्ण स्थलों तथा प्रतिमाओं की खोज की है जो पहले कभी चर्चा में नहीं आए थे । इस अन्वेषण कार्य के क्रम में मुझे दरभंगा प्रक्षेत्र के प्रतिमाओं की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को अभिज्ञात करने का सुअवसर मिला ।

पिछले एक दशक में इस क्षेत्र से कई महत्वपूर्ण मूर्तियाँ मिली है, जिनमें से कुछ उदाहरण के रूप में निम्नांकित है :– 6.1.2001 को नाहर के भूमिहार टोल में नाहर निवासी शोभा कान्त तिवारी को गेहूँ पटवन के दौरान एक प्रतिमा मिली, जिसे दुर्गा प्रतिमा कहा गया। 22.01.07 को रथौंस नामक जगह में विष्णु की एक स्थानक प्रतिमा प्रकाश में आई। 12.05.08 के एक समाचार पत्र के अनुसार कटहरा गाँव स्थित अधवारा समूह की धौंस नदी के समीप मिट्टी काटने

के दौरान एक शिवलिंग प्रकाश में आया । दरभंगा जिला स्थित बड़की समैला के सनैया डीह से 11.4.2009 को विष्णु की स्थानक प्रतिमा प्रकाश में आई तो 9. 05. 2009 के आस पास महमदपुर गाँव (मधुबनी) से खंडित प्रतिमा संभावना विष्णु, 10.11.2009 को सिंहवारा के सनहपुर पंचायत के बिठौली गाँव से बालदेव मल्लिक को खेत से विष्णु की 3′ लम्बी प्रतिमा मिली, जिसकी जानकारी समाचार पत्र में 11.11.2009 को आई। बासोपट्टी के हरलाखी प्रखंड के कलना गांव स्थित सूख चुके दामेश्वरी तालाब की खुदाई के समय उमा माहेश्वर की एक मूर्ति 04. 05.2010 को मिली ।

वर्ष 2011 में भी कई प्रतिमाएं निकली है जिसमें मुख्य है – मधवापुर प्रखण्ड (मधुबनी जिला) के सलेमपुर गाँव स्थित बरही पोखर से 16 जनवरी को करीब दो क्विंटल बजन की 5′x3.5′ की एक स्थानक विष्णु प्रतिमा मिट्टी काटने के दौरान मिली । इसके पूर्व इसी गाँव से 6 मार्च 2009 को सगही पोखर से मिट्टी कटाई के दौरान करीब डेढ़ क्बिंटल बजन की वराह अवतार की विष्णु प्रतिमा मिली थी । खजौली प्रखंड के चतरा गोबरौरा उत्तरी पंचायत के मरूकिया गांव के रौआहा पोखर से मिट्टी खुदाई करते समय साढ़े पाँच फुट ऊंची और दो फुट चौड़ी एक विष्णु प्रतिमा 2 फरवरी, को बुधवार अपराह्न में मिली । 11 अप्रैल 2011 सोमवार के दोपहर में ढाई फीट लंबी और दो फीट चौड़ी विष्णु प्रतिमा जाले प्रखंड (दरभंगा जिला) के मस्सा पंचायत के धनकौल गांव के मोहना पोखर से मिट्टी खुदाई के क्रम में मिली।

दो मई 2012 को दरभंगा जिले के केवटी थाना क्षेत्र के खिरमा पंचायत अंतर्गत वेनवारा गांव के दीवाकरा तालाब से विष्णु की स्थानक प्रतिमा मिली । पुनः इसी तालाब से चार जुलाई 2012 को विष्णु के वराह रूप की अभिलेख युक्त अद्भूत प्रतिमा मिली। सितम्बर 2014 में जरहटिया से बुद्ध का मस्तक मिला, जिसका धड़ वर्षों पूर्व मिला था। यह धड़ दरभंगा जिले के संग्रहालय में रखा हुआ है।

वर्ष 2014 के दिसम्बर एवं 2015 के जनवरी में मधुबनी जिला के अन्तर्गत ढाड़ी ग्राम से क्रमशः सूर्य एवं विष्णु की प्रतिमा मिट्टी काटने के दौरान मिली। समस्तीपुर जिले के सराय रंजन–प्रखंड के माली डीह व धनवारा डीह के खेतों से खेती के दरम्यान अप्रैल के महीने में पुराने ईंट, मूर्तियाँ, पत्थर के वर्त्तन आदि प्रकाश में आए। महात्मा बुद्ध एवं यक्षिणी की मूर्त्ति भी निकल चुकी है। सतही तौर पर कई प्रकार की मूर्त्तियाँ प्रकाश में आई हैं। उजियारपुर के नजदीक खरतुआ डीह से विष्णु एवं उमा–महेश्वर की प्रतिमाएँ मिली।

निः संदेह सम्पूर्ण दरभंगा प्रक्षेत्र में पाषाण प्रतिमाओं की ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की शानदार एवं गौरवशाली परंपरा विद्यमान रही हैं । इस प्रकार दरभंगा प्रक्षेत्र की पाषाण प्रतिमाओं की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि जहाँ कोमल मन से कठोर तप तक, बौद्धिक विकास से कलात्मक अभिव्यक्ति तक का परिचय कराती है वहाँ पुरातात्विक साक्ष्य इन्हें मूर्त्त स्वरूप प्रदान करते हैं । बहुमूल्य पुरातात्त्विक निधियाँ दरभंगा प्रक्षेत्र समृद्ध सांस्कृतिक परम्परा को सम्पुष्ट करती है।

पाद टिप्पणी

1) अरविन्द कुमार सिंह, प्राचीन भारतीय मूर्तिकला एवं चित्रकला, भोपाल पृ0–1
2) रमानाथ मिश्र, भारतीय मूर्तिकला का इतिहास, पृ0–27–28
3) उपरोक्त
4) अरविन्द कुमार सिंह, प्राचीन भारतीय मूर्तिकला एवं चित्रकला, भोपाल पृ0–3
5) वृज भूषण श्रीवास्तव, प्राचीन भारतीय प्रतिमा विज्ञान एवं मूर्तिकला, वाराणसी पृ0–235
6) जितेन्द्र नाथ बनर्जी, दि डेवलपमेंट ऑफ हिन्दू आइकोनोग्राफी पृ0–36–70 वासुदेव शरण अग्रवाल, भारतीय कला, वाराणसी पृ0–48–65
7) वृज भूषण श्रीवास्तव, प्राचीन भारतीय प्रतिमा विज्ञान एवं मूर्तिकला, वाराणसी पृ0–5–11
8) कान्चनी मम पत्नी च दीक्षायज्ञांश्च कर्मणि ।। वा0 रा0 उ0 कां0 91/5/25
9) महा0 स्त्रो0 पं0 12/5/23
10) श्रीमद भा0 10/48/31
11) श्रीमद भा0 11/27/12
12) मूल्क राज आनंद, हिन्दू व्यू ऑफ आर्ट पृ0– 63–64
13) V.A.J.S. A.M. - 11 - XXIII
14) महाजनक जातक भाग – 539
15) कुल्लवग्ग - VI (SBE - XX, 189-90)
16) एस0 के0 सरस्वती, ए सर्वे ऑफ इंडियन स्कल्पचर्स पृ0 – 26
17) ए0 के0 कुमार स्वामी, हिस्ट्री ऑफ इंडियन एण्ड इंडोनेशियन आर्ट पृ0–16
18) वृज भूषण श्रीवास्तव, प्राचीन भारतीय प्रतिमा विज्ञान एवं मूर्तिकला, वाराणसी पृ0–248–70
19) उपरोक्त पृ0 – 271–77
20) उपरोक्त पृ0 – 300 – 310

21) अरविन्द कुमार सिंह, प्राचीन भारतीय मूर्तिकला एवं चित्रकला, भोपाल पृ0–46

22) वृज भूषण श्रीवास्तव, प्राचीन भारतीय प्रतिमा विज्ञान एवं मूर्तिकला, वाराणसी पृ0–311–12

23) उपरोक्त पृ0 – 332

24) उपरोक्त पृ0 – 366

25) उपरोक्त पृ0 – 366

26) उपरोक्त पृ0 – 366 – 67

27) उपरोक्त पृ0 – 367

28) उपरोक्त पृ0 – 365

29) रमानाथ मिश्र, भारतीय मूर्तिकला का इतिहास, पृ0–29

30) वृज भूषण श्रीवास्तव, प्राचीन भारतीय प्रतिमा विज्ञान एवं मूर्तिकला, वाराणसी पृ0–365

31) रमानाथ मिश्र, भारतीय मूर्तिकला का इतिहास, पृ0–29 – 31

32) सत्येन्द्र कुमार झा का आलेख पृ0 – 254–55, मिथिला संस्कृति एवं परंपरा, पटना

33) उपरोक्त पृ0 – 260

34) उपरोक्त पृ0–260

35) अमिय कृष्ण का चन्द्रधारी संग्रहालय, दरभंगा की पुरानिधियों का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन (ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय की पीएच0डी0 (प्राचीन भारतीय इतिहास, पुरातत्व एवं संस्कृति विभाग) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध 2009

36) उपरोक्त पृ0 – 264
एम0 ऐशर फेड्रिक, द आर्ट ऑफ इर्स्टन इंडिया दिल्ली, 1980
सुसान एल0 हेटिंगटन, दि पाल सेन स्कूल ऑफ स्कल्पचर, पृ0 – 129–30

37) जे0 सी0 फेंच, आर्ट ऑफ द पाला एम्पायर ऑफ बंगाल पृ0 – 24
ए0 के0 कुमार स्वामी, हिस्ट्री ऑफ इंडियन एण्ड इंडोनेशियन आर्ट पृ0–164–166

38) रमानाथ मिश्र, भारतीय मूर्तिकला का इतिहास, पृ0–30–31

39) सत्येन्द्र कुमार झा का आलेख पृ0 – 253–262, मिथिला संस्कृति एवं परंपरा, पटना

40) श्री राम निरेषण मिश्र का आलेख पृ0 – 153–155, मिथिलांक, मिथिला मिहिर – 1936 ई0

41) देव ना0 यादव का आलेख पृ0 – 199 – 208, मिथिला संस्कृति एवं परम्परा जानकी प्रकाशन, पटना प्रकाशित।

42) शिव कुमार मिश्र का आलेख पृ0 – 209 – 224, मिथिला संस्कृति एवं परम्परा जानकी प्रकाशन, पटना प्रकाशित।

43) कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा से प्रकाशित पुस्तक पृ0 – 441 – 484

44) एस0 एन0 सत्यार्थी, दर्शनीय मिथिला, पृ0 – 4 – 466

45) सत्य नारायण ठाकुर का ओलख पृ0 – 259 – 68, मिथिला शोध संस्थान दराभंगा की शोध पत्रिका ।

46) श्री राम निरेषण मिश्र का आलेख पृ0 – 153–155, मिथिलांक, मिथिला मिहिर – 1936 ई0

47) सत्येन्द्र कुमार झा का आलेख पृ0 – 255–56, मिथिला संस्कृति एवं परंपरा, पटना

48) अनिल कुमार का आलेख पृ0 – 225, रीजन इन हिस्ट्री, पटना

49) धर्मेन्द्र कुमर, मिथिला मिसलेनी, दरभंगा

50) जयदेव मिश्र, ए हिस्ट्री ऑफ बुद्धिष्ट आइक्नोग्राफी इन बिहार पृ0 – 177 – 189

51) सुनील कुमार मिश्र, मिथिला के मंदिर, गढ एवं पुरातत्व, मधुबनी

52) www.vidha.co.in, issn 229-547 X VIDEHA



दरभंगा प्रक्षेत्र की प्रमुख पाषाण प्रतिमाएँ

प्रतिमा का अर्थ है प्रतिरूप। इसी भाव को स्पष्ट करने के लिए प्रतिकृति, प्रतिमा बिम्ब आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। बिम्ब का अर्थ है छाया। यह शब्द पारलौकिक प्रतिमाओं के लिए प्रयुक्त होता है।[1] प्रतिरूप से तात्पर्य समान आकृति से है। पाणिनि ने अपने सूत्र 'इवेप्रतिकृतौ' (5, 3, 96) में समरूप आकृति के लिए प्रतिकृति शब्द का प्रयोग किया है। प्राचीन भारत में प्रतिमा शब्द का प्रयोग वैदिक युग से ही होता चला आ रहा है। ऋग्वेद में यज्ञ के स्वरूप के सम्बन्ध में प्रतिमा शब्द प्रयुक्त हुआ है।[2]

प्रतिमा के लिए अर्च्चा शब्द का भी प्रयोग ऋग्वेद में मिलता है ।[3] पतंजलि ने भी प्रतिमा के लिए अर्च्चा शब्द का प्रयोग किया है।[4] प्रतिमा का प्रयोग वस्तुतः उन्हीं मूर्तियों के लिए किया जाता है, जो किसी न किसी धर्म अथवा दर्शन से सम्बन्धित होती हैं। मूर्ति और प्रतिमा में जो मौलिक अन्तर है, वह यहीं है कि मूर्ति सामान्य दुनियावी मनुष्यों या प्राणियों की आकृति होती है, किन्तु प्रतिमा शब्द का प्रयोग देवताओं, देवियों, महात्माओं या स्वर्गवासी पूर्वजों आदि का आकृतियों के लिए ही किया जाता है।[5]

मूर्ति–निर्माण और प्रतिमा–निर्माण की क्रिया में कलाकार की शिल्पगत अभिव्यक्ति दो रूपों में ही व्यक्त होती है। प्रतिमा–निर्माण के लिए निश्चित नियमों और लक्षणों का विधान होता है फलतः कलाकार प्रतिमा निर्माण में पूर्ण स्वतन्त्र नहीं होता है साथ ही उसके आन्तरिक कला–बोध का अभिव्यक्तिकरण भी उसमें पूर्ण–रूपेण सम्भव नहीं है। इसके विपरीत मूर्ति–निर्माण में कलाकार स्वतन्त्र होता है; और उसकी समस्त शिल्पगत दक्षता उसमें प्रस्फुटित होती है । धर्म अथवा दर्शन से सम्बन्धित होने के कारण प्रतिमा का स्वरूप प्रतीकात्मकः भी हो सकता है, किन्तु मूर्ति का एक निश्चित आकार–प्रकार होना अवश्यंभावी है।[6] ऋग्वेद[7] में यज्ञ के रूप के विषय में प्रतिमा शब्द का प्रयोग हुआ है । श्वेताश्वतर उपनिषद 'न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः[8]' कहकर यशस्वी की प्रतिमा न बनाने का आदेश देता है।

प्रतिमा शब्द का प्रयोग केवल दैवी अर्थ में ही नहीं होता । महानात्मा, यशस्वी तथा पूर्वजों की बनी हुई आकृतियाँ भी प्रतिमाएँ कहलाती हैं । प्रतिमा नाटक में भास ने सूर्यवंशी राजाओं की प्रतिमाओं का उल्लेख किया है । वे सभी प्रतिमाएँ आदरणीय अवश्य थी किन्तु उनकी नित्य पूजा आवश्यक नहीं थी । आगे चलकर प्रतिमा के लिए वपु, तनु, विग्रह, रूप, बेर आदि अनेक अन्य शब्द प्रयुक्त होने लगे जो प्रतिमा के रूप, आकार–प्रकार आदि का स्पष्ट उल्लेख करते हैं ।[१]

शोध अन्वेषण के दौरान मैंने दरभंगा प्रक्षेत्र में शताधिक पाषाण प्रतिमाओं को देखा है। ये पाषाण प्रतिमाएँ हमारे शोध के काल खंड 800–1200 ई0 के बीच के तो हैं ही, इससे पूर्व के भी और बाद के भी हैं । ये पाषाण प्रतिमाएँ विभिन्न कालखंडों तथा विभिन्न धर्म और संप्रदाय के मिले हैं । मुख्यतः अध्ययन की दृष्टि से इन्हें दो वर्ग में विभाजित किया गया है (1) ब्राह्मण प्रतिमाएं, (2) ब्राह्मणेतर प्रतिमाएं।

ब्राह्मण प्रतिमाओं के अन्तर्गत विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश के अलावे अन्य देवी देवताओं की सुन्दर प्रतिमाएँ प्राप्त होती हैं, जो ब्राह्मण धर्म की लोकप्रियता और व्यापकता को स्पष्ट–करती हैं। विष्णु की अलंकरण से पूर्ण अनेक प्रतिमाएँ चतुर्विंशति व्यूहों और अवतारों से सम्बन्धित हैं । सम्पूर्ण दरभंगा प्रक्षेत्र में ब्राह्मण प्रतिमाओं की संख्या और प्रकारात्मक विविधता बौद्ध प्रतिमाओं की अपेक्षा निश्चय ही अधिक प्रभावी है और वैष्णव धर्म पूर्वमध्यकाल में इस क्षेत्र का सबसे लोकप्रिय सम्प्रदाय था, ऐसी प्रतिमाओं के सांख्यिकीय बहुलता से स्पष्ट होता हैं । विष्णु की प्रतिमाएँ इस क्षेत्र के विभिन्न स्थलों से मिले हैं : भीठ भागवानपुर, विदेश्वर स्थान, गिरिजास्थान, भैरवस्थान, बलिया, अंधराठाढ़ी, नागेश्वर स्थान, रखबारी, अकौर, वेनवारा आदि। ऐसा प्रतीत होता है कि गहन अन्वेषण से विष्णु–प्रतिमाओं की संख्या में और गुणात्मक वृद्धि हो सकती है ।

विष्णु की प्रतिमाएँ न केवल संख्या में ही प्रभावशाली हैं, बल्कि इनके रूपांकन में भी अच्छी–खासी विविधता है। एक असाधारण विष्णु की प्रतिमा डुमरा–परसा (मधुबनी) से प्राप्त हुई। इसमें समभंग मुद्रा में विष्णु को खड़ा दिखाया गया है। चार फीट ऊँची इस प्रतिमा में विष्णु के मुकुट के स्थान पर सर्पो के फण का अलंकरण किया गया है। यह असाधारण एवं आकर्षक प्रतिमा अक्षुण्णप्राय है। ऐसा लगता है कि कुछ क्षेत्रीय सांस्कृतिक परम्पराओं को

अभिव्यक्ति देने के लिए इसमें नए प्रायोगिक रूपांकन किये गए जो एक सर्वथा नवीन और प्रायोगिक अभिव्यक्ति को दरसाता है। सम्भवतः यह प्रायोगिक उर्जा दक्षिण भारत के शिल्पकला से प्रभावित रही थी, जो कर्णाटों के माध्यम से मिथिला में आई । दक्षिण भारत में विष्णु की मूर्तियों में सर्प के फनों को अनेक प्रकार से दरसाने की परम्परा रही है । महत्वपूर्ण और असाधारण शिल्पांकन के कारण इसका महत्व कला–इतिहास की दृष्टि से किसी भी तरह कम करके नहीं आँका जा सकता है ।[10]

संपूर्ण दरभंगा प्रक्षेत्र मे कर्णाट वंश का शासन था । कर्णाट वंशीय शासकों के बारे में यह जानकारी सामान्य है कि वे लोग दक्षिण भारत से आए थे । पूर्व मध्यकाल में दक्षिण भारत में भी उत्तर भारत की तरह मूर्ति परंपरा कायम थी । छठी सदी के उत्तरार्ध से लगभग आठवीं सदी तक प्रारंभिक चालुक्यों का धारवाड़ प्रदेश में बादामी, ऐहोले और पट्टडकल नामक स्थानों में शासन रहा । इस क्षेत्र में विकसित कला की गणना कर्णाट शैली के अंतर्गत की जा सकती है । चालुक्यों का वेंगी (आंध्र) के क्षेत्र में भी शासन था । आंध्र में इनके शासनकाल में विकसित कला को 'आंध्र शैली' के अंतर्गत रखा गया है ।[11]

पश्चिमी चालुक्यों के समय में आंध्र–कर्णाट क्षेत्र में अनेक मंदिरों का निर्माण हुआ, जिनमें से महत्वपूर्ण हैं – बादामी, ऐहोले, महाकूट, आलमपुर, ऐहोले, पट्ट्रडकल ।

उक्त प्रमुख मंदिरों एवं गुफाओं के अतिरिक्त भी आंध्र–कर्णाट क्षेत्र में विभिन्न प्रकार के मंदिर प्राप्त हैं । इन स्मारकों से उस प्रदेश की छठी से आठवीं सदी तक की कला परंपरा का अध्ययन संभव है । इस युग की कतिपय प्रमुख कला प्रवृत्तियों का वर्णन यहां प्रसंगवश आवश्यक है । चालुक्यों के शासनकाल के प्रारंभिक स्मारकों में वैष्णव धर्म का वर्चस्व रहा किंतु कालांतर में शैव धर्म का अधिकाधिक प्रभाव इनमें मिलता हैं । दरभंगा प्रक्षेत्र में कमोवेश ऐसी स्थिति ही देखने को मिली हैं ।

आंध्र–कर्णाट शैली की दूसरी विशेषता है इनकी कलाकृतियों पर समकालीन अन्य शैलियों का प्रभाव। राजनीतिक शक्तियों की साम्राज्यवादी स्पर्धा और कलाकारों का एक से दूसरे क्षेत्र में गमनागमन आंध्र–कर्णाट शैली के मिले–जुले रूप के निर्धारक कारण थे।

एक ही गुफा अथवा मंदिर के पटल पर विभिन्न संप्रदायों से संबंधित मूर्तियों का संयोग चालुक्ययुगीन 'आंध्र–कर्णाट शैली' की एक अन्य विशेषता है। देवताओं की प्रमुख मूर्तियों में इस क्षेत्र के मंदिरों में मुख्यतः विष्णु, शिव, मातृका, गणेश, दिग्पाल और महिषमर्दिनी मूर्तियों का अंकन प्राप्त होता है। विष्णु के विभिन्न भेदों में उनकी अवतार मूर्तियां उल्लेखनीय हैं। नृसिंह, वराह और त्रिविक्रम अवतारों की मूर्तियां इस क्षेत्र में विशेष मान्य थी।[12]

मधुबनी जिले का भीठ भगवानपुर एक ऐसा क्षेत्र प्रतीत होता है जहाँ विभिन्न मूर्तियाँ एक ही परिसर से प्राप्त हुई, साथ ही भोज पण्डौल, देकुली, हावीडीह और देवपुरा में भी ऐसे परिसरों की कल्पना की जा सकती है, जहाँ एक साथ कई प्रतिमाएं प्रकाश में आई हैं । दक्षिण भारतीय आंध्र कर्णाट शैली की विशेषता को इन स्थलों में संबंधित प्रतिमाओं की प्राप्ति के संयोग मे देखा जा सकता है।

दरभंगा प्रक्षेत्र में दर्जनाधिक विष्णु की प्रतिमाएं विभिन्न मुद्रा एवं विभिन्न अवतारों में प्राप्त हुई है। इन मुद्राओं और अवतारों की जानकारी के लिए विष्णु प्रतिमा के ऐतिहासिक कालक्रम को समझना आवश्यक प्रतीत होता है।

विष्णु–प्रतिमा

पौराणिक त्रिदेवों (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) में विष्णु जगत–पालनकर्ता हैं, परन्तु भागवत अथवा वैष्णव सम्प्रदाय विष्णु को सर्वोच्च देवता के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं । वास्तव में भागवतों ने विष्णु को जिस रूप में स्वीकार किया उसमें अनेक शताब्दियाँ लगीं । तीन स्वतन्त्र धाराओं के सम्मिश्रण से भागवतों के विराट–रूप विष्णु की रचना हुई –

1) वैदिक विष्णु,
2) ब्राह्मणों एवं आरण्यकों के नारायण,
3) सात्वत वंश के आराध्य–वासुदेव श्री कृष्ण ।[13]

भागवत सम्प्रदाय के विकसित रूप में भगवान विष्णु के 5 (पाँच) रूप माने गये हैं[14] :–

(1) पर (2) व्यूह (3) विभव (4) अन्तर्यामर
(5) अर्चा।

पर भगवान के सर्वोच्च रूप का द्योतक हैं । पाँचरात्रों के अनुसार परब्रह्म अद्वितीय, अनादि, अनन्त दुःखरहित तथा निःसीम मुखानुभूति रूप हैं। व्यूह

उद्भूत रूप है, विभव का तात्पर्य अवतार रूप से है । अन्तर्यामी रूप अदृश्य और भक्तों के हृदय में स्थित रहता है।[15] अर्चा विग्रह (मूर्तरूप) है।

ब्राह्मण धर्म के पाँच प्रमुख सम्प्रदायों में विष्णु के उपासकों का वैष्णव सम्प्रदाय विशेष महत्त्वपूर्ण रहा है। महाकाव्यों और पुराणों के समय तक विष्णु की गणना त्रिदेवों में की जाने लगी और जगत् की स्थिति या पालनकर्त्ता के रूप में विष्णु एक प्रमुख देवता बन गये। वस्तुतः विष्णु की कल्पना वासुदेव–कृष्ण, वैदिक सौर देवता विष्णु एवं ब्राह्मण ग्रन्थों के नारायण की संयुक्त अवधारणा की परिणति रही है । परमभागवत् गुप्त शासकों के संरक्षण और पुराणों की रचना के फलस्वरूप विष्णु की प्रतिष्ठा में अतिशय वृद्धि हुई और उनके विभिन्न स्वरूपों का विकास हुआ।[16]

वैखानस आगम में विष्णु के ध्रुववेरों का उल्लेख है । इस विवरण के अनुसार विष्णु की प्रतिमा को 4 (चार) भागों मे बाँटा गया है –

(1) योग
(2) भोग
(3) वीर
(4) आभिचारिक ।

तत्पश्चात् मुद्राओं के आधार पर इन्हें तीन उप वर्ग में रखा जाता है –

(1) स्थानक
(2) आसन
(3) शयन ।

तदनन्तर गुणों के आधार पर इन्हें उच्च, मध्यम और निम्न तीन कोटियों विभक्त किया गया है।[17] इस प्रकार विष्णु की प्रतिमाएँ 36 प्रकार की होती हैं।

अपराजितपृच्छा, रूपमण्डन तथा देवतामूर्तिप्रकरण में विष्णु के विविध रूपों के प्रतिमा लक्षणों का जैसा संक्षिप्त, किन्तु सुनियोजित विवरण मिलता है, जैसा अन्यत्र दुर्लभ है। अपराजितपृच्छा में विष्णु की चर्तुविंशति मूर्तियों तथा जलशयन, वराह, वैकुण्ठ, अनन्त, त्रैलोक्य– मोहन, विश्वरूप, गरूड़ एवं प्रतिहार मूर्तियों के सुनियोजित प्रतिमालक्षण उपलब्ध है तथा दशावतार–सम्बन्धी कथाओं में विष्णु के अधिकांश अवतारों–मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, बुद्ध एवं कल्कि–के स्वरूप पर भी प्रकाश डाला गया है (इस ग्रन्थ के 'द्वार वती' शीर्षक सूत्र में विष्णु की चर्तुविंशति मूर्तियों में से चार प्रमुख मूर्तियों–वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और

अनिरूद्ध–के परिकरों तथा वस्त्राभूषणों का भी वर्णन है) । अपराजितपृच्छा में इनके अतिरिक्त विष्णु की कुछ अन्य मूर्तियों के प्रतिमा–लक्षण यत्र–तत्र बिखरे हुए भी मिलते हैं ।[18]

विवेच्य शास्त्रों में उपलब्ध विष्णु के उपर्युक्त विविध रूपों के प्रतिमा–लक्षणों को प्रतिमा विज्ञान विषयक अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से निम्नलिखित वर्गो में विभाजित किया गया है–

1) अष्टबाहु हरि तथा जलशयन मूर्तियाँ;
2) चर्तुविंशति मूर्तियाँ;
3) अवतार मूर्तियाँ;
4) चतुर्मुखी मूर्तियाँ –बैकुण्ठ, अनन्त, त्रैलोक्यमोहन और विश्वरूप;
5) अन्य मूर्तियाँ–

गरूड़ध्वज, गोवर्धन, जयन्त, धन्वन्तरि, सुषेण, जगन्नाथ शड्–खशाड्. –गांदिधारी विष्णु और दिक्पाल–रूप विष्णु,।

6) गरूड़ एवं प्रतिहार मूर्तियाँ ।[19]

विष्णु की स्वतन्त्र मूर्तियों का निर्माण कुषाणकाल या कुछ पूर्व ई0 पू0 में मथुरा, मल्हार एवं मध्य प्रदेश के कुछ अन्य स्थलों पर प्रारम्भ हुआ । मध्यकाल में विष्णु के कई नवीन मूर्ति स्वरूपों की कल्पना की गयी और उनके लक्षण नियत हुए जिनके मूर्त उदाहरण विभिन्न पुरास्थलों पर देखे जा सकते हैं ।[20]

विष्णु के अवतारों का सामूहिक या स्वतन्त्र निरूपण कुषाण काल से पूर्व नहीं मिलता है। कुषाण काल में वराह, कृष्ण और बलराम की मूर्तियाँ बननी प्रारम्भ हुई। गुप्तकाल में वैष्णव धर्मावलम्बी शासकों के संरक्षण में अवतारवाद की धारणा का और अधिक विकास हुआ। रघुवंश में एक स्थान पर दशावतारों का संकेत भी मिलता है। गुप्तकाल के बाद सातवीं से 13वीं शती ई0 के मध्य लगभग सभी क्षेत्रों में दशावतार फलकों तथा अवतार स्वरूपों की स्वतन्त्र मूर्तियाँ बनी। विष्णु के अवतारों को मुख्यतः तीन रूपों में व्यक्त किया गया है। सर्वप्रथम स्वतन्त्र प्रतिमाओं के रूप में, जिनकी संख्या सर्वाधिक है। दूसरे रूप में कुछ प्रचलित स्वरूपों की प्रतिमायें मन्दिरों के गर्भगृहों में मुख्य देवता के रूप में प्रतिष्ठित हैं, उदाहरण के लिए खजुराहो का वराह एवं वामन मन्दिर। तीसरे बर्ग में दशावतार पट्ट आते हैं जिन पर दशावतारों का सामूहिक उकेरन हुआ है।[21]

विष्णु की स्थानक (खड़ी) प्रतिमा

विष्णु की स्थानक प्रतिमाओं का निर्माण कब हुआ यह कहना अनिश्चित सा ही है । सम्भवतः विष्णु की सर्वप्रथम स्थानक प्रतिमा पाँचाल नरेश विष्णु मित्र की मुद्रा पर मिलती है । प्रो0 एलन ने बताया है कि इस पर विष्णु के केवल दो हाथ दिखाये गये हैं, लेकिन आनन्द कुमार स्वामी और कंर्निघम महोदय के अनुसार इसमें चार हाथ हैं । चूँकि यह मूर्ति अत्यन्त छोटी है, अतः स्पष्ट रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता ।[22]

गुप्तोत्तर काल में भी विष्णु की स्थानक–प्रतिमाओं का निर्माण होता रहा। इस युग की मूर्तियों में उनके सामान्यतः 4 हाथ दिखाये गये हैं जिनमें शंख, चक्र, गदा और पद्म प्रदर्शित किये जाते हैं । गुप्तकाल में यद्यपि अष्टभुजी मूर्तियाँ नहीं मिलती तथापि वृहत्संहिता और पुराणों का यह विवरण सिद्ध करता है कि अष्टभुजी मूर्तियों का निर्माण गुप्तकाल और बाद के काल में होता रहा । विष्णु के योग, भोग, वीर तथा अभिचारिक स्थानक प्रतिमा का उल्लेख गोपीनाथ राव ने किया है ।[23]

योग–स्थानक प्रतिमा

वैखानस आगम के अनुसार योग स्थानक प्रतिमा चतुर्भुज तथा गहरे रंग की होनी चाहिये । विष्णु के पिछले दाहिने हाथ में चक्र तथा अगला दाँया हाथ अभय या वरदमुद्रा में, पीछे वाले बाँयें हाथ में शंख तथा अगला बाँया हाथ कटयवलम्बित होना चाहिये । उनके दाहिनी औरं बाँयी ओर क्रमशः भृगु तथा मारकण्डेय तथा मन्दिर की उत्तरी दीवार पर शिव और दक्षिणी दीवार पर ब्रह्मा की आकृति होनी चाहिये । महाबलीपुरम् में इस प्रतिमा का मध्यवर्गी चित्रण द्रष्टव्य है ।[24]

भोग–स्थानक प्रतिमा

यह प्रतिमा भी चतुर्भुज होनी चाहिये । इसके पीछे के दोनों हाथों में शंख, चक्र, अगला दाँया हाथ, वरद या अभयमुद्रा में और अगला बाँया हाथ कटयवलम्बित मुद्रा में होना चाहिये । इस प्रतिमा के दाहिनी ओर श्रीदेवी हाथ में कमल लिये हुए तथा बाँयी ओर भू–देवी हाथ में नील पद्भ लिए हुए प्रदर्शित होती हैं, विष्णु की एक अतिसुन्दर भाग–स्थानक प्रतिमा खजुराहो संग्रहालय[25] में सुरक्षित है। इसमें विष्णु पद्भ पीठ पर समभंग खड़े हैं और वे किरीट, मुकुट, रत्न कुण्डलों, केयूरों, कंकड़ों, वैजयन्ती माला, यज्ञोपवीत और नुपूरों से अलंकृत हैं । उनके

चार हाथों में पहला खण्डित है । दूसरे में गदा, तीसरे में चक्र और चौथे में शंख धारण किये हैं । मद्रास संग्रहालय एवं तिरयूट्टीपूर के शिव मन्दिर की प्राचीन भित्ति पर इस प्रतिमा का निदर्शन द्रष्टव्य है ।[26]

वीर–स्थानक प्रतिमा

इस प्रतिमा में विष्णु के दो हाथों में शंख और चक्र तथा शेष दो हाथों को किस प्रकार दिखाना चाहिये इसका विवरण नहीं मिलता है । इनके साथ ब्रह्मा, शिव, भृगु और मारकण्डेय की आकृतियाँ दिखायी जाती हैं ।[27]

अभिचारिक–स्थानक प्रतिमा

इस प्रतिमा के दो या चार हाथ होने चाहिये । इसका रंग गहरा तथा वस्त्र काला होना चाहिये । इसके साथ अन्य कोई देवी–देवता नहीं बनाए जाते । अभी तक इस प्रकार की केवल एक प्रतिमा बर्दवान जिले के चेतनपुर ग्राम से प्राप्त हुई है जो 7वीं शती की है ।[28] यह काले पत्थर की है । इसके अगले दाहिने हाथ में कमल और बाँए हाथ में शंख दिखाया गया है । गले में बनमाला और हार के स्थान पर ताबीजों की एक विचित्र माला दिखायी गई है । विष्णु का लम्बा चेहरा, बड़ी–बड़ी निकली आँखें, हड्डियों के उभार और अपेक्षाकृत पिचके हुए पेट के कारण अन्य मूर्तियों से यह भिन्न है ।

विष्णु की एकल मूर्ति का निरूपण बृहत्संहिता, विष्णुधर्मोत्तर एवं विभिन्न पुराणों तथा परवर्ती शिल्पशास्त्रों में हुआ है । इन ग्रन्थों में विष्णु को सामान्यतः चतुर्भुज तथा श्रीवत्स या कौस्तुभमणि एवं किरीटकुकुट से शोभित और गरूड़ वाहन वाला बताया गया है । उनके करों में शंख, चक्र, गदा और पद्म दिखाने का विधान किया गया है । पूर्वी भारत की मूर्तियों में पाश्वों में पद्मधारिणी श्रीदेवी और वीणाधारिणी सरस्वती की भी आकृतियाँ उकेरी हैं । साथ ही परिकर में विष्णु के विभिन्न अवतार स्वरूपों की लघु आकृतियों का उत्कीर्णन भी एक आम विशेषता रही है । विष्णु के अन्य किसी भी स्वरूप की तुलना में एकल मूर्तियाँ सभी क्षेत्रों में सर्वाधिक संख्या में उत्कीर्ण हुई ।[29]

वराह विष्णु[30]

वराह विष्णु का एक अवतार हैं । अपराजितपृच्छा में वराह रूप विष्णु द्वारा किये गये पृथ्वी के उद्धार की कथा भी दी गई हैं । इसके अनुसार अधर्म के भार के कारण रसातल में चली गई भयभीत वसुधा के उद्धार के लिए देवताओं द्वारा अनुरोध करने पर विष्णु ने वराह रूप धारण कर पर्वत, द्वीप एवं सागरों से युक्त

भूताधार धरा पृथ्वी की दाढ़ के अग्रभाग पर उठाकर यथास्थान स्थापित किया था।[31] अपराजितपृच्छा की यह कथा बहुत कुछ पूर्ववर्ती पुराणों में उपलब्ध वराहावतार–सम्बन्धी कथाओं[32] के अनुरूप ही है ।

शास्त्रों में इस अवतार के प्रतिमा–लक्षण दो रूपों में मिलते हैं – वराह–रूप[33] में तथा नृ–वराह–मिश्रित रूप[34] में। इनमें से अपराजितपृच्छा में केवल वराह–रूप का, रूपमण्डन में केवल नृवराह–रूप का तथा देवतामूर्तिप्रकरण में वराह और नृवराह दोनों रूपों का विवरण है।

अपराजितपृच्छा के अनुसार वराह–मूर्ति का मुख शूकर के समान दो दाढ़ों से युक्त, वृताकार पुष्कर–भाग दो नासाछिद्रों से युक्त तथा नेत्र और मस्तक गज के समान हों । वह पृच्छ, ग्रीवा आदि से समन्वित हो । उसका आगे का बायाँ पैर उठा हुआ और दायाँ आगे की ओर बढ़ा हुआ हो । उसके पृष्ठ भाग पर तीनों लोकों के प्राणियों से घिरे मेरूलिंग का तथा उसकी दाढ़ के अग्रभाग पर लक्ष्मी का प्रदर्शन हो । लक्ष्मी का दायाँ हाथ वराह की वायीं दाढ़ पर रखा हो । यहाँ वराह–मूर्ति के नीचे कूर्म तथा कूर्म के नीचे जलपट्टिका के निर्माण का भी निर्देश है,35 जिसे पाताल का प्रतीकात्मक चित्रण माना जा सकता है । इसी शास्त्र में एक अन्य स्थान पर वराह के अंग–प्रत्यंगों पर विभिन्न देवताओं की उपस्थिति का भी वर्णन है । यथा–नासाग्र पर पवन, जिह्ना पर सरस्वती, तालु व ओष्ठों पर विभिन्न देवता, ग्रीवा परसुरसंघाट, कपाल पर धनुषधारी देवता, नेत्रों पर चन्द्रमा और सूर्य, अर्धमस्तक–सहित दोनों कणों पर तीन करोड़ गन्धर्व, पृष्ठ–भाग पर मेरूलिग, एकादशरूद्र, द्वादशादित्य, चतुर्दशमनु आदि । इस स्थान पर वराह को असीमित प्रमाण वाला, महोत्कट तथा स्फुरणशील भृकुटि और दाँतों एव तेजपुंज से युक्त कहा गया है, जो दंष्ट्रांग्र पर वसुधा को धारण किये हों ।[36] इस प्रकार अपराजितपृच्छा में वराह की दाढ़ के अग्रभाग पर एक बार लक्ष्मी और दूसरी बार वसुधा की स्थिति बताई गई है । वराह के दंष्ट्राग्र पर लक्ष्मी की स्थिति की यह विलक्षणता अन्यत्र केवल अग्निपुराण में ही मिलती है ।[37] इस पुराण में पुनः एक अन्य स्थान पर लक्ष्मी के साथ पृथ्वी की उपस्थिति का भी विधान है।[38]

देवतामूर्तिप्रकरण का वराह–विवरण अपेक्षाकृत संक्षिप्त है। यहाँ केवल इतना ही कहा गया है कि वराह–रूप विष्णु का मुख शुकर के सदृश, शरीर विशाल, दाँत तीक्ष्ण, कान स्तब्ध एवं रोम खड़े हुए हों।[39]

विभिन्न ग्रन्थों में नृ–वराह स्वरूप के तीन उपविभाजन किये गये हैं – आदि या भू–वराह, यज्ञ–वराह और प्रलय–वराह । ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त स्वरूपों में आदि या भू–वराह स्वरूप ही भारतीय शिल्प में लोकप्रिय था । ग्रन्थों के अनुसार चतुर्भुज आदि–वराह का मस्तक वराह का और शरीर का शेष भाग मनुष्य का होगा । देवता का झुका हुआ दाहिना पैर आदिशेष के मणियुक्त फण पर स्थित होगा । वराह की बायीं कुहनी पर भू–देवी आसीन होंगी जिनके कटि के चारों ओर देवता का हाथ लिपटा होगा । गुप्तकाल में ही वराह–विग्रह स्वरूप की मूर्तियों का शिल्पांकन लोकप्रिय हो चुका था । मध्यकाल में वराह–विग्रह स्वरूप की अनेक मूर्तियां बनीं जिनके उदाहरण लगभग संपूर्ण भारत से मिले हैं ।[40]

दरभंगा प्रक्षेत्र में मुझे अपने अन्वेषण के दौरान सलेमपुर (मधुबनी) तथा वेनवारा (दरभंगा) में विष्णु के वराह रूप की प्रतिमा मिली । सलेमपुर की प्रतिमा 06 मार्च 2009 तथा वेनवारा की प्रतिमा 04 जुलाई 2012 को मिट्टी कटाई के क्रम में क्रमशः सगही पोखर (सलेमपुर) तथा दीवाकरा तालाब (वेनवारा) से मिली।

विष्णु की शयन प्रतिमा[41]

ऋग्वेद में उल्लिखित विश्वकर्मन (विश्वकर्मा) परवर्ती शेषशायी विष्णु[42] का आदि रूप मालूम होता है। पुराणों के अनुसार नारायण युगान्त या कल्पान्त में सृष्टि का संहार करते हैं, फिर सागरतल में सहस्त्र फण शेष की शय्या पर सहस्त्रों वर्ष तक योग–निद्र में शयन करते हैं । उनके नाभि–कमल से ब्रह्मा का आविर्भाव होता है और कर्णमल से मधु–कैटभ नामक राक्षसों का । मधु–कैटभ का चित्रण उस पौराणिक आख्यान को संकेत करता है, जिसमें सृष्टि के बाद ब्रह्मा पर जब इना आक्रमण हुआ, तब विष्णु ने उन्हें मारकर 'मधुसूदन' उपाधि प्राप्त की।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण[43] में शेषशायी विष्णु 'पद्मनाभ' नाम से वर्णित है। पद्मनाभ जल के बीच पड़े शेष पर शयन करते हैं । इस पुराण के अनुसार शेष के फण–समूह के विशाल रत्नों की चमक से उनका मस्तक चकाचोध करता हो। विष्णु का एक चरण लक्ष्मी की गोद में रखा हो तथा एक शेषनाग के सिर पर । उनकी एक भुजा घुटने पर फैली हुई हो, तथा दूसरी नाभि पर स्थित, तीसरी ग्रीवा पर तथा चौथी संतान मंजरी पर स्थित हो । उनकी नाभि से उत्पन्न कमल पर ब्रह्मा प्रदर्शित हों तथा कमलनाल से संलग्न मधु और कैटभ असुर हों ।[44]

वैखानस आगम के अनुसार विष्णु की शयन–प्रतिमा श्याम–वर्ण और सुपुष्ट अंगवाली होनी चाहिए । उनका चौथाई भाग कुछ ऊपर उठा हो और तीन–चौथाई भाग शेष–शैय्या पर शायी हो । उनका एक दाहिना हाथ किरीट को स्पर्श करता अथवा मस्तक की ओर प्रसारित हो, और एक बाँया हाथ शरीर के समानान्तर प्रसारित होकर जंघा पर स्थित हो, दक्षिण पाद सीधा प्रसारित हो, और वाम कुछ झुका हो, कंधे के निकट लक्ष्मी बैठी हों और उनके चरणों के निकट भू–देवी हों। चरणों के निकट मधु और कैटभ प्रहार करने के लिए तत्पर हों । विष्णु की नाभि से निकले कमल पर ब्रह्मा आसीन हों ।[45]

'अपराजितपृच्छा' और 'रूपमण्डन' में भी विष्णु के इस रूप का वर्णन किया गया है । अपराजितपृच्छा के अनुसार किरीट, माला, हार, कुण्डलों और केयूरों से अलंकृत विष्णु शेष पर्यंक पर शयन करते हों । उनके चार हाथ हों–दाहिना एक सिर पर और दूसरा हृत्कमल पर स्थित हो तथा बाँया उर्ध्व एवं अधः क्रमशः चक्र और गदा से युक्त हो । उत्तर और पूर्व भारत में विष्णु की शयन–मूर्तियों की संख्या बहुत कम हैं ।[46] मुझे दरभंगा प्रक्षेत्र में अन्वेषण के दौरान दो विष्णु की शयन–मूर्तियाँ मिली।

अपराजित पृच्छा में किरीटमुकुट एवं अन्य सामान्य आभूषणों से सज्जित चतुर्भुज विष्णु का एक दाहिना हाथ सिर पर और दूसरा ह्रदय–पद्म पर स्थित होगा तथा ऊर्ध्व वाम कर में सुदर्शन–चक्र और अधःकर में गदा प्रदर्शित होगी। किरीटमुकुट के ऊपर शेषनाग के सात सर्पफण होंगे । चरणों के पास लक्ष्मी तथा नमस्कार–मुद्रा में गरूड़ और नाभि–पद्म पर ब्रह्मा की आकृतियाँ उकेरी होंगी।[47]

अपराजितपृच्छा[48] और रूपमणडन[49] में भी कुछ अन्तर के साथ शेषशायी विष्णु का वर्णन हुआ है । महाकवि कालिदास की कृतियों में शेषशायी विष्णु का उल्लेख अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है । रघुवंशम् में उन्हें भोगिभोगासनासीन[50] कहा गया है । किन्तु उनकी योगनिद्रा का भी उल्लेख है । विष्णु सर्पासन पर विराजमान हों तथा लक्ष्मी कमलासन पर बैठी, करधनी, रेशमी अधोवस्त्र धारण किये विष्णु के लंबायमान चरण को अपनी गोद पर रखे हुए हों । विष्णु श्रीवत्स–युक्त हो । कौस्तुभमणि उनके वक्ष पर होनी चाहिए । सागर के तल में वे शेषनाग के सहस्त्र फणों की शय्या पर विश्राम करते हों तथा उनकी चारों भुजाओं में शंख, चक्र, गदा और पद्म हों । उनका वांहन गरूड़ सेवा के लिए सदैव उत्सुकतापूर्ण खड़ा हो।[51]

इस तरह के विवरणों के आधार पर गुप्तकालीन कलाकारों ने अपनी छेनी और हथौड़े का निरंतर प्रयोग कर कला में साहित्य के अभीष्ट को रूपायित किया है, जिसको देखते ही विष्णु अथवा नारायण की समस्त मान्यताएँ दृष्टिगत हो जाती हैं । विष्णु–मूत्तियों का प्रचलन कुषाण–कला से हुआ था तथा चतुर्थ शताब्दी में ब्राह्मण–धर्म के पुनरूत्थान के बाद पौराणिक देवी–देवताओं की मूर्त्तियों को कला में अधिक स्थान दिया गया, जिनमें एक शेषशायी रूप भी हैं ।

उत्तरी एवं पूर्वी भारत में शेषशायी विष्णु की मूत्तियाँ विरल है । बिहार में भी गुप्तकाल से ही इस स्वरूप की प्रतिमाएँ बनीं तथा गुप्तकाल के बाद इन मूर्त्तियों का अधिक प्रचार हुआ। मध्यकालीन अनेक प्रतिमाएँ भारतवर्ष में मिली हैं। ये प्रतिमाएँ भी गुप्ताकलीन मूर्त्तियों की तरह ही हैं, केवल चित्रण में अधिक विकास दृष्टिगोचर होता है। पाल काल की एक दो ही, मूर्त्तियाँ ज्ञात है । उसमें एक गया स्थित विष्णुपद मन्दिर की दीवार में लगी है । कलात्मक दृष्टिकोण से यह 8वीं–9वीं शती की मूर्त्ति कही जायेगी ।[52] अरेराज (चम्पारण) से भी पालकालीन खंडित शेषशायी विष्णु प्रतिमा मिली है, जो सम्प्रति पटना संग्रहालय में है । गया संग्रहालय में भी एक शेषशायी विष्णु–मूर्त्ति सुरक्षित हैं ।[53]

दरभंगा प्रक्षेत्र से प्राप्त महत्वपूर्ण विष्णु प्रतिमा

क्रम संख्या	:–	1
चित्र संख्या	:–	1
प्रतिमा का नाम	:–	स्थानक विष्णु
प्राप्ति स्थल	:–	विदेश्वर स्थान
निर्माण काल	:–	नवी शताव्दी
निर्माण सामग्री	:–	काला बेसाल्ट
माप	:–	124 X 58 X 7 से0 मी0

विस्तृत विवरण :–

विदेश्वर से प्राप्त विष्णु की यह स्थानक प्रतिमा पूर्ण रूप से सुरक्षित है । इस प्रतिमा में विष्णु अत्यन्त सादगीपूर्ण किरीट मुकुट युक्तप्रदर्शित है जिसका ऊपरी शिरा सपाट है । विष्णु के नेत्र निमिलित हैं एवं उनके चेहरे का भाव सर्व जन के कल्याण की उदात्तता से परिपूर्ण है । दोनों कानों में कुण्डल प्रदर्शित है। गले में ग्रीवाहार तथा वांह में कयूर प्रदर्शित है । विष्णु के बाये स्कन्द के परित:

यज्ञोपवीत प्रदर्शित है साथ ही अजानु लम्वी वनमाला का अंकन किया गया है। कटिमेखला अपेक्षाकृत अलंकृत हैं ।

चतुर्भुजी विष्णु की भुजाओं में पूर्ण दाहिना प्रलम्ब अभययुप्ता, दाहिना उदग्र सादगीपूर्ण गदायुक्त, बांया उदग्र सादगीयुक्त चक्रयुक्त तथा बाया प्रलम्व अधोग्र शंख से युक्त हैं । पाँव स्पष्ट हैं ।

मुख्य प्रतिमा के साथ दाहिने हिस्से में श्री देवी तथा बाया हिस्से में वीणाधारी सरस्वती हैं । साथ में दोनों देवियों के एक–एक अनुचर हैं । आधारपीठिका में कुछ प्रतिमाओं का अंकन है, जो क्षरण होने के कारण अस्पष्ट है। स्टेला हल्का गोलाई लिए सादगी पूर्ण हैं । यह मुख्य प्रतिमा के परितः कटा हुआ है जिससे मुख्य प्रतिमा की देहयष्टि पूर्णः प्रदर्शित होती है । स्टेला के उपरी भाग के दोनों ओर एक–एक मालाधारी गंधर्व उत्कीर्ण हैं । प्रतिमा का रीलिफ मध्यम हैं ।

क्रम संख्या	:–	2
चित्र संख्या	:–	2
प्रतिमा का नाम	:–	स्थानक विष्णु
प्राप्ति स्थल	:–	जयनगर
निर्माण काल	:–	नवी शताव्दी
निर्माण सामग्री	:–	काला बेसाल्ट
माप	:–	90 x 55 x 15 से0 मी0

विस्तृत विवरण :–

पूर्ण वार्णित क्रम संख्या एक के अनुसार है तथा स्टेला का उपरी हिस्सा पूर्णतः खंडित है प्रतिमा का रीलिफ उच्च हैं ।

क्रम संख्या	:–	3
चित्र संख्या	:–	3
प्रतिमा का नाम	:–	स्थानक विष्णु
प्राप्ति स्थल	:–	समैला
निर्माण काल	:–	दसवीं शताव्दी
निर्माण सामग्री	:–	काला बेसाल्ट
माप	:–	130 x 60 x 10 से0 मी0

विस्तृत विवरण :–

पूर्व वणित क्रम संख्या एक के अनुसार है । इस मूत्ति का चेहरा आंशिक क्षतिग्रस्त है । मूर्ति उच्च रीलिफ का प्रतीत होता है ।

क्रम संख्या	:–	4
चित्र संख्या	:–	4
प्रतिमा का नाम	:–	स्थानक विष्णु
प्राप्ति स्थल	:–	रथौस
निर्माण काल	:–	दसवीं शताव्दी
निर्माण सामग्री	:–	काला बेसाल्ट
माप	:–	95 x 45 x 12 से0 मी0

विस्तृत विवरण :–

पूर्व वणित क्रम संख्या एक के अनुसार है । इस मूर्ति का चारों हाथ खण्डित है स्टेला पूर्णतः सादगी पूर्ण है दाई एवं वांयी ओर गंधर्व नहीं हैं तथा उच्च रिलीफ का प्रतीत होता हैं । स्टेला कोणीय (आर्क लिए) हुए हैं । जिसके गोलाकार होने का आभास होता हैं । स्टेला के किनारे एक मोटी रेखा अलंकृत हैं ।

क्रम संख्या	:–	5
चित्र संख्या	:–	5
प्रतिमा का नाम	:–	स्थानक विष्णु
प्राप्ति स्थल	:–	डुमरा
निर्माण काल	:–	दसवीं शताव्दी
निर्माण सामग्री	:–	काला बेसाल्ट
माप	:–	83 x 40 x 20 से0 मी0

विस्तृत विवरण :–

किरीट मुकुट के स्थान पर सर्प क्षत्र (सर्पों के फणों) को दिखाया गया है। यह इस क्षेत्र में पायी जाने वाली विष्णु प्रतिमाओं में दुलर्भ प्रतिमा हैं । आधारपीठिका द्विदल कमल आसन युक्त हैं ।

चतुर्भुजी विष्णु की इस प्रतिमा का स्टेला उच्च रीलिफ का है । प्रतिमा का तक्षण (कटाव) शैली उन्नत किस्म की है । स्टेला पर उत्कीर्णन कम है लेकिन

जो है वह अलंकृत हैं । प्रतिमा सुरक्षित हैं । इस प्रतिमा के दाहिने प्रलम्ब हस्त में अधोग्र शंख, बायें प्रलम्ब हस्त में गदा अंकृत हैं, दाहिने उदग्र हस्त में सुर्दशन चक्र, बायें उदग्र हस्त अभय मुद्रा में हैं । इस विष्णु प्रतिमा के कान में पत्र कुण्डल है, स्टेला पर दोनों ओर माला धारी यक्ष हैं । जो र्शीष पर केन्द्रीकृत हैं। कण्ठ में गृहवा हार हैं जो वक्ष स्थल तक लटकता हुआ है, इसका निचला सिरा कौस्तुभ के समान प्रदर्शित हैं, मुक्ता यज्ञोपवीत है, अजान लम्बी वनमाला हैं । कटिमेखला एक चौड़ी पट्टी (लड़ियों युक्त) प्रदर्शित हैं । हाथ में अलंकृत केयूर एवं कंगन प्रदर्शित हैं । सम्पूर्ण प्रतिमा विष्णु के कल्याणकारी भाव में प्रदर्शित करती हैं । मुख्य प्रतिमा के साथ दाहिने हिस्से में श्री देवी तथा बाया हिस्से में वीणाधारी सरस्वती हैं । साथ में दोनों देवियों के एक–एक अनुचर हैं ।

क्रम संख्या :– 6
चित्र संख्या :– 6
प्रतिमा का नाम :– स्थानक विष्णु
प्राप्ति स्थल :– अकौर
निर्माण काल :– दसवीं शताव्दी
निर्माण सामग्री :– काला बेसाल्ट
माप :– 185 x 95 x 39 से0 मी0

विस्तृत विवरण :–

पूर्व वर्णित प्रतिमा संख्या एक के अनुसार है । प्रभामण्डल शिरस्चक्र है किरीट अत्यधिक अलंकृत है । दाहिने उदग्र हस्त में नालयुक्त कमल है, बाया उदग्र हस्त में अलंकृत गदा है । केयुर भी अलंकृत है । दाहिना एवं बाया प्रलभव हस्त खंडित है । कटिमेखला भी अलंकरण युक्त है । आधारपीठ कमल द्विदलीय है । मुक्तायुक्त यज्ञोपवीत के साथ अजान लम्बी वनमाला है ।

स्टैला अलंकृत तथा रिलीफ उच्च श्रेणी का है ।

अकौर में इस प्रतिमा के अलावे दो अन्य विष्णु प्रतिमा उपलब्ध है जिसकी माप क्रमशः 92 x 45 x 14 से0 मी0 तथा 84 x 47 x 14 से0 मी0 हैं ।

क्रम संख्या :– 7
चित्र संख्या :– 7
प्रतिमा का नाम :– स्थानक विष्णु

प्राप्ति स्थल :— भीठभगवानपुर
निर्माण काल :— दसवीं शताव्दी
निर्माण सामग्री :— काला बेसाल्ट
माप :— 60 x 27 x 10 से0 मी0

विस्तृत विवरण :—

पूर्व वर्णित प्रतिमा प्लेट संख्या एक के अनुसार है । दाहिने प्रलम्व हस्त खुला हुआ अभय मुद्रा में, बाये प्रलम्व हस्त में गदा, दाहिने उदग्र हस्त में चक्र तथा बाये उदग्र हस्त में शंख हैं । आधार पीठ कमल द्विदलीय है । स्टेला अलंकृत एवं रिलीफ मध्यम हैं । प्रतिमा में कटि का विन्यास नारी सुलभ कमनीयता लिये हुए हैं ।

क्रम संख्या :— 8
चित्र संख्या :— 8
प्रतिमा का नाम :— स्थानक विष्णु
प्राप्ति स्थल :— अन्धरा ठाड़ी (कमलादित्य स्थान)
निर्माण काल :— आठवी शताव्दी
निर्माण सामग्री :— काला बेसाल्ट

विस्तृत विवरण :—

पूर्व वर्णित प्रतिमा संख्या एक के अनुसार है । श्याम प्रस्तर फलक मध्य दोनों बांह के नीचे से पैर तक मूर्ति को तराश कर बहुआयामी प्रदर्शित करते हुए उत्कीर्णित कर पादपीठ के कमलदल पर भगवान विष्णु को स्थानक मुद्रा में है। विविध बेल—बूटों से सजे परिकर में चतुर्भुजी विष्णु के दाहिने कमल पर खड़ी श्रीदेवी एवं बायें वीणाधारिणी सरस्वती पद्मपदारूढ़ हैं । पद्म, गदादिधारी भगवान विष्णु का एक हाथ वरद मुद्रा में प्रदर्शित है । किरीट कुंडलधारी श्री विष्णु का सर्वांग आभूषित है । वे कमर से घुटना तक वस्त्रावृत्त, कमर से नीचे तक झुलता यज्ञोपवीत धारण किये हुए, आजानु वनमाल शोभित अत्यंत भव्य दिखते हैं । यहाँ की प्रतिमा के हाथ खंडित एवं अस्पष्ट है । आधार पीठ द्विदलीय कमल है स्टेला सादा एवं रिलीफ निम्न कोटि का प्रतीत होता हैं ।

क्रम संख्या :— 9
चित्र संख्या :— 9

प्रतिमा का नाम	:–	स्थानक विष्णु
प्राप्ति स्थल	:–	वेनबारा
निर्माण काल	:–	ग्यारहवीं शताब्दी
निर्माण सामग्री	:–	काला बेसाल्ट
माप	:–	4'4" x 2' x 9"

विस्तृत विवरण :–

पूर्व वर्णित प्रतिमा संख्या एक के अनुसार है । नाक आंशिक रूप से खंडित है । स्टैला अलंकृत एवं उच्च रिलीफ का प्रतीत होता हैं ।

क्रम संख्या	:–	10
चित्र संख्या	:–	10
प्रतिमा का नाम	:–	स्थानक विष्णु (वराह अवतार)
प्राप्ति स्थल	:–	सलेमपुर
निर्माण काल	:–	दसवीं शताब्दी
निर्माण सामग्री	:–	काला बेसाल्ट
माप	:–	98 x 55 x 16 से0 मी0

विस्तृत विवरण :–

विंष्णु के वराह रूप की इस चतुभुजी प्रतिमा में अलंकृत किरीट शोभाएमान हैं। स्टेला का उपरी हिस्सा आंशिक रूप से खंडित हैं किन्तु मुख्य आकृति सुरक्षित हैं। घुटने के उपर तक सूक्ष्म वस्त्रावेष्टित हैं । उपरी शरीर पर तीन लपेट की सुंदर उत्तरीय का सूक्ष्मांकन कलापूर्ण प्रतीत होता है । गले में कंठहार, चौड़ा चन्द्रहार, हृदय के नीचे तक झूलता कौस्तुभ हारावलि, रत्नजड़ित त्रिसूत्र यज्ञोपवित, बाहों पर चौड़ा शंक्वाकार मणि जटिल कारीगरीपूर्ण भुजबंध, हाथों में दुहरा वलय, पैर में घूंघरूदार पैजनी और कटि तट पर चौड़ा महीन श्रृंखलायुक्त स्वर्णमेखला आदि आभूषणों का शिल्पांकन मनोहारी है । मुड़े वामपद के जंघा एवं सीधे दाहिनें घुटने को स्पर्श करता झुलता हुआ पुष्पगुच्छ से उभरे सुमेर युक्त सुगंधित पुष्प वनमाल नृवराह रूप प्रतिमा के मनोहर रूप सौंदर्य को द्विगुणित करता प्रतीत होता है ।

अन्य देव देवियों के शरीर भी गहनों से लदे है । लघुवराह के गर्दन में महीन गलबंध जैसी रेखा कानों के नीचे से अस्पष्ट सा प्रदर्शित आभासित प्रतीत होता है।

शेषनाग के घुटने से उपर का मानव रूप गहनों के भार से लदा प्रतीत होता है । नाभि के नीचे से जांघ के मानव रूप तक मेखला एवं उसके श्रृंखला जनित लटकन से उद्टंकित शोभित है । मस्तक पर उत्तम कारीगरीयुक्त ऊँचा किरीट एवं कानों के भारी कुंडलाकृत आभूषण सुंदर लगते हैं। गले में दो से अधिक हँसली गोलाई लिये हुए उत्कीर्णित प्रतीत होता है । उसके नीचे त्रिकपामेणाकार उट्टंकिता चन्द्रहार प्रदर्शित है । यज्ञोपवीत बायें कंधे से नीचे झूलता है। बाहों में लपेट के नीचे चौड़ा भुजबंध एवं कलाई वलय भूषित अंकित हैं ।

शेष–पत्नी विभिन्न भूषणाच्छादित अति रमणीय रूप प्रदर्शित करती प्रतीत होती है । नागरूप से उपर कमर से नाभि तक का भाग मेखला एवं अन्य जटिल आभूषणों से आच्छादित शोभित है मस्तक पर सर्प–फणाकृत मुकुट एवं कानों में भारी कर्णफूल झूलते खचित है । गले में तख और भारी चंद्रहार शोभित है । बायें गले से सुपुष्ट कठोर उरोजमध्य हार नीचे लटकता प्रतीत होता हैं ।

नृवराह की इस प्रतिमा के निचला दाहिना हाथ गदा युक्त, दाहिना उपरी हाथ चक्र युक्त, बायां उपरी हाथ केहुनी पर लक्ष्मी देवी (भूदेवी) को उठाये हुए हैं । जब कि बायां निचली हाथ में उदग्र शंख धारण किए हुए हैं ।

प्रतिमा के नीचे गुम्फित सर्प राज युगल प्रदर्शित है, दाहिनी ओर सर्प राज का अंकन है, जबकि बायी ओर एक स्त्री आकृति (सर्प राज की पत्नी) हाथों में द्विदलीय कमल लिए प्रदर्शित है जिसपर विष्णु का बायां पाँव स्थित है ।

दोनों पाँव के मध्य शिशु बराह का अंकन है ।

सम्पूर्ण प्रतिमा की कल्पना एक विस्तृत द्विदलीय कमलासन पर की गई है जिसकी आधार पीठिका में कई आकृतियां उत्कीर्ण हैं ।

क्रम संख्या	:–	11
चित्र संख्या	:–	11
प्रतिमा का नाम	:–	स्थानक विष्णु (वराह अवतार)
प्राप्ति स्थल	:–	वेनबारा
निर्माण काल	:–	बारहवीं शताव्दी
निर्माण सामग्री	:–	काला बेसाल्ट
माप	:–	4'2'' x 2' x 11''

विस्तृत विवरण :-

वेनबारा से प्राप्त विष्णु के वराह रूप की प्रतिमा पूर्व वर्णित सलेमपुर की प्रतिमा की तरह प्रतीत होती है । वेनबारा से प्राप्त प्रतिमा में अभिलेख भी अंकित हैं जो पालों के बाद की प्रतिमाओं के अन्तर को समझने में सहायक है क्योंकि इस प्रतिमा के अभिलेख की लिपि पालों के बाद की प्रतीत होती हैं ।

क्रम संख्या :- 12

चित्र संख्या :- 12

प्रतिमा का नाम :- शेषशायी विष्णु

प्राप्ति स्थल :- बलिया (लखनौर)

निर्माण काल :- दसवीं शताव्दी

निर्माण सामग्री :- काला ग्रेनाइट

माप :- 35 x 65 x 8 से0 मी0

विस्तृत विवरण :-

शेष शायी विष्णु की ऐसी प्रतिमा इस क्षेत्र में दुर्लभ होते हुए भी दो जगहों से मिली हैं । एक बलिया से तो दुसरा अवाम से ।

बलिया से प्राप्त शेषशायी विष्णु ग्रेनाइट प्रस्तर की पट्टिका पर चतुर्भुजी विष्णु सायुध, विहित वस्त्राभरण–वनमा़ल–यज्ञोपवीत विभूषित नाभिकमल पर आसीन ब्रह्मायुत नागशैया पर लेटे, पदतल में बैठी सर्वालंकृता सुवस्त्रावृता लक्ष्मी से चरणसेवा कराते हुए अलग–बगल में मानवमुखी (कमर से उपर मानव एवं सर्पाकृति) नाग कन्याओं द्वारा भक्तिपूर्वक सेवित, उभारशैली में उत्कीर्णित हैं ।

शयनमूर्ति का मुख प्रतिमा के दाहिने भाग में पड़ता है तथा लक्ष्मी वाये भाग में चरण दबाते हुये है । लक्ष्मी के बगल में एक खड़ी दिव्य चामरधारिणी का–सालंकारा, सुवस्त्रावेष्टि–का मनोहर अंकन है । विष्णु का दाहिना पैर लक्ष्मी की वाम हथेली पर है, जिसे वे सुपुष्ट वक्षोज के नीचे छाती से सटाये हाथ से चरण चम्पन कर रही हैं । अपनी एड़ी पर पृथुल नितम्ब का भार संभाले वे उकडू बैठी हैं । मस्तक पर केश सज्जा नागवेणी सदृश मनोहर है और पृष्ठभूमि में नागफण के उमंकण का भान होता है । कानों में कुंडल, गले में हार, भुजाओं पर अनंत, हाथों में चूड़ियां, कटितट पर मेखला एवं पैरों में कड़े सुशोभित है ।

मस्तक पर किरीट–मुकुट कानों में कुंडल, गले में हार, बाहों पर सुंदर कारीगरीयुक्त अंगद, कलाई में वलय, कटिप्रदेश में नक्कासीयुक्त मेखल तथा पैरों

में कड़े सुशोभित है । घटना तक सुंदर जड़ीदार अधोवस्त्र तथा शरीर पर कामदार उत्तरीय का अंकन है । कमर के नीचे तक यज्ञोपवीत तथा घुटना तक लंबा वनमाला विष्णु–मूर्ति की शोभाश्री में वृद्धि कर रहा है । मूर्ति के वाम भाग में नाभि से निकले पद्मनाल के उपर प्रफुल्ल कमल पर चतुर्भुज ब्रह्मा के दाहिने एक और बायें तीन मानव–नाग (उपर मानवाकृति एवं नीचे सर्प) मूर्तियां अंजलिबद्ध प्रणति मुद्रा में उकेरी हुई है । शेषशायी विष्णु के दाहिने कम चौड़ी पर्यंक–पट्टिका पर भी चार वैसी ही नाग प्रतिमाएं क्षैतिज रूप में उट्टंकित । नागमूर्तियां एक ही आकार–प्रकार की है । विष्णु के मस्तक के उपर शेष के सप्तफण का प्रदर्शन है।

दिव्य पर्यंक पर क्षैतिज गुंफित गुंजलकयुक्त सप्तफणी शेषशैया पर लक्ष्मी द्वारा सेवित एवं नागों द्वारा पूजित पद्नाभ स्वामी का ब्रह्मायुक्त प्रस्तरांकन बड़ा ही कलात्मक, भावपूर्ण एवं पौराणिक कथानुकूल प्रतीत होता है । शरीर को विश्राम की मुद्रा में शिथिल करते हुए उनींदे से चित्तलेटे हैं । इस शैली को योगशयन मूर्ति से अभिहित भी किया जा सकता हैं । मस्तक थोड़ा दाहिने मुड़ा है, कंधे से नितंब तक के शरीर का मध्यभाग थोड़ा उठा है । टखने से लेकर पांव तक का सीधा अंग लक्ष्मी के क्रोड़ में पांव रहने से उपर उठा है । इस तरह विष्णु का संपूर्ण अवयव सुंदर धनुषाकार दिखता है, जो मूर्ति निर्माण विधानुकूल एवं परंपरा सम्मत है । बायें पैर की स्थिति मुद्रा और उस पर वनमाल का पट्टबंध सदृश अंकन योगमुद्रांकन का आभास देता है । विष्णु की निमीलितप्राय आंखों में उनींदापन साफ झलकता है ओर विश्राम हेतु शरीर को शिथिल दर्शाये जाने का भाव दिखता है । ब्रह्मा सहित नागों का अंजलिबद्ध नतशिर रूप में अंकन में शेषशायी विष्णु के प्रतिश्रद्धा एवं भक्ति भाव प्रदर्शन अभिहित हैं ।

क्रम संख्या	:–	13
चित्र संख्या	:–	13
प्रतिमा का नाम	:–	शेषशायी विष्णु
प्राप्ति स्थल	:–	अवाम
निर्माण काल	:–	दसवीं शताव्दी
निर्माण सामग्री	:–	काला बेसाल्ट
माप	:–	30 x 50 x 8 से0 मी0

विस्तृत विवरण :—

पूर्व वर्णित प्रतिमा संख्या के अनुसार है । आवाम से प्राप्त इस प्रतिमा में सादगी पूर्ण क्रिट मुकुट युक्त विष्णु शेषशैय्या पर लक्ष्मी के साथ विराज़मान हैं । मुकुट के उपर सर्पक्षत्र प्रदर्शित है। विष्णु की नाभी से प्रस्फटित नाल युक्त कमल पर ब्रह्मा विराजमान हैं। विष्णु का बायां पाँव घुटने के पास से उदग्र स्थिति में मुड़ा हुआ है जबकि दाहिना पाँव शैय्या पर विस्तरित हैं । जिसे दबाते हुए लक्ष्मी प्रदर्शित हैं । विष्णु के दाहिना प्रलम्ब हस्त गदा धारण किये प्रदर्शित हैं । जबकि उदग्र सिर को आधार प्रदर्शित प्रदान करते हुए प्रदर्शित हैं। बाया उदग्र हस्त चक्रधारण किए हुए जबकि प्रलम्ब हस्त शंख धारण किए हुए प्रदर्शित हैं ।

मध्य रिलीफ की इस प्रतिमा में अलंकरण अल्प प्रदर्शित है, ग्रीवाहार, कैयुर एवं कंगन का प्रदर्शन अत्यन सामान्य हैं ।

गणेश

हिन्दू धर्म में अनेक देवी–देवताओं एवं उनके विविध रूपों की पूजा होती है । इन देवताओं मे गणेश हिन्दू जनजीवन के अति परिचित तथा परम आराध्य देवता हैं । विघ्नों का विनाश करनेवाले, मांगल्य के एकमात्र देवता गणेश या गणपति को आज आसेतूहिमाचल अग्रपूजा का सम्मान प्राप्त है । हिन्दू घरों में प्रत्येक मंगलकार्य का आरंभ गणेश की पूजा से होता है । यात्रा के समय गणेश का स्मरण किया जाता है। पुस्तक, बही–खाता आदि के आरंभ में 'श्रीगणेशाय नमः' लिखने की प्राचीन प्रथा है। स्वस्तिक चिह्न के साथ इनकी मूर्ति प्रवेश द्वार पर स्थापित की जाती है।

परन्तु, गणेश का यह रूप अति प्राचीन काल में देखने को नहीं मिलता है। गणपति शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद के एक मंत्र में हुआ है ।[54] ऋग्वेद का यह 'गणानां त्वा गणपतिम्' मंत्र प्रचलित परम्परा के अनुसार गणपति या गणेश के लिए प्रयुक्त, माना जाता है । परन्तु यह ब्रह्मणस्पति के लिए है, जो देवादि गणों के प्रतीक है । ये ब्रह्मणस्पति आज के गणपति नहीं हैं । गणपति नाम के विषय में ऐतरेय ब्राह्मण भी कहता है कि यह ब्रह्मणस्पति अथवा बृहस्पति अथवा बृहस्पति का वाचक है ।[55] शुक्ल यजुर्वेद में कई स्थानों पर गणपति शब्द प्रयुक्त हुआ है । किन्तु, कहीं भी गणेश के रूप में नहीं ।[56] वैदिक साहित्य में गणपति के अतिरिक्त गणेश का अन्य कोई नाम नहीं मिलता है और इस गणपति शब्द से किसी प्रकार गणेश के अर्थ का बोध नहीं होता है । इस प्रकार स्पष्ट है कि

वैदिक देव सूची में गणेश की गणना नहीं हुई है ।[57] ललितविस्तर आदि ग्रंथों में जो उपास्य देवों की सूची मिलती है, उसमें भी गणेश का उल्लेख नहीं मिलता है ।[58] अतः, डॉ0 सम्पूर्णानन्द का ऐसा विचार है कि गणपति भारत में अनार्यो के उपास्य थे, जो धीरे–धीरे आर्यदेवों में परिगणित हो गये ।[59]

याज्ञवल्क्य गृह्यसूत्र में विनायक का उल्लेख अम्बिकापुत्र के रूप में हुआ है । अथर्वशिरस् उपनिषद् में रूद्र के अनेक देवों या आत्माओं का समीकरण करते हुए विनायक का भी नाम आया है । महाभारत में गणेश्वरं कभी शिव के लिए प्रयुक्त हुआ है तो कभी विष्णु के सहस्त्र नामों में भी उल्लिखित हुआ है ।[60] यह भी कहा गया है कि विनायक स्तुति से प्रसन्न होने पर विघ्न–व्याधियों का विनाश करते हैं । आर0 जी0 भण्डारकर के अनुसार विनायक स्वभावतः अनिष्टकारी देव हैं । पर आराधना करने पर कल्याणकारी हो सकते हैं । निश्चय ही विनायक ई0 सन् के पूर्व लोगों के उपास्य देव बन चुके थे ।[61]

गणेश के उद्‌भव एवं विकास पर विभिन्न विद्वानों ने अपना मत प्रकट किया है । आनन्द कुमारस्वामी ने गणेश को यक्ष की श्रेणी में रखा है ।[62] वे गणेश–प्रतिमा का मूल अमरावती स्तूप से मिले एक उष्णीष पर अंकित गज मूल यक्षों में पाते हैं । पर गेटी ने इसका खण्डन किया है । उनका कहना है कि गणेश के शरीर के नीचे का भाग यक्ष–प्रतिमा से तुलनीय है, परन्तु गणेश की सम्पूर्ण प्रतिमा को यक्ष नहीं कहा जा सकता है । गणेश का नाम यक्षों की सूची में भी नहीं आता है और न किसी प्रमाणिक कथा में यक्षों के साथ उनका संबंध मिलता है ।[63]

प्रतिमा–लक्षणों से संबद्ध अधिकतर ग्रन्थ गणपति के चतुर्भुज, षड्‌भुज, अष्टादशभुज आदि अनेक ध्यानों का वर्णन करते हैं । इनका विशेष विवेचन गणेशपुराण में मिलता है । बृहत्संहिता के अनुसार गणों के अधिपति को एकदन्त, गजमुख, लम्बोदर, परशु और मूलकन्दधारी निर्मित करना चाहिए ।[64] विष्णुधर्मोत्तरपुराण[65] के अनुसार गणेश को हाथी के मुख तथा चार भुजाओं से युक्त बनाना चाहिए । इनके दाहिने हाथों में शूल और अक्षमाला और बायें में मोदक (लड्डुओं) से भरा पात्र और परशु (फरसा) होना चाहिए । इनका पेट लम्बा तथा कान स्तब्ध हो । ये व्याघ्र–चर्म का वस्त्र और सर्प का यज्ञोपवीत धारण किये हों । इनका एक चरण पादपीठ पर और दूसरा आसन पर स्थित हो। यहाँ गणपति के वाहन मूषक का उल्लेख नहीं हुआ है, जो अन्य शास्त्रों में पाया

जाता है । मत्स्यपुराण[66] में कहा गया है कि विनायक की प्रतिमा को गजमुख, त्रिनेत्र, चतुर्बाहु, सर्पयज्ञोपवीतधारी, विस्तृतकर्ण, विशालतुण्ड तथा एकदन्त होना चाहिए। उनके दाहिने हाथ में अपना दाँत, दूसरे हाथ में कमल, बायीं मोदक तथा परशु निर्मित करें । बृहत होने के कारण उनका मुख नीचे की ओर हो, विस्तृत पाद एवं हाथ पुष्ट हो । वे ऋद्धि एवं सिद्धि से युक्त हों । उनके नीचे की ओर मूषक बनाया गया हो । अपराजितपृच्छा में भी मत्स्यपुराण के वर्णन के अनुसार गणेश–प्रतिमा का विवरण है।[67]

एक गणेश मूर्ति भीठ भगवानपुर (मधुबनी) के मंदिर में सुरक्षित हैं । इस मूर्ति के चार हाथ है । इसके तीन हाथों में परशु, मोदक एवं अक्षमाला वर्त्तमान है । चौथे हाथ की वस्तु स्पष्ट नहीं है । इसके अतिरिक्त गणेश हार, यज्ञोपवीन, भुजबंद, धोती एवं नुपूर आदि आभूषणों से सुशोभित हैं । गणेश नृत्यमुद्रा में प्रदर्शित है । सामने का बायाँ हाथ गजहस्त मुद्रा में है । देवता के चारों हाथों में मोदक, कमल, सर्प और परशु है । अन्य हाथों की वस्तुएँ स्पष्ट नहीं है । गणेश की सूँड़ दाहिनी ओर मुड़ी है, जो सामान्यतः गणेश–मूत्तियों में नहीं पायी जाती है। इस प्रकार, यह अत्यन्त विलक्षण मूर्त्ति है । देवता का वाहन मूषक कमलासन पर चित्रित है। नृत्यभाव को चित्रित करने में शिल्पी को बड़ी सफलता मिली है।

नृत्य–गणपति की अष्टभुजी मूत्तियाँ अन्य स्थानों से भी पायी गयी है । उड़ीसा, खजुराहो, बंगाल एवं हलेविद से अनेक मूत्तियाँ मिली हैं, किन्तु भीठ भगवानपुर की गणपति मूर्त्ति इन सबसे अद्भुत एवं विलक्षण है ।[69]

बिहार की मध्यकालीन गणेश–मूत्तियों में नृत्य–मूर्त्तियों की अपनी विशेषता है । यद्यपि नृत्य–गणपति–मूर्त्तियों का निर्माण पूर्व–गुप्तकाल[70] में प्रारंभ हुआ और मध्यकाल में बहुत व्यापक हो गया, तथापि बिहार से गुप्त या पूर्व–गुप्तकाल की नृत्य गणपति की कोई भी मूर्त्ति नहीं मिली है । शास्त्रों के अनुसार नृत्य–गणपति की मूर्त्ति अष्टभुजी बननी चाहिए। सात हाथों में पाश, अंकुश, मोदक, कुठार, दन्त, वलय तथा अंगुलीय हो और शेष एक उन्मुक्त लम्बित हाथ विविध नृत्य मुद्राओं के प्रदर्शन में सहायक हो।[71]

मध्यकाल में गणेश–प्रतिमओं की बहुलता है । पूर्व एवं उत्तर–मध्ययुगान गणपति की आसन, स्थानक और नृत्य–मूत्तियाँ सारे भारतवर्ष में उपलब्ध हुई हैं। यद्यपि एक क्षेत्र की मूत्तियाँ दूसरे क्षेत्र की मूत्तियों से स्थानीय रचना–शैली के

कारण थोड़ी बहुत भिन्न अवश्य है।[72] दरभंगा प्रक्षेत्र के विभिन्न भागों से आलोच्य काल की कई प्रतिमाएँ प्रकाश में आयी हैं। जिनमें भीठ भगवानपुर, वानेश्वर, भोज पण्डौल, कोर्थु आदि प्रमुख हैं।

गणेश की अनेक आकर्षक और भावमयी मूर्तियाँ विविध क्षेत्रों से प्राप्त हुई हैं । पटना संग्रहालय में सुरक्षित नृत्य–रत गणेश की छः–भुजी मूर्ति में उनकी पीठिका के नीचे वाहन मूषक को उत्कीर्ण किया गया है । दाहिनी तरफ के दो हाथों में परशु तथा पाश है और एक हाथ उदर का स्पर्श कर रहा है । बाँए हाथों में सर्प, पुस्तक और मोदक–पात्र है । मुकुट से अलंकृत लम्बोदर–रूप में गणेश की पारम्परिक आकृति में सूँड़ आकर्षक ढंग से मोदक पात्र वाले हाथ की तरफ मुड़ी हुई हैं । वस्तुतः उनका एक दाहिना हाथ जो उदर को स्पर्श कर रहा है वह नृत्य–मुद्रा में, कलात्मक गति में है और शरीर के झुकाव तथा मुड़े हुए आन्दोलित पैरों से नृत्य की गति को व्यक्त किया गया है, जो अत्यनत प्रभावशाली बन पड़ा है । इसी प्रकार बंगाल में मिली एक सुन्दर मूर्ति में नृत्य करते हुए अष्टभुजी गणपति को अति कलात्मक ढंग से प्रदर्शित किया गया है।[73]

दरभंगा प्रक्षेत्र में गणेश की मूर्तियाँ की अपेक्षाकृत सीमित प्राप्तियों को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि मिथिला में इनकी संख्या बहुत कम नहीं रही है । भीठभगवानपुर, वाणेश्वर, भोजपण्डौल, पालीगोट, भगवतीपुर, महादेवाडीह, दरभंगा संग्रहालय, दरभंगा में गणेश की मूर्ति देखने को मिली ।

दरभंगा प्रक्षेत्र से प्राप्त महत्वपूर्ण गणेश प्रतिमा

क्रम संख्या	:–	1
चित्र संख्या	:–	14
प्रतिमा का नाम	:–	गणेश
प्राप्ति स्थल	:–	भीठ भगवानपुर
निर्माण काल	:–	दसवीं शताव्दी
निर्माण सामग्री	:–	काला ग्रेनाइट
माप	:–	76 x 52 x 20 से0 मी0

विस्तृत विवरण :–

भीठ भगवानपुर से प्राप्त काले ग्रेनाइट पथर की अष्टभुजी नृत गणपति की आकर्षक प्रतिमा में मुख्य भाग को छोड़ स्टेला एवं आधार पीठिका पूर्णतः खंडित हैं ।

गज मस्तक अलंकृत कीरिट मुकुट से सुशोभित गजमस्तक का निचला सिरा नृत्य के प्रवल आवेश से लहराकर अत्यंत आकर्षक रूप से दाहिने स्कन्ध तक गतिमान।

दाहिना प्रलम्व हस्त में अभय मुद्रा मं सामने की ओर हैं । दाहिना मध्य हस्त पाश युक्त दाहिना मध्य परशुयुक्त तथा दाहिना उदग्र हस्त स्वदन्त युक्त दरसाया गया है तो बायां प्रलम्ब हस्त नृत्य की अत्यन्त भव्य मुद्रा एवं गतिमानता के दौरान शरीर को आवश्यक संतुलन प्रदान करता हुआ बायें से दाहिनी ओर समकोनीय प्रदर्शित हैं । बायें मध्य हस्त में अंकुश हैं तथा मध्य हस्त में मुद्गर है, तो मायां उदग्र हस्त मोदक पात्र से युक्त हैं ।

सम्पूर्ण संयोजना द्विदलीय कमलासन पर प्रतीत होती है । जो खंदित है। बायीं ओर नृत्यमंडली का सदस्य वादन करता हुआ प्रदर्शित है, ऐसे ही आकृति का अनुमान दायीं ओर लगाया जा सकता हैं । स्टेला के उपरी सिरे पर शेष खंडित आकृति से उसके मालाधारी यक्ष होने का अनुमान लगाया जा सकता है। प्रतिमा उच्च रिलीफ की है एवं प्रस्र मूर्ति कला का बेहतरीन नमूना हैं ।

सामान्यतः गणेश प्रतिमा में, मोदक प्रिय होने के कारण उनका गज–मुख, पात्र में रखे लड्डू की ओर आकर्षित दिखाये जाने की परंपरा है, जबकि यहां गणेश लड्डू पात्र को भुलकर बिल्कुल विपरीत दिशा में मुख घुमाकर लयताल के साथ नाचने में मग्न दिखते हैं । विघ्नेश्वर गणेश लंगोट धारी है । मस्तक पर भव्य मुकुट शोभित है । गले में मोतीमाल, कमर में रत्न जटिल मेखला, बाह पर भुजबंध, हाथों में वलय और पैरों में कड़े पहने हैं । बायें पैर के अंगूठे से भूमि स्पर्श करते हुये किंचित दाहिनी ओर मुख घुमाये आनंद नृत्य में मग्न दिखते हैं।

क्रम संख्या	:–	2
चित्र संख्या	:–	15
प्रतिमा का नाम	:–	गणेश
प्राप्ति स्थल	:–	भोज पण्डौल
निर्माण काल	:–	दसवीं शताव्दी
निर्माण सामग्री	:–	काला ग्रेनाइट
माप	:–	80 x 48 से0 मी0

विस्तृत विवरण :—

भोज पण्डौल से प्राप्त चर्तुमुखी गणेश की आकर्षक प्रतिमा द्विदलीय कमलासन पर सुखासन मुद्रा में स्थित हैं । किरीट मुकुट विस्तृत गज कर्ण लिये हुये हैं । गजमुख का निचला हिस्सा बायी ओर मुड़कर उपर की ओर प्रदर्शित हैं। जिसके दोनों नेत्र निमिलित मुद्रा में स्थित हैं । चर्तुभुजी गणपति के हस्त संयोजना में दाहिना भाग पूर्ण है जबकि बाया भाग आंशिक रूप से खंडित, आहिने उर्द्ध हस्त में कंदमूल जबकि दाहिना प्रलम्भ हस्त अक्षमाला युक्त लिए दर्शाया गया हैं। बाया उर्द्ध एवं प्रलम्ब हस्त हथेली के पास से खण्डीत हैं । बाया प्रलम्ब के विधीमान अवशे एवं हाथों के गती के आधार पर बरद मुद्रा में नीचे झुका हुआ प्रतित होता हैं।

गले में ग्रीवा हार, बाह में केयुर, सर्प यज्ञोपवित का स्पष्ट अंकन होते हुए कमलासन पर स्थित गणेश के दोनों पांब में से दाहिना पांब उपर की ओर उठा हुआ जबकि बायां आसन पर दोनों पाबं में पजनी का स्पष्ट अंकन हैं । अधो वस्त्र का एक सिरा बाये एड़ी के नीचे से होता हुआ पद्मासन के सामने झूलता हुआ है । चौड़ी आधार पीठिका पर सामने की ओर गणपति के बाहन मूसक का अंकन हैं ।

प्रतिमा उच्च रिलिफ की प्रतीत होती हैं ।

क्रम संख्या :— 3

चित्र संख्या :— 16

प्रतिमा का नाम :— गणेश

प्राप्ति स्थल :— कोर्थु

निर्माण काल :— दसवीं शताव्दी

निर्माण सामग्री . :— काला ग्रेनाइट

विस्तृत विवरण :—

कोर्थु से प्राप्त अष्ट भुजी नृत्यरत गणपति द्विदलीय कमलासन पर स्थित हैं। सिर पर कीरीट मुकुट अलंकृत हैं तथा तीसरे नेत्र का उभार दिखता हैं । इस प्रतिमा का बायां दन्त पूर्ण हैं । जबकि दाहिना भग्न हैं । विस्तृत गज कर्ण का प्रदर्शन हैं । हस्त संयोजना में दाहिना उदग्र पद्मनाल धारण किये हुये हैं मध्य परशु धारण, मध्य अभय मुद्रा में हैं । जबकि दाहिने प्रलम्ब की स्थिति अस्पष्ट हैं।

बाये उदग्र हस्त नृत्यरत मुद्रा को प्रदर्शित हैं, मध्य स्वदन्त, मध्य पाश लिये हुए हैं। बायां प्रलम्ब मोदक पात्र धारण किये हुए हैं ।

गले में यज्ञोपवीत, अधोवस्त्र के उपर, कटिमेखला का आकर्षण अंकन हैं। आधार पीठिका के दोनों ओर नृत्य को आधार प्रदान करते हुए नृत्य मंडली के वादक–गायक सदस्यगण प्रदर्शित हैं । आधार पीठिका पूर्व की प्रतिमा के अनुरूप हैं । गणपति के नृत्य को सम्पूर्णता प्रदान करते हुए दर्शाया गया हैं ।

कोर्थु से प्राप्त प्रतिमा का मुख्य भाग पूर्ण हैं । प्रतिमा मध्य रिलिफ की है, स्टेला का उपरी हिस्सा खण्डीत हैं । स्टेला के उपरी हिस्से पर दाहिनी ओर मालाधरी यक्ष का अंकन है, बाये सिरे पर सामान आकृति अनुमानित है जो खंण्डीत हैं ।

क्रम संख्या	:–	4
चित्र संख्या	:–	17
प्रतिमा का नाम	:–	गणेश
प्राप्ति स्थल	:–	हावी डीह
निर्माण काल	:–	दसवीं शताव्दी
निर्माण सामग्री	:–	काला ग्रेनाइट

विस्तृत विवरण :–

अष्ट भुजी नृत्यरत गणपति की उच्च रिलीफ की सम्पूर्ण प्रतिमा, गणपति द्विदलीय कमलासन पर नृत्य मुद्रा में प्रदर्शित हैं । गजमस्तक अलंकृत हैं । अलंकृत कीरिट मुकुट से सुशोभित गजकर्ण का प्रभावपूर्ण प्रदर्शन गणपति के मूल नेत्रों के स्थान पर वर्त्तमान में पृथक निर्मित नेत्रों से युक्त । गजमस्तक के मध्य दोनों नेत्रों के मध्य तीसरे नेत्र का उभार स्पष्ट हैं । एक दन्त की प्रतिमा में बाया पूर्ण जबकि दाहिना भग्न हैं । दाहिना प्रलम्ब हस्त पाश युक्त, दाहिना मध्य अभय मुद्र में मध्य अंकुश युक्त तथा दाहिना उदग्र हस्त कंद मूल युक्त हैं । जबकि बायां प्रलम्ब हस्त मोदक पात्र धारण किये हुए हैं । बायां मध्य हस्त स्वदन्त धारन किये हुए मध्य हस्त परशु धारण किये हुए हैं । जबकि उदग्र बायां हस्त नृत मुद्रा को प्रदर्शित कर रहा हैं । जगमस्तक का निचला सिरा बायी ओर आकर्षक प्रवाह कपामे दर्शाता हुआ मोदक पात्र के उपर प्रदर्शित हैं । इस गणेश की प्रतिमा में ग्रीवाहार नहीं है सर्प यज्ञोपवीत धारीधर है कटिमेखला अलंकरण युक्त हैं हाथों में केयूर एवं कंगन का प्रदर्शन स्पष्ट हैं। पेंट एवं पैरों की गति हस्त संयोजना के

अनुरूप है जो नृत्य मुद्रा को प्रदशित करता हैं। आधार पीठिका पर गणपति के नृत्य को संपूर्णता प्रदान करते हुए गायन–वादन मंडली के सदस्य बायी ओर ठफली (बलय) जबकि दाहिनी ओर मृंदग वादक हैं। चौड़ी आधार पीठिका मध्य में पुष्प एवं उभय किनारों पर भक्त गणों का अंकन हैं।

स्टेला–परिपूर्ण, ऊपरी शिरा वलयाकार होकर मध्य में कोनीय ऊभार को दर्शाता हुआ गजानन के मुकुट के ऊभय किनारों पर मालाधारी यक्षों का अंकन हैं ।

क्रम संख्या :– 5

चित्र संख्या :– 18

प्रतिमा का नाम :– गणेश

प्राप्ति स्थल :– करियन

निर्माण काल :– आठवीं शताव्दी

निर्माण सामग्री :– काला ग्रेनाइट

विस्तृत विवरण :–

करियन से प्राप्त गणेश की प्रतिमा के दो हाथ हैं । वाहन का अंकन नहीं हुआ है । मूर्ति के निर्माण में दक्षता का अभाव प्रतीत होता है । पाल कालीन विकसित मूर्तियों की तरह इसका रूपांकन कमजोर है । इसके क्षरण का स्तर उच्च हैं तथा प्रतिमा का स्टैला सामान्य तथा मध्यम रिलीफ का हैं ।

सूर्य

सूर्य प्रकृति की आदिम शक्तियों मे से एक है । आकाश में प्रतिदिन प्राची में उदित होने वाले सूर्य को आदिम काल के मनुष्य ने आश्चर्य–मिश्रित–आदर से देखा होगा । उसने यह भी देखा होगा कि सूर्य अपने प्रकाश से सारे जगत को दीप्त कर देता है । उसके निकलते ही अन्धकार नष्ट हो जाता है । छाया में नष्ट होने वाली और सूर्य के पात में स्वस्थ रहने वाली वस्तुओं के ज्ञान ने आदिम मानव को सूर्य के स्वास्थ्यवर्द्धक गुणों से भी परिचित करा दिया होगा । अतः सूर्य उन प्राकृतिक शक्तियों में से है, जिसे मनुष्य ने सबसे पहले देवत्व प्रदान किया । इसी कारण सूर्योपासना की परम्परा संसार के अनेक प्राचीन सभ्यताओं में प्रचलित रही।[74] अनेक देवताओं की प्रतिष्ठा बनती, बिगड़ती रही, परन्तु सूर्य को सर्वत्र सम्मान मिलता रहा।

भारत में सर्योपासना का आरम्भ कब से हुआ ? यह बहुत स्पष्ट रूप से कहना कठिन है । नवपाषाण युगीन संस्कृतियों में सूर्योपासना के अस्तित्व का उल्लेख विचारकों द्वारा किया गया है ।[75] प्रागैतिहासिक संस्कृतियों में प्रचलित विभिन्न प्रतीकों का सूर्य प्रतीक से तादात्म्य कर यह कल्पना की जाती है कि सूर्योपासना का प्रचलन प्रागैतिहासिक संस्कृतियों में था; साथ ही पाषाण काल से लेकर आद्यैतिहासिक काल तक सूर्योपासना की अविराम श्रृंखला को भी जोड़ने का प्रयास किया गया है ।[76] भारत की सैन्धव सभ्यता में भी सूर्योपासना का कोई बहुत स्पष्ट प्रमाण नहीं प्राप्त होता, परन्तु कुछ ठिकरों पर अवश्य ऐसे चिन्ह मिलते हैं, जो परवर्ती युग में सूर्य के प्रतीक समझे जाते थे, जैसे–'स्वस्तिक', 'चक्र', 'किरणयुक्त–मण्डल' और 'मयूर' विशेष उल्लेखनीय हैं । वैदिक कालीन भारत में सूर्य का अत्यधिक महत्त्व था । वैदिक लोगों ने सूर्य से सम्बन्धित अनेक देवताओं की कल्पना कर ली थी ।[77] इनमें सविता, पूषन, मित्र, अर्यमन और विष्णु प्रमुख है ।[78] सूर्य के इनमें से अधिकांश रूपों और कुछ नये रूपों को जोड़कर द्वादशादित्य की कल्पना की गई । शतपथ ब्राह्मण में एक स्थल पर आठ और दूसरे स्थल पर बारह आदित्यों का उल्लेख मिलता है ।[79] हिन्दू धर्म में द्वादशादित्य और नवग्रहों की पूजा आज तक प्रचलित है । ऋग्वेद में सूर्य की अनेक ऐसी विशेषताओं का मिलता है, जिन्होंने आगे चलकर–सूर्य–प्रतिमा को प्रभावित किया ।[80]

भारत में सूर्य–पूजा की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। मार्शल के अनुसार मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा के उत्खनन में प्राप्त प्रागैतिहासिककाल के मृद्भाण्डों, मुद्राओं और मनकों पर ऐसे अनेक प्रतीक अंकित हैं, जो सूर्य से निकटता रखते हैं ।[81]

वैदिक काल में सूर्य आकाश में दिखाई पड़ने वाले ज्योतिषपिण्ड के रूप में पूज्य थे। वेदों में सूर्य का तथा उनके विविध रूपों–सविता, पूषन्, भग, विवस्वत्, मित्र, अर्यमन् और विष्णु–का वर्णन है, जिनमें सूर्य सर्वाधिक स्थूल देवता है ।[82] ऋग्वेद में एक बार छः आदित्यों–मित्र, अर्यमन्, भग, वरूण, दश और अंश–का नामोल्लेख भी हुआ है ।[83]

सूर्य तथा उनके विविध रूपों की पूजा उत्तर वैदिक काल में भी प्रचलित थी ।[84] इस युग के साहित्य में द्वादशादित्यों के निश्चित सन्दर्भ उपलब्ध हैं और इन्हें वर्ष के बारह महीनों के तद्रूप माना गया है ।[85]

यद्यपि भारत में सूर्य–पूजा की परम्परा अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित थी, जैसा कि पूर्वोक्त साक्ष्यों से स्पष्ट है, तथापि कुछ साहित्यिक और आभिलेखिक प्रमाणों से ज्ञात होता है कि सौर सम्प्रदाय के विकास में ईरान के सूर्य–उपासक मगों का विशेष योगदान था । इन मर्गों के द्वारा ईरानी सूर्य अथवा मिहिर की पूजा भारत आई थी।[86]

मध्ययुग में अन्य देवताओं के समान सूर्य के प्रतिमा–लक्षण भी पूर्णतया निर्धारित हो चुके थे ।[87] विवेच्य शास्त्रों में भी सूर्य, द्वादशादित्यों और नवग्रहों का अच्छा विवेचन है। इनमें से सूर्य के प्रतिमा–लक्षण अपराजितपृच्छा और रूपमण्डन में द्वादशादित्यों का वर्णन अपराजित–पृच्छा और देवतामूर्तिप्रकरण में तथा नवग्रहों के प्रतिमा–लक्षण तीनों विवेच्यशास्त्रों में मिलते हैं । इन शास्त्रों में सूर्य के अष्ट प्रतिहारों का सुनियोजित विवरण भी उपलब्ध है ।

एक प्रधान देवता की भाँति सूर्य का वर्णन केवल अपराजितपृच्छा और रूपमण्डन में है, देवतामूर्तिप्रकरण में नहीं (देवतामूर्तिप्रकरण में सूर्य द्वादशादित्यों में एक है) । अपराजित–पृच्छा और रूपमण्डन में उपलब्ध सूर्य–प्रतिमा–लक्षण लगभग एक समान है। अपराजितपृच्छा के अनुसार सूर्य की प्रतिमा द्विभुजी, एकमुखी तथा हाथों में श्वेत पद्म धारण किए हुए हो । वह नवग्रहों से घिरी हो। अत्यन्त तेजस्वी और शत पद्मों पर स्थित हो । तेजयुक्त वतुंल बिम्ब के मध्य प्रदर्शित हो। समस्त लक्षणों से युक्त एवं समस्त आभूषणों से विभूषित हो (अपराजितपृच्छा में सभी ग्रहों को समान रूप से किरीट, माला व समस्त आभूषणों से विभूषित कहा गया है)[88] उसका वर्ण लाल हो तथा वह लाल वस्त्र धारण किए हो ।[89] यहाँ सूर्य का वाहन सप्ताश्व रथ बताया गया है ।[90] रूपमण्डन में भी सूर्य को द्विभुज, एकमुख, हाथों में श्वेत पद्म धारण किए हुए, तेजयुक्त वर्तुल विम्ब के मध्य स्थित, समस्त लक्षणों से युक्त एवं समस्त आभूषणों से विभूषित (रूपमण्डन में भी समस्त ग्रह समान रूप से किरीटमुकुट और रत्नकुण्डलों से अलंकृत बताए गए है)[91] तथा रक्तवस्त्र–धारी कहा गया है[92] और उनका वाहन सप्ताश्व–रथ बताया गया है ।[93] यहाँ सूर्य के रक्त वर्ण का तथा उनके नवग्रहों से घिरे शत पद्मों पर स्थित होने का उल्लेख नहीं है । इस प्रकार इन विवेच्य शास्त्रों में वर्णित सूर्य की इन सामान्य विशेषताओं का उल्लेख अन्य अनेक प्राचीन ग्रंथों–मत्स्यपुराण,[94] अग्निपुराण,[95] गरूण–पुराण,[96] पद्मपुराण,[97] स्कन्दपुराण,[98] मानसोल्लास[99] और शिल्परत्न[100] में भी है ।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सूर्य–प्रतिमा–निर्माण–सम्बन्धी उत्तर भारतीय परम्परा में सूर्य के उदीच्य वेश (शरीर के भलीभाँति ढके होने एवं वर्म, अव्यंग तथा उपानह धारण किए होने) पर विशेष बल दिया जाता है, जैसा कि बृहत्संहिता,[101] विष्णुधर्मोत्तरपुराण,[102] मत्स्यपुराण (यहाँ सूर्य–प्रतिमा का विवरण दो स्थानों पर है। एक स्थान पर वर्णित मूर्ति सूर्य की पूर्वोक्त सामान्य विशेषताओं से युक्त हैं,[103] किन्तु दूसरे स्थान पर देवता के उदीच्य वेश का उल्लेख भी किया गया है),[104] भविष्यपुराण,[105] हयशीर्षसंहिता[106] और विश्वकर्मशिल्प[107] के विवरणों से ज्ञात होता है, किन्तु अपराजितपृच्छा और रूपमण्डन में उदीच्य वेश–सम्बन्धी विशेषताओं का कोई उल्लेख नहीं है। इस प्रकार ये विवेच्य ग्रन्थ सूर्य–प्रतिमा–निर्माण–सम्बन्धों दक्षिणात्य परम्परा का प्रतिनिधित्व करते है, जिसमें सूर्य अन्य देवताओं के समान आभूषण तो धारण करते है, किन्तु उनका शरीर चोलक, वर्म, अव्यंग और उपानह से युक्त नहीं होता है ।[108]

मूर्तिकला में सूर्य का प्रदर्शन दो प्रकार से मिलता है–पृथक् रूप में तथा द्वादशादित्यों व नवग्रहों के सामूहिक चित्रणों में ।

प्रतिमा कला के अन्तर्गत सूर्य को दो रूपों में प्रदर्शित करने का विधान निश्चित किया गया है–

1) उदीच्य वेशभूषा में
2) दक्षिणी वेशंभूषा में

प्रतिमाशास्त्र सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों में सूर्य–प्रतिमा निर्माण विधान का उल्लेख किया गया है –

सूर्य–प्रतिमा निर्माण विधान का प्राचीनतम उल्लेख वाराहमिहिर ने वृहत्संहिता में किया है । इस ग्रंथ में सूर्य को उत्तरी वेश–भूषा (उदीच्यवंश) में दिखाने का आदेश दिया गया है ।[109]

सूर्य के अष्ट प्रतिहारों का वर्णन विवेच्य शास्त्रों में है । ये प्रतिहार है दण्डी, पिंगल, आनन्द, अन्तक चित्र, विचित्र, किरणाक्ष और सुलोचन ।[110] अपराजितपृच्छा और देवतामूर्तिप्रकरण में इन प्रतिहारों को पुरुषाकार निर्मित करने का निर्देश है।[111] विवेच्य शास्त्रों में वर्णित ये प्रतिहार–मूर्तियाँ चतुर्भुजी हैं ।

सूर्य को भारतीय कला में ई0 पू0 से ही प्रतीक और मानव दोनों ही रूपों में निरूपित किया गया । चक्र, पद्म और रश्मि–मण्डल जैसे प्रतीकों का अंकन आहत मुद्राओं के अतिरिक्त पांचाल एवं मित्रवंशी मुद्राओं पर भी देखा जा सकता

है । दूसरी–पहली शती ई0 पू0 से मुद्राओं तथा स्वतंत्र मूर्तियों के रूप में सूर्य के निरूपण के उदाहरण मिलते हैं। सूर्य की प्रारंभिक मूर्तियाँ बोधगया (बिहार, पहली शती ई0 पू0), भाजा (पूना, महाराष्ट्र, दूसरी–पहली शती ई0 पू0), अनन्त–गुम्फा (खण्डगिरि, उड़ीसा, पहली शती ई0) तथा लाला भगत (कानपुर, उ0 प्र0, दूसरी शती ई0), जैसे स्थलों से मिली हैं । सूर्य प्रतिमाओं की सामान्य विशेषताएँ इस प्रकार है[112] :–

1) सूर्य की दो प्रकार की – स्थानक (खड़े हुए) और आसन (भद्रासन, बैठे हुए) मुद्राओं की प्रतिमाएँ प्राप्त होती हैं ।
2) सूर्य प्रतिमाएँ किरीट–मुकुट, एकावली, कुंडल, लम्बा कोट, कंधे पर उत्तरीय, कमर में अलंकृत पट्टी, जिसके दोनों छोर सामने लटकते हों और पावों में धोती और उपानह (बूट) धारण किये हुए प्रदर्शित की गई हैं ।
3) अधिकांश सूर्य प्रतिमाओं के दोनों हाथों में सनाल कमल हैं । किसी–किसी प्रतिमा के एक हाथ में सनाल कमल और एक हाथ में कटार है । स्थानक मुद्रा की प्रतिमाओं के कमलनाल युक्त हाथ कंधे तक उठे हुए हैं ।
4) दो–तीन अपवादों को छोड़कर अधिकांश प्रतिमाओं को सात अश्वों से जुते रथ पर सारथी अरूण के साथ प्रदर्शित किया गया है । (अपवाद बंगाल के नियामतपुर और कुमारपुर से प्राप्त सूर्य प्रतिमाएँ)।
5) सूर्य प्रतिमा के दाहिनी ओर मसिपात्र और लेखनी लिये हुए पिड्गल तथा बायीं तरफ दंड लिये दंडी को दर्शाया गया है ।
6) इस प्रकार उषा–प्रत्यूषा को दायें–बायें प्रदर्शित गया है । कई प्रतिमाओं में वे वाण चलाती दिखाई गई हैं ।

सूर्य प्रतिमाओं के प्राप्ति–स्थानों के आधार पर सत्येन्द्र कुमार झा की यह धारणा बनी कि सूर्य पूजा का प्रभाव मिथिला के सीमित दायरे तक ही प्रभावी रहा था । परन्तु शीध्र ही उन्हें अपनी इस प्रारंभिक धारणा में परिवर्तन करना पड़ा, क्योंकि बिल्कुल हाल की सूर्य प्रतिमाओं के प्राप्ति–स्थल एक व्यापक क्षेत्र–विस्तार की ओर संकेत करते हैं। मधुबनी के देवपुरा गाँव (बेनीपट्टी प्रखण्ड) से सूर्य के अनुत्तर देवता–दण्ड और पिड्गल एवं उनकी पत्नियों प्रत्यूषा, उषा ने उनका ध्यान आकर्षित किया है। परन्तु बहुत प्रयास के उपरान्त भी सूर्य की मूर्ति इस

ग्राम से प्राप्त नहीं हो सकी । फिर दरभंगा शहर के अन्तर्गत ही रघैपुरा से आकस्मिक रूप से एक आकर्षक सूर्य प्रतिमा (1998) में प्रकाश आई है । साढ़े चार फीट ऊँची इस प्रतिमा की देह के ऊपर छोटे–छोटे पुष्प–चिन्हों (बूटे) का अंकन किया गया है, जो संभवतः देवता के उत्तरीय वस्त्र को दर्शाते हैं । इस तरह का अंकन मगध से प्राप्त कई पालकालीन मूर्तियों में पाया जाता है । इस सूत्र के सहारे यह समझने का प्रयास किया जा सकता है कि रघेपुरा की सूर्य–प्रतिमा मगध के किस क्षेत्र–विशेष या मूर्ति–निर्माण के किस केन्द्र से सम्बन्ध रखता है। परन्तु रघेपुरा की यह सूर्य–मूर्ति शिल्पांकन की इस विशिष्टता के कारण मिथिला या कम–से–कम आलोच्य क्षेत्र के पाल मूर्तियों से बिल्कुल अलग–थलग पड़ जाता है । यह हमें किन संभावनाओं की ओर संकेत कर सकता है, उन्हें समझने के लिए हमें प्रयास करना होगा । इनमें से एक तर्क यह हो सकता है कि मंगध में केन्द्रित शिल्प परम्परा से मिथिला की पाल मूर्तियों का सम्पर्क या सम्बन्ध बहुत करीब का नहीं रहा था ।

दूसरी महत्वपूर्ण बात जो सामने आती है, वह यह कि अधिकांश सूर्य, मूर्तियाँ पाल–सेन काल के परवर्ती काल, मसलन 12–13 वीं सदी के करीब मिलती है (सहरसा के निकट विख्यात कन्दाहा सूर्य की प्रतिमा तो इसके भी बाद की लगती है) । सत्येन्द्र कुमार झा को एक भी ऐसी सूर्य की मूर्ति नहीं देखी जो प्रारंभिक पालकालीन (9–10 वीं सदी) की दीखे, जैसे कि कुछ वैष्णव, शैव और शाक्त मूर्तियों की स्थिति है । ऐसा लगता है कि सूर्य पूजा का प्रचलन मिथिला में अपेक्षाकृत विलम्ब से हुआ था । इसके क्या कारण रहें होंगे, यह अन्वेषण का विषय हो सकता हैं ।[113]

राजशाही संग्रहालय[114] में सुरक्षित मूर्ति में किरीट, मुकुट आदि आभूषणों से अलंकृत सूर्य के दोनों हाथों में सनाल कमल है । सात अश्वों से संचालित रथ पर सवार सूर्य के पार्षदों में दण्डी, पिंगल, सारथी अरूण, राज्ञी, निक्षुभा, और भू–देवी महाश्वेता का प्रदर्शन हुआ है। विविध आलंकारिक अभिप्रायों से सुसज्जित इस मूर्ति में गति, स्फूर्ति एवं सौन्दर्य का विशिष्ट भाव है । संथाल परगना[115] से प्राप्त सूर्य–मूर्ति, इस कला–शैली की एक सुन्दर कृति है । मूर्ति आलंकारिक विशेषताओं के दृष्टिकोण से काफी प्रभावोत्पादक है । साथ ही उसमें आध्यात्मिक सौम्यता और कलात्मक शोभा की मोहक प्रतिष्ठा भी है । दुहरे कमलासन पर खड़े सूर्य के दोनों हाथों में सनाल कमल है । सिर पर मुकुट, गले में ग्रैवेयक

तथा बाँए कन्धे से नीचे तक लटकता हुआ यज्ञोपवीत का प्रदर्शन हुआ है। पार्षदों में दण्डी, पिंगल, राज्ञी, निक्षुभा, भू–देवी महाश्वेता, सारथी अरूण और उषा–प्रत्युषा का अंकन हुआ है । इसी प्रकार तिपरा (बंगाल) चौडा ग्राम में मिली मूर्ति[116] में सात अश्वों से खींचे जाते हुए एक चक्र वाले रथ पर आसीन सूर्य के साथ में अरूण, उषा, प्रत्युषा, दण्डी, पिंगल आदि को प्रदर्शित किया गया है । सभी की आकृतियाँ मनोहर हैं और उनमें सौन्दर्य की सुन्दर अभिव्यंजना हुई है ।[117]

सारण जिला के एकमा, मुंगेर की तरह नालन्दा भी सूर्य–पूजा का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा है । तिब्बती सूत्रों में नालन्दा में एक सूर्यकुण्ड होने का उल्लेख मिलता है।[118] यह अब भी वर्त्तमान है तथा उस स्थान पर मेला लगता है। इस स्थान से पालकालीन अनेक सूर्य मूत्तियाँ मिली हैं ।

नवादा जिले के गोविन्दपुर से प्राप्त शक–संवत् 1059 के अभिलेख में साम्ब द्वारा मगों के भारत लाये जाने का वर्णन है । साम्ब द्वारा भारत में मग ब्राह्माण लाने की प्राचीन अनुश्रति 12वीं सदी के पूर्वार्ध तक प्रचलित थी, जैसा कि उपर्युक्त अभिलेख से प्रकट होता है । गया तथा आसपास के क्षेत्रों से सूर्य की पालकालन अनेक मूर्त्तियाँ प्रकाश में आयी हैं, जो बोधगया, गया तथा पटना के संग्रहालयों में देखी जा सकती हैं। इन प्रतिमाओं में पटना संग्रहालय में सुरक्षित प्रतिमा, जो महरावाँ से मिली है, अत्यन्त सुन्दर एवं पूर्ण रूप से विकसित मूर्त्ति मानी जा सकती है ।[119] गया के विष्णुपद मन्दिर से एक अभिलेख मिला था, जिसका प्रारंभ सूर्य की स्तुति से किया गया है ।[120] सूर्यकुण्ड एवं सूर्यमूर्त्ति बोधगया के पास बकरौर गाँव में भी विद्यमान है । सहरसा जिले के बनगाँव के निकट कनदाहा ग्राम से विग्रहपाल तृतीय का एक ताम्रपत्र मिला है ।[121] इसमें सूर्य–मन्दिर होने का उल्लेख मिलता है। इसमें सूर्य को 'भवादि' कहा गया है। यही से एक त्रिमूर्ति की प्रतिमा भी प्रकाश में आयी है, जिसमें सूर्य को प्रमुख देव के रूप में चित्रित किया गया है । पार्श्वदेवता के रूप में ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव दिखाये गये हैं । उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट है कि यह क्षेत्र सूर्यपूजा के लिए काफी प्रसिद्ध था ।

दरभंगा प्रक्षेत्र में सूर्य प्रतिमाएँ मधुबनी जिले के एक खास और सीमित क्षेत्र से प्राप्त होती रही है और यह क्षेत्र है इस जिले का पूर्वी हिस्सा झंझारपुर–मधेपुर पट्टी पुराने कोशी–बलान के बहाव के किनारे पड़ता है। यथा– नाहर भगवतीपुर, भीठ भगवानपुर, राजनगर, पस्टन, पटला, जगदीशपुर (मनीगाछी प्रखण्ड), परसा, रघैपुरा आदि।

दरभंगा प्रक्षेत्र से प्राप्त महत्वपूर्ण सूर्य प्रतिमा

क्रम संख्या :– 1
चित्र संख्या :– 19
प्रतिमा का नाम :– सूर्य
प्राप्ति स्थल :– परसा
निर्माण काल :– दसवीं शताव्दी
निर्माण सामग्री :– काला ग्रेनाइट
माप :– 127 x 65 x 37 से0 मी0

विस्तृत विवरण :–

स्टेला गोलाकार शीर्ष हैं, उच्च रिलीफ तत्क्षण शैली उन्नत प्रतिमा सादगीपूर्ण किरीठ मुकुट युंक्त प्रदर्शित प्रतिमा है जिसका ऊपरी शिरा सपाट है । अलंकरण बहुत अधिक है; गले में ग्रीवाहार, काणों में कुंडल, यज्ञोपवीत धारण किए हुए दाहिने ओर पिंगल, उषा बाये और दंडी, प्रत्यूषा के साथ सात अरषों से जुतेरथ पर सारथी अरूण के साथ सूर्य की यह प्रतिमा सुन्दर हैं । सूर्य के मस्तक पर गोल टोपी है । कानों में कुण्डल, गले में भारी ग्रैवेयक और बाहों पर भुजबंध शोभित है । जंघा तक वस्त्रावेष्टित सूर्य कटि मेखला, अव्यंग सज्जित हैं । उपानहयुक्त (बूटधारी) पांवों का निचला भाग, दोनों पैरों के बीच खड़ी एक देवी प्रतिमा एवं उसके आगे नीचे पंगु सारथी अरूण के बैठे रंहने के कारण, अलक्षित है । मूर्ति के बायें दण्डी, राज्ञी और ऊषा और दाहिने पिंगल, निक्षुभा एवं प्रत्यूषा प्रदर्शित हैं । पाद पृष्ठ पर सात गतिशील से घोड़े तक्षित हैं, जिनकी रास चालक के हाथों में है । परिकर के शीर्ष पर दनुज मुखाकृति एवं बगल में दोनों ओर देव–देवांगनाओं एवं उसके नीचे हाथों में माला लिये हुये गंधर्व मूर्तियाँ अंकित है। फिर दोनों ओर हंस तथा उसके नीचे अश्वारोही, बीच–बीच में खचित बेलबूटे समग्र फलक के सौंदर्यश्री में वृद्धि करते प्रतीत होते हैं ।

क्रम संख्या :– 2
चित्र संख्या :– 20
प्रतिमा का नाम :– सूर्य
प्राप्ति स्थल :– भोज पण्डौल
निर्माण काल :– नौवी शताव्दी

निर्माण सामग्री :– काला ग्रेनाइट

माप :– 135 x 90 से0 मी0

विस्तृत विवरण :–

ऊपर से स्टेला खंडित एवं अस्पष्ट प्रतिमा सादगीपूर्ण किरीट मुकुट प्रतिमा परसा मूर्ति की तरह हैं । यह प्रतिमा श्याम प्रस्तर फलक पर अभीति मुद्रांकित हाथों में सनाल पुष्प कमल धारित सूर्य सपरिवार, सपरिचर, सवाहन निम्न उद्भूत शैली में शिल्पित, समभंग मुद्रा में खड़े प्रदर्शित हैं । भोजपण्डौल गाँव के ग्रामीण इसकी पूजा ग्राम देवता के रूप में करते हैं ।

क्रम संख्या :– 3

चित्र संख्या :– 21

प्रतिमा का नाम :– सूर्य

प्राप्ति स्थल :– भीठ भगवानपुर

निर्माण काल :– ग्यारहवीं शताव्दी

निर्माण सामग्री :– काला ग्रेनाइट

माप :– 120 x 55 x 25 से0 मी0

विस्तृत विवरण :–

स्टेला गोलाकार कोणीय है शीर्ष पर केन्द्रीकृत मध्यम रिलीफ की प्रतिमा हैं प्रतिमा के हाथ खंडित हैं । स्टेला पर मालाधारी गंधर्व माला लिए हुए हैं दाहिनी ओर मसिपात्र और लेखिनी लिए हुए पिंडगल और बायीं ओर दंड लिए दंडी हैं सूर्य के दाये ओर उषा और बायें ओर प्रत्यूषा को दर्शाया गया है । सप्ताश्व रथ पर सूर्य सवार हैं ।

क्रम संख्या :– 4

चित्र संख्या :– 22

प्रतिमा का नाम :– सूर्य

प्राप्ति स्थल :– रघैपुरा

निर्माण काल :– दसवीं शताव्दी

निर्माण सामग्री :– काला ग्रेनाइट

माप :– 132 x 70 से0 मी0

विस्तृत विवरण :–

पूर्व वर्णित क्रम संख्या 2 के अनुसार हैं । नाक आंशिक रूप से खंडित हैं । स्टेला गोलाकार तथा प्रतिमा सादगीपूर्ण हैं जिस पर विशेष अलंकरण नहीं हैं ।

क्रम संख्या	:–	5
चित्र संख्या	:–	23
प्रतिमा का नाम	:–	सूर्य
प्राप्ति स्थल	:–	रखवारी
निर्माण काल	:–	दसवीं शताव्दी
निर्माण सामग्री	:–	काला बेसाल्ट पत्थर
माप	:–	110 x 60 x 9 से0 मी0

विस्तृत विवरण :–

सूर्य के दोनों उपर उठे हाथों में नाल सहित कमल फूल है । सात चलायमान दिखने वोल अश्वों के रथ पर समभंग मुद्रा में सूर्य खड़े हैं । मुकुटधारी विविध अलंकरणयुक्त सूर्य प्रतिमा के पैरों में उपानह (जूता) है दोनों ओर उषा–प्रत्यूषा एवं अन्य परिचर देवमूर्ति, परिकर में तक्षित हैं । मूर्ति के पृष्ठ भाग में कुछ लेख खुदा हुआ प्रतीत होता है, जो अपठित है । मूर्ति के मुख पर कुछ पत्थर उखड़ा सा मालूम देता है, प्रायः कुदाल की चोट से क्षत हो गया है। परिकर की तक्षित मूर्तियां भी कुछ क्षतिग्रस्त दिखीं । ग्रामीणों ने बताया कि गांव में अग्निकांड होने के कारण मूर्ति जल गई थी ।

अग्नि

अपराजितपृच्छा (213.10) एवं रूपमण्डन (2.32) में मेष वाहन वाले अग्नि को ज्वालापुंज तथा हाथों में वरद–मुद्रा, शक्ति, पद्म और कमण्डलु के साथ निरूपित किया गया है । भुवनेश्वर में अग्नि की स्थानक और आसन दोनों ही मूर्तियाँ हैं जिनमें वाहन के रूप में अज तथा मेष का उत्कीर्णन हुआ है । राजारानी मन्दिर की मूर्ति में मेष–वाहन पद्मपीठ के नीचे स्थित है जबकि लिंगराज मन्दिर के परिसर के पश्चिमी पार्श्व के मन्दिर में अग्नि मेष–वाहन पर खड़े हैं । ज्वालामय प्रभामण्डल तथा श्मश्रु एवं मूछों से युक्त जटामुकुट और यज्ञोपवीत से शोभित हैं। कुम्भोदर अग्नि की द्विभुजी मूर्तियों (लिंगराज मन्दिर के

प्रांगण) में अग्निपात्र और मुद्गर प्रदर्शित हैं । मोढेरा के उदाहरण में उपर्युक्त विशेषताओं तथा मेष–वाहन वाले अग्नि के हाथों में वरदाक्ष (या वरद–मुद्रा), सुक्र, पुस्तक (या ज्वालापात्र) और जलपात्र प्रदर्शित हैं । ज्वाला का प्रदर्शन विष्णुधर्मोत्तर तथा स्त्रुक का प्रदर्शन दक्षिण भारतीय परम्परा से प्रभावित जान पड़ता है। आठवीं–नवीं शती ई0 तक सोसियां के उदाहरणों में मेष या अज–वाहन वाले द्विभुज अग्नि के हाथों में अभ्याक्ष और कमण्डलु और 10वीं से 1150 ई0 के मध्य चतुर्भुज उदाहरणों में वरद–मुद्रा, पद्म एवं कमण्डलु देखे जा सकते हैं । अग्नि की दो विशिष्ट मूर्तियाँ त्रावणकोर के कण्डीयूर एवं चिदम्बरम् के शिव मन्दिरों से प्राप्त हुई हैं । दोनों ही उदाहरणों में अग्नि को द्विमुख दिखाया गया है । कण्डीयूर की मूर्ति में दोनों मुख अजमुख हैं । साथ ही इन उदाहरणों में अग्रि का त्रिपाद और सप्तभुज होना विशेषतः उल्लेखनीय है । मोढेरा के सूर्य मन्दिर की पूर्वी भित्ति की त्रिपाद, त्रिहस्त एवं त्रिमुख मूर्ति को भी कुछ विद्वान अग्नि की मूर्ति मानते हैं ।[122]

वैदिक देवताओं में अग्नि को प्रमुख स्थान दिया गया है । इनकी पूजा समाज सर्वदा प्रचलित रही । यद्यपि हिन्दी भाषा में अग्नि शब्द स्त्रीलिङ्ग है किन्तु प्रतिमा र्माण को सदा पुरूष का स्वरूप दिया गया है । अग्नि (अग्नि देवता) की मूर्ति पुरी भारत में कई स्थानों से उपलब्ध हुई है । प्रतिमा दो या चतुर्भुजी निर्मित दो हाथ वाली प्रतिमा में माला तथा कमण्डलु दीख पड़ता है तथा चतुर्भुजी रूप ज्वाला तथा त्रिशूल दाहिने दो हाथों में दृष्टिगोचर हो रहे हैं । बाएँ हाथ में माला का कमण्डलु वर्त्तमान हैं। अग्निदेव के शरीर से चारों तरफ ज्वाला निकलती दीखती है । चेहरे पर लम्बी दाढ़ी है तथा उसकी पत्नी स्वाहा की भी आकृति बायी जाँघा पर बैठी खुदी है।

अग्नि को सारे यज्ञों के केन्द्रीभूत मानते हैं अतएव उसकी पत्नी का नाम स्वाही सर्वथा उचित है । हाथों में कमण्डलु क़ी स्थिति यज्ञ की ओर संकेत करता है । भारत के समस्त देवतागण में अग्नि का प्राचीनतम स्थान है अतः प्रतिमा में दाढ़ी दीर्घायु का द्योतक है । शरीर से निकली ज्वाला अग्नि के प्रज्वलित होने की वार्ता का पोषक है । इस प्रकार अग्नि के समस्त लक्षण कार्य के अनुरूप ही हैं ।

अग्नि के वाहन बकरा का सम्बन्ध यज्ञदेवता (अग्निदेव) से स्पष्ट प्रकट नहीं होता । यदि आध्यात्मिक बातों पर विचार किया जाय तो प्रकट होता है कि

अग्नि में रजोगुण की प्रधानता है । अग्नि में शक्ति तथा तेज है । आग शक्ति का पुंज है । शरीर से ज्वाला उसका प्रतीक है तथा बकरा भी रजोगुणी है । इस कारण अग्नि के वाहन के स्थान पर रक्खा गया ।

वामोत्संगगता स्वाहा –

ज्वाला त्रिशूले कर्त्तव्ये त्वक्षमाल्यं च वामके (हेमाद्रि)[123]

अग्नि के शरीर का वर्ण लाल है जो तेज को प्रकट करता है । तेज का वर्ण भी लाल कहा गया है –

रक्तं हि तेजसो रूपां रक्तवर्ण ततः स्मृतम् ।।[124]

अग्नि की अक्षमाला, त्रिशूल, जटाकलाप, तीन नेत्र सभी शिव के समान काल, सत्त्व, राजस्, तमस्, गुण तथा सभी प्रकार की ओषधियों की द्योतक हैं।[125] इनकी विशाल लपटें अत्युत्तम प्रकाश को स्पष्ट करती हैं । इन्हीं से आहुति को ग्रहण कर अग्निदेव देवों तक उनका भाग पहुँचाते हैं । इनकी चार दाढ़ें (वाक्–दण्ड, धिग्दण्ड, धनदण्ड तथा वध–दण्ड) चार प्रकार के दण्ड की परिचायक हैं । उनकी श्मश्रु मूँछे दाढ़ी) पवित्र कुशों की तथा रथ में जुते हुए चार शुक चारों वेदों के रूप हैं–

ज्वालाकारं परंधाम हुतं तेन प्रतीच्छति ।
गृहीत्वा सर्वदेवेभ्यो ततो शत्रुहन् ।।
वागदण्डमथधिग्दण्डं धनदण्डं तथैव च ।
चतुर्थं वधदण्डं च दंष्ट्रास्तस्य प्रकीर्तिताः ।।
श्मश्रु तस्य विनिर्दिष्ट दर्भाः परमपावनम् ।
ये वेदास्ते शुकास्तस्य रथयुक्ता महात्मनः ।।[126]

आहुति के समय अग्नि के इस रूप का ध्यान करने से सभी पाप दूर हो जाते हैं ।[127]

दरभंगा प्रक्षेत्र से प्राप्त महत्वपूर्ण अग्नि प्रतिमा

क्रम संख्या :– 1
चित्र संख्या :– 24
प्रतिमा का नाम :– अग्नि
प्राप्ति स्थल :– डीलाही
निर्माण काल :– दसवीं शताव्दी

निर्माण सामग्री :— काला ग्रेनाइट

माप :— 17 x 13 x 7 से0 मी0

विस्तृत विवरण :—

द्विदलीय कमलासन पर दाढ़ी युक्त अग्नि की प्रतिमा डीलाही से प्राप्त हुई है । द्विभुजा अग्नि के दाये हाथ दाढ़ी को अक्ष माला पकड़े है तो बाये हाथ में कमण्डल हैं । स्टेला पर अग्नि के तेज को बखूवी दिखाया गया हैं ।

क्रम संख्या :— 2

चित्र संख्या :— 25

प्रतिमा का नाम :— अग्नि

प्राप्ति स्थल :— विदेश्वर स्थान

निर्माण काल :— बारहवीं शताव्दी

निर्माण सामग्री :— काला ग्रेनाइट

माप :— 75 x 57 x 24 से0 मी0

विस्तृत विवरण :—

विदेश्वर स्थान से प्राप्त अग्नि की प्रतिमा डीलाही से प्राप्त अग्नि प्रतिमा की तरह ही है । इस प्रतिमा के बायें हाथ की हथेली खंडित हो गई है, इसके वावजूद कमण्डल होने की संभावना प्रबल हैं ।

कार्त्तिकेय[128]

कार्त्तिकेय का वेदों में कोई उल्लेख नहीं मिलता । सर्वप्रथम महाकाव्यों में उनके जन्म की कथा का विस्तार से वर्णन हुआ है । उन्हें कभी शिव–पार्वती का पुत्र बताया गया है और कभी अग्नि और स्वाहा की सन्तति कहा गया है । कई स्थान पर कार्त्तिकेय की माता के रूप में गंगा और कृत्तिकाओं का भी उल्लेख मिलता है। पतंजलि के महाभाष्य में स्कन्द और विशाख का उल्लेख दो अलग–अलग देवताओं के रूप में हुआ है । कुषाण शासक हुविष्क की कुछ मुद्राओं पर भी तीन अलग–अलग आकृतियां मिलती हैं हिन्हें लेख में स्कन्दकुमार, विशाख और महासेन कहा गया है । ऐसा प्रतीत होता है कि कार्त्तिकेय की सृष्टि में लोक तत्त्वों एवं कई अलग–अलग देवताओं का संयुक्त योगदान था जिन्हें कुषाणकाल के बाद एकीकृत रूप में कार्त्तिकेय नाम दिया गया । गुप्तकाल में कार्त्तिकेय का महत्त्व एक राष्ट्रीय देवता के रूप में प्रकट हुआ । स्कन्दगुप्त और

कुमारगुप्त नामधारी गुप्त शासकों एवं उनकी कार्त्तिकेय प्रकार की मुद्राओं तथा कालिदास की रचना कुमारसम्भव से यह बात स्पष्ट है ।

कार्त्तिकेय की उत्पत्ति से सम्बन्धित विभिन्न कथाओं के कारण उन्हें अलग–अलग नोमों से सम्बोधित किया गया जिनमें स्कन्द, कुमार, विशाख, गुह्य, महासेन, सुब्रह्मण्य एवं शक्तिधर मुख्य हैं ।[129]

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में कार्त्तिकेय के लक्षणों का विस्तारपूर्वक निरूपण हुआ है । इस ग्रन्थ में कार्त्तिकेय को षडानन, मयूरासीन, रक्तवस्त्रधारी तथा चतुर्भुज निरूपित किया गया है । उनके दो दायें हाथों में से एक में कुक्कुट और दूसरे में घण्ट है जबकि बायें हाथों में वैजयन्ती–पताका और शक्ति (या शूल्य) हैं ।130 अपराजितपृच्छा और रूपगण्डन में कार्त्तिकेय के लक्षणों में और विस्तार दिखायी देता है । अपराजितपृच्छा में षण्मुख कार्त्तिकेय को द्वादशभुज और त्रिनेत्र तथा मयूर (?) वाहन वाला बताया गया है । कार्त्तिकेय के पाँच दक्षिण करों में जलपात्र, खेटक, पाश, धनुष एवं शृंग प्रदर्शित हैं जबकि एक हाथ वरद–मुद्रा में है । देवता के वाम करों में बाण, शक्ति, खड्ग, अंकुश, दण्ड और अक्षसूत्र दिखाने का विधान है ।[131] समरांगणसूत्रधार में एक या 6 मुखों वाले कार्त्तिकेय के द्विभुज, षडभुज और द्वादशभुज स्वरूपों का निरूपण हुआ है । रूपमण्डन में भी मयूरासीन और कुमार स्वरूप वाले कार्त्तिकेय का द्विभुज, चतुर्भुज और द्वादशभुज स्वरूपों में ध्यान किया गया है । द्विभुज स्वरूप में देवता के करों में शक्ति और कुक्कुट, चतुर्भुज स्वरूप में शक्ति, पाश, खड्ग एवं वरद (या अभय)–मुद्र तथा द्वादशभुज स्वरूप में शक्ति, पाश, खड्ग, बाण, त्रिशूल, वरद (या अभय)–मुद्रा, धनुष, पताका, खेटक, कुक्ट, मुष्टि और प्रसारित तर्जनी के उल्लेख मिलते हैं । दक्षिण भारतीय आगम ग्रन्थों एवं तन्त्रों में भी कार्त्तिकेय के विभिन्न स्वरूपों का निरूपण मिलता है जिनमें सुब्रह्मण्य वल्लिकल्याण–सुन्दर स्वरूप मुख्य हैं ।[132] दक्षिण भारतीय परम्परा में षण्मुख कार्त्तिकेय को षड्भुज एवं द्वादशभुज के साथ ही द्वादशनेत्र भी कहा गया है । मयूर पर आसीन कार्त्तिकेय के पार्श्वों में देवी की आकृतियाँ बनी होंगी। षड्भुज देवता के करों में शक्ति के अतिरिक्त खड्ग, अक्षमाला, अभय–मुद्रा, कुक्कुट, खेटक तथा द्वादशभुज स्वरूप में, अतिरिक्त करों में मुसल, चक्र, पाश, वज्र, धनुष, शिखिध्वज, अंकुश और वरद–मुद्रा दिखाये जाने का विधान है। मयूर वाहन, षण्मुख तथा करों में शक्ति (या शूल) और कुक्कुट के प्रदर्शन की दृष्टि से उत्तर और दक्षिण भारतीय परम्परा में समरूपता दिखायी देती है।[133]

कार्त्तिकेय की मध्यकालीन स्वतंत्र मूर्तियों (7वीं–13वीं शती ई0) के विपुल उदाहरण अयहोल, ओसियां, मोटेरा, भुवनेश्वर, खजुराहो, आबनेरी, एलोरा, कांचीपुरम तथा होयसल मन्दिरों सहित अन्य अनेक स्थलों से प्राप्त हुए हैं । इनमें अधिकांशतः कार्त्तिकेय को अकेले और एक या तीन मुखों (षण्मुख मूर्ति का भाव केवल समक्ष दर्शन के तीन मुखों द्वारा व्सक है) एवं मयूर वाहन वाला आमूर्तित किया गया है । चतुर्भुज या षड्भुज देवता शक्ति (या शूल) एवं कुक्कुट से युक्त दिखाये गये हैं । केवल कुछ ही उदाहरणों में कार्त्तिकेय, शक्ति देवसेना सहित निरूपित हैं । हलेबिड, सोमनाथपुर, होसाहड़ालु तथा अन्य होयसल मन्दिरों पर कार्त्तिकेय एवं तारकासुर के युद्ध की कथा का अनेकत्र नरथर में अभिलेखन हुआ है । जिसमें मयूरासीन कार्त्तिकेय शूलधारी हैं ।[134]

हिन्दू पंच देवों (शिव, विष्णु, सूर्य, शक्ति, गणपति) में स्कन्द कार्तिकेय की गणना नहीं होती है, साथ ही गणपति इत्यादि अन्य देवताओं के सदृश स्कन्द कार्तिकेय किसी विशिष्ट सम्प्रदाय के सर्वोच्च देवता के रूप में भी पूजित नहीं हुए फिर भी सम्पूर्ण भारत (उत्तर और दक्षिण) में एक युद्ध–प्रिय देवता के रूप में वह सर्वाधिक लोकप्रिय रहे । स्कन्द के अन्य नामों में कुमार, कार्तिकेय, ब्रह्मण्य आदि प्रमुख थे ।[135]

उड़ीसा, श्रीनगर, ग्वालियर, कन्नौज, राजशाही, अब्दुल्लापुर (ढाका), मुर्शिदाबाद आदि स्थानों से मध्यकाल की अनेक प्रतिमाएँ प्रकाश में आयी हैं ।[136] अन्य प्रान्तों की भाँति बिहार के कतिपय स्थानों से भी कार्त्तिकेय की मध्यकालीन मूर्त्तियाँ मिली हैं । बिहार से कार्त्तिकेय की आरंभिक पालकालीन एक प्रतिमा ज्ञात है, जो पटना संग्रहालय में सुरक्षित हैं ।[137] बिहार के किसी स्थान से प्राप्त कार्त्तिकेय की एक चतुर्भुजी प्रतिमा इन्डियन म्युजियम, कलकत्ता में वर्त्तमान है । कार्त्तिकेय का वाहन दाहिनी ओर बना है, जो कला का सुन्दर उदाहरण है । दुर्भाग्यवश इसका सिर खण्डित हो गया है । बायीं ओर एक स्त्री–प्रतिमा उत्कीर्ण है, जिसके ऊपर उठे दाहिने हाथ पर मुर्गा खड़ा है । मुर्गे के ऊपर कार्त्तिकेय का एक हाथ है । कला की दृष्टि से यह मूर्त्ति 11वीं–12वीं शती की है ।[138] आरंभिक पालकालीन एक अन्य मूर्त्ति भागलपुर जिले के शाहकुण्ड से मिली है । मूर्त्ति के दो हाथ हैं। एक हाथ में शक्ति तथा दूसरे में फल है । मयूर का पंख फैला हुआ है । सिर के पीछे प्रभामण्डल है । कंचन सिन्हा ने इस मूर्त्ति का काल 11वीं–12वीं सदी

निश्चित किया हे, किन्तु शैलीगत दृष्टि से यह 8वीं शती ई. की कृति है, क्योंकि सभी गुप्तकालीन विशेषताएँ इस मूर्त्ति में वर्त्तमान हैं ।[139]

इसी क्रम में पटना विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व–विभाग के संग्रहालय में संगृहीत एक कार्त्तिकेय–मूर्त्ति का उल्लेख करना आवश्यक है । कार्त्तिकेय के चार हाथ एवं छः मुख हैं । मूर्त्ति की चौकी के समक्ष मयूर बना है, जिसका पंख फैला हुआ है ।[140]

दरभंगा प्रक्षेत्र से प्राप्त महत्वपूर्ण कार्तिकेय प्रतिमा

क्रम संख्या	:–	1
चित्र संख्या	:–	26
प्रतिमा का नाम	:–	कार्तिकेय
प्राप्ति स्थल	:–	बसुआरा
निर्माण काल	:–	दसवीं शताव्दी
निर्माण सामग्री	:–	काला ग्रेनाइट

विस्तृत विवरण :–

बसुआरा महंथान के समीप से प्राप्त बसुआर मठ में स्थापित कार्तिकेय की द्विभुजी प्रतिमा मिली है । मयूर पर विराजमान कार्तिकेय का बाया पैर मुड़ा हुआ तथा दाहिना पैर उठा, हुआ हैं । गले में चन्द्रहार, कलाई में वलय, पाव में कड़ा गले में जनेऊ प्रतीत हैं । दोनों ओर एक–एक अंजुली वद्ध नारी का अंकन है। मयूर भी दाहिनी ओर मुड़ा दिख रहा हैं ।

ब्रह्मा

ब्रह्मा की गणना ब्राह्मण धर्म के त्रिदेवों (ब्रह्मा, शिव) में की गयी है और उन्हें सृष्टि के रचना–कार्य से संबद्ध किया गया है । ब्रह्मा, विष्णु और शिव के समान लोकप्रिय नहीं थे, इसी कारण ब्रह्मा से सम्बद्ध स्वतन्त्र सम्प्रदाय भी विकसित नहीं हुआ। वैदिक तथा परवर्ती ब्राह्मण साहित्य में ब्रह्मा के प्रचुर उल्लेख उपलब्ध हैं किन्तु कालान्तर में पुराणों के काल तक ब्रह्मा की लोकप्रियता में स्पष्टतः गिरावट आ गयी जिसका मुख्य कारण, परवर्ती ग्रन्थों में विष्णु और शिव का ब्रह्मा से श्रेष्ठ निरूपित किया जाना है । विष्णु पुराण में चर्चा है कि विष्णु ही ब्रह्मा के रूप में विश्व की रचना, विष्णु रूप में पालन और शिव रूप में संहार करते हैं । शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है कि प्रजापति या ब्रह्म ने मत्स्य, कूर्म और

वराह रूप धारण किया जो कालान्तर में विष्णु के अवतार बन गये । वस्तुतः पुराणों के समय तक वैदिक प्रजापति का स्थान विष्णु ने ले लिया था । महाकाव्यों में शिव द्वारा सृष्टिकर्ता (ब्रह्मा) की रचना किये जाने और ब्रह्मा द्वारा शिव–महादेव की शक्ति एवं श्रेष्ठता की प्रशंसा से सम्बन्धित उल्लेख हैं । यशोधर्मन विष्णुवर्धन के मन्दसौर अभिलेख (532–33 ई0) में स्पष्ट उल्लेख है कि ब्रह्मा सृष्टि की रचना, पालन और संहार के कार्य शिव के आदेशों के अनुसार करते हैं । लेख में शिव को सृष्टि की रचना करने वाला (भवसृज) भी कहा गया है ।[141]

विष्णुधर्मोत्तरपुराण में ब्रह्मा को सौम्य, जटाधारी, चार मुखवाला तथा कमल के आसन पर आसीन होने का उल्लेख है । उनके शरीर पर काला मृगचर्म (कृष्णाजिन) रहता है तथा उनके चार हाथवाला सात हंसों के रथ पर आरूढ़ रहने का वर्णन है । पीछे की दो भुजाओं में अक्षमाला तथा कमण्डलु रहता है तथा आगे के दोनों में से दाहिना हाथ बायें हाथ की हथेली पर रखा जाता है । विष्णुधर्मोत्तरपुराण का कथन है कि इसी निर्देश के अनुसार शिल्पी ब्रह्मा की प्रतिमा का निर्माण करें ।

मत्स्यपुराण में ब्रह्मा को कमण्डलु लिये हुए, चर्तुमुख कहीं हंसारूढ़ तथा कहीं कमलासीन बताया गया है ।[142] ब्रह्मा के बायें सावित्री और दक्षिण में सरस्वती की प्रतिमा बनाने का विधान है ।[143] रूपमण्डन में ब्रह्मा की कमलासन मूर्ति का ही विधान बताया गया है । मत्स्य और अग्निपुराणों तथा समरांगणसूत्रधार एवं अपराजितपृच्छा में ब्रह्मा के आयुधों का वर्णन भिन्न है । समरांगण–सूत्रधार में ब्रह्मा कपामे दण्डधर कहा गया है । किन्तु अपराजितपृच्छा में कमलासन ब्रह्मा की मूर्त्ति दण्डधर नहीं है । रूपमण्डन में भी ब्रह्मा का आयुध दण्ड नहीं बताया गया है। इसमें दक्षिण हाथ के निचले हाथ में अक्षमाल, बायें ऊपरी हाथ में पुस्तक तथा निचले हाथ में कमण्डलु बतलाया गया है ।[144] द्विभुज ब्रह्मा का मत्स्यपुराण जैसा ही विवरण बृहत्संहिता में भी प्राप्त होता है ।[145] ब्रह्मा के विभिन्न वर्णनों में उनके चारों हाथ के आयुध भिन्न–भिन्न कहे गये हैं । कमण्डलु उनका मुख्य आयुध जान पड़ता है, जो अधिकांशतया उल्लिखित हुआ है। मुण्डकोपनिषद् में ब्रह्मा के स्वरूप का अधिक विकसित रूप देखने को मिलता है। उसमें उन्हें देवों में प्रथम तथा सृष्टि के सर्जक एवं पालक के रूप में चित्रित किया गया है ।[146]

ब्रह्मा की आरंभिक प्रतिमाएँ द्विभुजी मिलती है एवं परवर्ती काल की चतुर्भुजी । पंचाल के प्रजापतिमित्र नामक शासक के जो सिक्के उपलब्ध होते हैं,

उनके पृष्ठ भाग में मण्डप के भीतर एक खड़ी मानवाकृति का अंकन पाया जाता है, जिसका दाहिना हाथ अभय मुद्रा में उठा हुआ है और बायाँ हाथ कटिविन्यस्त है ।[147] इसमें ब्रह्मा एक सिर तथा चार भुजाओंवाले हैं । किन्तु पूर्व गुप्तकाल की ऐसी प्रतिमा हमें ज्ञात नहीं है, जिसे निश्चय के साथ हम ब्रह्मा के रूप में पहचान सकें । मथुरा–संग्रहालय[148] की एक कुषाणकालीन मूर्त्ति कपामे ब्रह्मा माना जाता है, किन्तु अब इस मत की मान्यता में संदेह व्सक किया जा चुका है ।[149] गुप्तकाल से ब्रह्मा की प्रतिमाओं का अंकन चार मुख–युक्त होने लगा । मथुरा से ब्रह्मा की अनेक गुप्तकालीन मूर्त्तियाँ मिली है ।[150] गुप्तकालीन ब्रह्मा के दर्शन हमें देवगढ़ के अनन्तशायी विष्णु की प्रतिमा में भी होता हैं । इनकी ललितासन एवं कमलासन प्रतिमाएँ चालुक्य राजाओं के समय में भी बनी ।[151]

पूर्व मध्यकाल में ब्रह्मा के कुछ स्वतंत्र मन्दिर भी बनें, यद्यपि अन्य ब्राह्मण देवों की तुलना में इन मन्दिरों की संख्या नगण्य सी है । मध्यभारत में दुदही एवं खजुराहो, गुजरात–राजस्थान में वसन्तगढ़ एवं खेड़ब्रह्मा तथा दक्षिण भारत में उन्कल एवं कुम्भकोणम जैसे स्थलों पर ब्रह्मा के मन्दिर बने । ब्रह्मा का एक जीता–जागता मन्दिर अजमेर के समीप पुष्कर तीर्थ में है । वसन्तगढ़ के मन्दिर (ल0 7वीं शती ई0) में त्रिमुख ब्रह्मा की मानवाकार स्थानक मूर्ति प्रतिष्ठित है । द्विभुज ब्रह्मा के हाथों में अक्षमाला और कमण्डलु हैं । दुदही मन्दिर के गर्भगृह के प्रवेशद्वार पर त्रिमुख ब्रह्मा की हंस पर आसीन मूर्ति उत्कीर्ण है । मन्दिर के अभिलेख में चतुर्मुख (ब्रह्मा) और उनकी शक्ति, सावित्री के प्रति श्रद्धा व्यक्त की गयी है । खेड़ब्रह्मा का मन्दिर एक विशेष दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है । मन्दिर पर उत्कीर्ण तीन पार्श्व देवताओं के निरूपण में ब्रह्मा के ही तीन अलग–अलग पक्षों को उजागर किया गया है । पश्चिमी रथिका की मूर्ति में स्त्रुक, पुस्तक एवं अक्षमाला से युक्त चतुर्भुज ब्रह्मा का वाहन वृषभ है । समान लक्षणों वाली उत्तर एवं दक्षिण की रथिकाओं की मूर्तियों में वाहन क्रमशः अश्व और गरूड़ हैं । ये वाहन ब्रह्मा को शिव, सूर्य और विष्णु से सम्बन्धित करते हैं । इन मूर्तियों को संघात या संयुक्त मूर्तियों की कोटि में भी रखा जा सकता है ।[152]

दरभंगा प्रक्षेत्र से प्राप्त महत्वपूर्ण ब्रह्मा प्रतिमा

क्रम संख्या :– 1

चित्र संख्या :– 27

प्रतिमा का नाम :– ब्रह्मा

प्राप्ति स्थल :– दरभंगा

निर्माण काल :– दसवीं शताव्दी

निर्माण सामग्री :– काला ग्रेनाइट

विस्तृत विवरण :–

दरभंगा से ब्रह्मा की एक चतुर्भुजी प्रतिमा मिली है । ब्रह्मा का अंकन बड़ा ही अनुपम है जो आसन मुद्रा में हैं । प्रलम्ब बाये हस्त में कमण्डल है । दाढ़ी युक्त ब्रह्मा को एक मुखी दिखाया गया है । बाया पैर आसन पर स्थित है और दाहिना लटका हुआ है । ब्रह्मा का वाहन हंस का अंकन किया गया है जबकि ब्रह्मा के साथ ब्रह्मणी का चित्रण नहीं किया गया है ।

शिव

शिव हिन्दू देवत्रयी के एक महत्वपूर्ण देवता हैं । इस देवता का पूर्वरूप मोहनजोदड़ों तथा हड़प्पा के उत्खनन में प्राप्त मुद्राओं पर उत्कीर्ण आकृतियों में दर्शनीय है।[153] इनमें से कुछ मुद्राओं पर उत्कीर्ण आकृतियाँ परवर्ती शिव के पशुपति, किरात एवं वृषवाहन रूपों से साम्य रखती हैं ।[154] इनके अतिरिक्त कुछ अन्य ऐसे अवशेष भी सिन्धु घाटी के क्षेत्रों से प्राप्त हुए है, जिन्हें शिवलिंग कहा जा सकता है ।[155]

वैदिक साहित्य में इस देवता के निकट साम्य रूद्र से दिखता है ।[156] महाकाव्यों तथा पुराणों में उपलब्ध शिव–सम्बन्धी विभिन्न कथाओं का मूल वाजसनेयि संहिता के शतरूद्रीयपाठ[157] में उल्लिखित रूद्र के कुछ नामों में निहित है।[158] इसी प्रकार ऋग्वेद,[159] अथर्ववेद,[160] वाजसनेयि संहिता[161] और शतपथ ब्राह्मण[162] में उल्लिखित रूद्र के विभिन्न नाम भी पौराणिक शिव के कुछ नामों के समरूप हैं ।

उपनिषद्काल में आकर रूद्र और शिव में पूर्ण तादात्म्य स्थापित हो जाता है । श्वेताश्वर उपनिषद् में शिव रूद्र के विभिन्न नामों में से एक है ।[163] तथा रूद्र एवं शिव को स्थान–स्थान पर सर्वव्यापी कहा गया है ।[164] अथर्वशिरस् उपनिषद् में भी ईशान, भगवत्, महेश्वर और महादेव रूद्र के ही विभिन्न नाम है ।[165]

मूर्तिकला में शिव के लिंग एवं पुरुषाकृत रूपों का चित्रण द्वितीय शती ई0 पू0 से आरंभ हो गया था[166] और मध्ययुग में उनके विविध रूप भी विकसित हो गए थे।

शिवलिंगों एवं कुछ शेष मूर्तियों से सम्बन्धित प्रतिमा–लक्षणों का सुन्दर विवेचन वियेच्य वास्तु–शास्त्रों–अपराजितपृच्छा, रूपमण्डन तथा देवतामूर्तिप्रकरण–में है । इन वास्तु–शास्त्रों में शिवलिंग, लिंगोद्भव–मूर्ति, कुछ शिव–मूर्तियों, वाहन नन्दी तथा शिव–प्रतिहारों के प्रतिमा–लक्षण उपलब्ध है ।

शिवलिंग

शिवलिंग का विवरण तीनों विवेच्य शास्त्रों में है । रूपमण्डन में शिवलिंगों को स्थूल रूप से दो वर्गों में विभाजित किया गया है – चललिग और अचल अथवा स्थिरलिंग[167]–तथा इन चल और अचललिंगों के पाँच प्रकार बताए गए है– रत्नज, धातुज, शैलज, मृण्मय और दारूज ।[168] इन पाँच प्रकार के शिवलिगों का वर्णन अपराजितपृच्छा[169] और देवतामूर्तिप्रकरण[170] में भी है, किन्तु वहाँ उनके दो स्थूल भेदों–चल और अचल–का उल्लेख नहीं किया गया है तथा अपराजितपृच्छा में मृण्मय अथवा पार्थिव लिंग के दो अन्य भेद–पक्व तथा अपक्व[171]–भी बताए गए हैं।

अपराजितपृच्छा, रूपमण्डन और देवतामूर्तिप्रकरण के अनुसार शिवलिंग के मुख्य तीन भाग होते है–नीचे का चौकोर ब्रह्मा–भाग, बीच का अष्टकोणिक विष्णु–भाग और ऊपर का वृत्ताकार रूद्र अथवा पूजा–भाग । इनमें से रूद्र अथवापूजा–भाग तो ऊपर रहता है, किन्तु लिंग का ब्रह्मा–भाग से लेकर विष्णु–भाग तक का अंश पीठिका में प्रविष्ट रहता है।[172]

विभिन्न प्रकार के शिव लिगों के उपर्युक्त सामान्य लक्षणों के अतिरिक्त शतलिंग, सहस्त्रलिंग तथा मुखलिंग के कुछ विशिष्ट लक्षण भी मिलते हैं ।

मुखलिंग

मुखलिंग का विवरण तीनों विवेच्य शास्त्रों में है । अपराजितपृच्छा में शिव के पंचमुख लिंग का तथा रूपमण्डन और देवतामूर्तिप्रकरण में एक, तीन व चार मुखों वाले लिंगों का वर्णन है। अपराजितपृच्छा के अनुसार मृण्मय, दारूज, लोहज एवं शैलजलिंग के पूजा–भाग पर जटामुकुट, चन्द्रमा तथा कुण्डल आदि दिव्य आभूषणों से विभूषणों से विभूषित शिवमुखों का निर्माण करना चाहिए,[173] जिनमें से पश्चिम की ओर कलंक–रहित सद्योजात का, उत्तर की ओर तिलकधारी एवं स्निग्घ हास्य–युक्त वामदेव का, दक्षिण की ओर उग्र द्रंष्ट्रों, कुटिल भ्रूभंग तथा रौद्र आकृति से युक्त अघोर का, सामने की ओर अर्धचन्द्र एवं सर्प से अलंकृत

जटाभार को धारण किए हुए सुदर्शन तत्पुरूष का तथा आकाश की ओर (शीर्ष पर) तेजर्पूण एवं शान्त आकृति से युक्त ईशान का मुख हो ।[174]

रूपमण्डन तथा देवतामूर्तिप्रकरण का विवरण परस्पर समरूप है । इन दोनों ग्रन्थों के अनुसार मुखलिंग में एक, तीन अथवा चार मुख होने चाहिए । इनमें से एकमुख लिंग में शिव–मुख सामने की ओर रहता है और त्रिमुख लिंग में पीछे का मुख नहीं बनाया जाता है।[175] यहाँ यद्यपि चतुर्मुख लिंग के सम्बन्ध में अतिरिक्त रूप से कुछ नहीं कहा गया है, तथपि विवरण से स्पष्ट है कि चतुर्मुख लिंग में शिव के चार गोचर मुख चार दिशाओं की ओर निर्मित करने चाहिए । ये चार गोचर मुख सद्योजात, वामदेव, अघोर और तत्पुरूष के हैं । पाँचवाँ मुख ईशान का है, किन्तु वह योगियों द्वारा भी अगोचर है । इन ग्रन्थों के अनुसार मुखलिंग में पश्चिमी सद्योजाज–मुख श्वेत वर्ण का, उत्तरी वामदेवमुख रक्त वर्ण का, दक्षिणी अधोर–मुख कृष्ण वैर्ण का और भयंकर तथा पूर्वी तत्पुरूष–मुख दीप्ताग्नि के सदृश होना चाहिए ।[176]

भारतीय शिल्प में इन विविध प्रकार के मुखलिंगों के निर्माण की परम्परा शुंगकाल से ही विद्यमान रही है ।[177] लिंग्ड़ के अन्तर्गत शिव के एक मुख से लेकर पाँच मुखों तक का चित्रण किया जाता था और लिग्ड़ के इस रूप को मुख–लिंग्ड़ की संज्ञा से अभिहित किया जाता था । शिव की एक मुखी तथा पंचमुखी लिंग्ड़ प्रतिमा का उल्लेख जितेन्द्रनाथ बनर्जी ने किया है ।[178]

शिव के लिंग रूप की मूर्तियां (शिव लिंग) भी विविध क्षेत्रों से विभिन्न रूपों से प्राप्त हुई हैं । शैव प्रतिमाओं में हमें कई प्रकार के अंकन मिलते हैं । शिवलिंगों में ही कुछ तो मुखाकृत हैं – जैसे एक मुखी शिवलिंग जो गिरिजास्थान और जागेश्वरस्थान से प्राप्त हैं और एक चतुर्मुखी शिवलिंग जो भीठ भगवानपुर से मिला है । रूद्र की एक मूर्ति भैरव बलिया में अवस्थित है, परन्तु शैव प्रतिमाओं में सर्वाधिक लोकप्रिय रूपांकन उमा–माहेश्वर का रहा है । अपने एक अन्वेषण के दौरान हमने भी इस प्रकार की शैव अभिव्यक्ति राजेश्वरस्थान (कलुआही प्रखण्ड, मधुबनी) में देखी । मुक्तेश्वरस्थान (अंधराठाढ़ी प्रखण्ड, मधुबनी) में एक दीर्घाकार शिवलिंग है, जिसका वास्तविक महत्व इस स्थल से प्राप्त शालभंजिका के रूपांकन के कारण है ।

मुझे अपने अन्वेषण के दौरान उच्चैठ, जम्मुथरि, जरैल, गिरिजा स्थान, पुरसौलिया, विशौल, कोरइया, कालिकापुर आदि स्थलों से भी विभिन्न मुख वाले शिवलिंग प्राप्त हुए हैं।

दरभंगा प्रक्षेत्र से प्राप्त महत्वपूर्ण शिवलिंग

क्रम संख्या :– 1
चित्र संख्या :– 28
प्रतिमा का नाम :– शिवलिंग
प्राप्ति स्थल :– उच्चैठ
निर्माण काल :– दसवीं शताव्दी
निर्माण सामग्री :– काला ग्रेनाइट

विस्तृत विवरण :–

उच्चैठ मिथिलांचल का एक प्रसिद्ध धार्मिक केन्द्र है । यहाँ की ख्याति दूर–दूर तक फैली हुई है । यहाँ मकर प्रणाली युक्त शिवलिंग भी देखने को मीली। यहाँ मंदिर में कई शिवलिंग हैं, जिनमें से एक 75 से0 मी0 लम्बा, 16 से मी0 मोटा, 23 से0 मी0 उचाई वाली शिवलिंग भी है, जिसका आधार 150 से0 मी0 है । दूसरे शिवलिंग की उचाई 23 से0 मी0 गोलाई 40 से0 मी0 और तीसरा शिवलिंग ज़ो एक मुखी है की उचाई 35 से0 मी0 मोटाई 2 मीटर है, जिसकी उचाई आधार से 67 से0 मी0 हैं ।

क्रम संख्या :– 2
चित्र संख्या :– 29
प्रतिमा का नाम :– शिवलिंग
प्राप्ति स्थल :– विशौल
निर्माण काल :– नवीं शताब्दी
निर्माण सामग्री :– काला ग्रेनाइट

विस्तृत विवरण :–

यहाँ से प्राप्त शिवलिंग के मुखों के घिसने के कारण अस्पष्ट मुख दिखता हैं । जिसके कारण मुख के बनावट की जानकारी नहीं हो पाती हैं ।

क्रम संख्या :– 3
चित्र संख्या :– 30
प्रतिमा का नाम :– शिवलिंग
प्राप्ति स्थल :– पुरसौलिया
निर्माण काल :– नवीं शता़ब्दी
निर्माण सामग्री :– काला ग्रेनाइट

विस्तृत विवरण :–

पूर्व वर्णित क्रम संख्या दो की तरह शिवलिंग का मुख अस्पष्ट हैं । जिसके कारण मुख के बनावट की जानकारी नहीं हो पाती हैं ।

शिव मूर्तियाँ

विवेच्य शास्त्रों में कुछ शिव मूर्तियों का विवरण भी उपलब्ध है । ये मूर्तियाँ हैं– एकादशरूद्र, द्वादशशिव, सदाशिव, भैरव तथा विविध प्रकार, त्रिपुरान्तक, वैद्यनाथ, चण्डनाथ, क्षेत्रपाल और नृत्य मूर्तियाँ ।

एकादशरूद्र और द्वादशशिव

अपराजितपृच्छा और देवतामूर्तिप्रकरण में एकादशरूद्रों का वर्णन है, किन्तु रूपमण्डन में एकादशरूद्रों के स्थान पर द्वादशशिव मूर्तियों का विवरण मिलता है। अपराजितपृच्छा और देवतामूर्तिप्रकरण में वर्णित एकादशरूद्र हैं – सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरूष, ईशान, मृत्युंजय, विजय, किरणाक्ष, अघोरात्र[179] (देवतामूर्तिप्रकरण में तृतीय रूद्र के समान इस मूर्ति को भी अघोर कहा गया है, अघोरात्र नहीं), श्रीकण्ठ और महादेव ।180 रूपमण्डन की द्वादशशिव–मूर्तियाँ हैं– सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरूष, ईश, मृत्युंजय, किरणाक्ष, श्रीकण्ठ, नहिर्बुध्न्य, विरूपाक्ष, बहुरूप–सदाशिव और त्र्यम्बक ।[181]

शिव की प्रतिमाओं को मुख्यतः दो रूपों में विभक्त किया गया है – (1) सौम्यरूप प्रतिमा और (2) घोर, उग्र या संहार रूप प्रतिमा । पुनः इन्हें पौराणिक कथाओं से असम्बद्ध और सम्बद्ध दो भागों में वर्गीकृत किया गया है।[182]

उमा–महेश्वर प्रतिमा–

इसका विवरण 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' और 'रूपमण्डन' में प्राप्त होता है ।

1) 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' के अनुसार इस प्रतिमा के अन्तर्गत उमा और शिव को एक ही पीठिका पर आलिंगन करते हुए प्रदर्शित किया जाना चाहिए। जटा–जूटधारी शिव के दाहिने हाथ में नीलोत्पल्ल तथा बाँया हाथ उमा के कंधे पर दिखाना चाहिए । उमा का दाहिना हाथ शिव के कंधे पर और बाँए हाथ में कमल पुष्प प्रदर्शित किया जाना चाहिए ।[183]

2) 'रूपमण्डन' के अनुसार उमा–माहेश्वर प्रतिमा के अन्तर्गत शिव को चतुर्भुजी दिखाना चाहिये । उनका एक हाथ उमा के कन्धे पर तथा दूसरे हाथ में सर्प प्रदर्शित करना चाहिये ।[184]

भारतीय परम्परा में शिव और शक्ति की संयुक्त या संघात मूर्ति के रूप में अर्द्धनारीश्वर स्वरूप के साथ ही उमा–महेश्वर स्वरूप भी पर्याप्त लोकप्रिय था। अर्द्धनारीश्वर स्वरूप के समान ही उमा–महेश्वर स्वरूप को भी प्रकृति और पुरुष का मानवीय रूपान्तरण और उनके ऐक्य का सूचक माना जा सकता है । उमा–महेश्वर मूर्तियों में एक ही पीठिका पर या नन्दी की पीठ पर शिव और पार्वती को साथ–साथ और अधिकांशतः आलिंगन–मुद्रा में विराजमान निरूपित किया गया है । ऐसी मूर्तियों को हर–गौरी मूर्ति भी कहा गया है । उमा–महेश्वर मूर्ति के उकेरन की परम्परा कुषाणकाल से ही मिलती है, किन्तु सातवीं से 13वीं शती ई0 के मध्य शिव का यह स्वरूप अखिल भारतीय स्तर पर सभी क्षेत्रों में सर्वाधिक लोकप्रिय था । उमा–महेश्वर मूर्तियों में पार्वती सर्वदा शिव की ओर देखती हुई निरूपित हैं जबकि शिव की दृष्टि कभी पार्वती की ओर और कभी सामने की ओर होती है ।[185]

बिहार की प्राचीन हिन्दू प्रतिमाएँ[186] नामक पुस्तक से बिहार से प्राप्त उमा–महेश्वर की विभिन्न मूर्तियों की जानकारी मिलती हैं । बिहार से प्राप्त उमा–महेश्वर की एक मूर्ति आशुतोष संग्रहालय, कलकत्ता[187] में संगृहीत है । इसमें शिव एवं पार्वती कमल पर खड़े बनाये गये हैं । दाहिनी ओर शिव की चर्तुभुजी प्रतिमा है । शिव उर्ध्वरेता हैं । शिव के पीछे का बायाँ हाथ पार्वती के कन्धों पर है । पीछे के दाहिने हाथ में त्रिशूल लिये हैं । सिर पर जटाजूट है, जिसकी लटें कन्धों पर लहरा रही हैं । शिव का तीसरा नेत्र खड़ा है । उन्हें मणियुक्त एकावली, भुजबन्ध एवं कंगन आदि आभूषणों से सुसज्जित बनाया गया है । शिव यज्ञोपवीत धारण किये हैं तथा कमर में धोती पहने हैं। बायीं ओर पार्वती सुन्दर केश–विन्यास में हैं । उनके कानों में कुण्डल है तथा हार व भुजबन्ध, कंगन आदि पहने हैं । कमर में करधनी एवं अलंकृत साड़ी विशेष रूप से उल्लेखनीय है । पुष्ट स्तन पर पारदर्शक वस्त्र है। उनके बायें हाथ में नीलोत्पल है तथा दाहिना हाथ ज्ञानमुद्रा में है । मुख पर शान्ति एवं गंभीर भाव है । शिव के पैर के नीचे कमल के फूल के निचले भाग पर नन्दी की अत्यन्त मनोहारी प्रतिमा बनी है । छठी सदी ई0 की निर्मित इस सम्पूर्ण कृति में सुगढ़पन एवं लोच है ।

उत्तर गुप्तकाल की उमा–महेश्वर की एक मूर्ति अन्य सप्तमातृकाओं के साथ सरायकेला (सिंहभूमि) से मिली है । यह सम्प्रति पटना म्युजियम में सुरक्षित है । इसमें शिव पार्वती को आलिंगनबद्ध किये हुए हैं ।

बिहार के किसी भाग से प्राप्त उमा–महेश्वर की एक मूर्त्ति एशियन आर्ट म्युजियम ऑफ सेनफ्रान्सिसको, एवरी ब्रन्डग संग्रह में है ।[188] इसमें उमा–महेश्वर कैलाश पर्वत पर बैठे निर्मित किये गये हैं । शिव के वाहन के रूप में नन्दी को नीचे बैठे दिखाया गया है । उसके सींग लम्बे खड़े बने हैं । पार्वती का वाहन सिंह नहीं बना है, जो सामान्यतः सभी उमा–महेश्वर–मुर्तियों में बना रहता है । शिव, एकावली, भुजदण्ड, कंगन तथा कमर में धोती पहिने हैं । महेश्वर की यह द्विभुजी प्रतिमा है । इसमें वे अपनी बायीं भुजा से पार्वती का आलिंगन कर रहे हैं । दाहिनी भुजा में त्रिशूल स्पष्ट दिखाया गया है । शिव उर्ध्वरेता हैं। पार्वती के बायें हाथ में नीला कमल है तथा वे विविध आभूषणों से युक्त हैं। उनका दुपट्टा ऊपर लहराता हुआ प्रभामण्डल का आभास देता है । सम्पूर्ण प्रतिमा अपने–आप में भव्य है । कलाकार को इसमें पूरी सफलता मिली है ।

मुण्डेश्वरी (रोहतास) से भी उमा–महेश्वर की एक प्रतिमा मिली है ।[189] शिव उर्ध्वरेता रूप में हैं। जटामुकुट–युक्त शीश प्रभामण्डल से आवृत्त है । मुखाकृति पर शान्त भाव व्याप्त है । चतुर्भुज शिव अर्द्धपर्यंक आसन में बैठे हैं तथा पार्वती उनकी बायीं ओर उनकी जाँघ पर बैठी हैं । शिव के सामने का दाहिना हाथ वरद मुद्रा में है तथा सामने के बायें हाथ से वे गौरी का आलिंगन कर रहे हैं । पीछे के दाहिने हाथ में अक्षमाला है तथा पीछे बायें हाथ में त्रिशूल है । पार्वती द्विभुजी हैं तथा विविध आभूषणों से सुसज्जित हैं। शिव के पीछे अलग प्रभामण्डल बना है। शिव का वाहन नन्दी प्रतिमा के नीचे उत्कीर्ण किन्तु पार्वती का वाहन निर्मित नहीं है।

7वीं–8वीं शताब्दी की हर–गौरी की कई प्रतिमाएँ देववरूणार्क तथा जहाँगीरा पहाड़ी, सुलतानगंज (भागलपुर) से मिली है । इनमें गुप्त परम्परा का पूर्ण आभास मिलता है।

बिहारशरीफ से उमा–महेश्वर की एक सुन्दर मूर्ति मिली है।[190] इसमें चतुर्भुज शिव ललितासन में बैठे हैं । पार्वती बायीं ओर गोद में बैठी है । एक हाथ में शिव पार्वती की ठुड्डी का स्पर्श कर रहे हैं और दूसरा हाथ पीठ की ओर से आलिंगन–बद्ध है । एक हाथ पार्वती का बायाँ स्तन छू रहा है । इस प्रकार शिव एवं पार्वती की प्रणय–भावना अत्यन्त आकर्षक एवं मोहक है । सम्प्रति यह मूर्ति पटना म्युजियम में संगृहीत है।

हर–गौरी का अंकन न केवल पत्थर में हुआ है, वरन् कांस्य की बनी उनकी मूर्तियाँ भी प्रकाश में आयी हैं। कुर्किहार से उमा–महेश्वर की तीन प्रतिमाएँ

मिली हैं ।[191] उनमें एक प्रतिमा का उल्लेख बी0पी0 सिन्हा ने किया है ।[192] चतुर्भुजी शिव ललितासन में बैठे हैं और उनके नीचे लटकते हुए पैर वृषभ की पीठ पर टिके हैं। उमा प्रेमविभोर हैं । उनकी सलज्ज आँखें नीचे की ओर झुकी हुई हैं किन्तु मुँह एवं शरीर के झुकाव से प्रणय–भावना की अभिव्यक्ति होती है । एक हाथ से शिव उमा को आलिंगन करते दिखाई देते हैं, दूसरे हाथ से सलज्ज नत–मस्तक पार्वती के चिबुक को पकड़कर प्रेमपूर्वक ऊपर उठा रहे हैं । उमा के पैर के नीचे सिंह खड़ा है।

दरभंगा प्रक्षेत्र से प्राप्त कमोबेश उमा–महेश्वर मूर्तियों में पार्वती सर्वदा शिव की ओर देखती हुई या शिव की दृष्टि कभी पार्वती की ओर या कभी सामने की ओर देखती हुई मिली है । वाणेश्वर, गाण्डीवेश्वर, भोज पण्डौल, भीठ भगवानपुर, कादिराबाद (दरभंगा शहर) आदि जगहों से प्राप्त मूर्तियाँ में पार्वती शिव की ओर देखती हुई निरूपित है या शिव पार्वती की ओर निरूपित हैं ।

दरभंगा प्रक्षेत्र से प्राप्त महत्वपूर्ण उमा–महेश्वर प्रतिमा

क्रम संख्या	:–	1
चित्र संख्या	:–	31
प्रतिमा का नाम	:–	उमा–महेश्वर
प्राप्ति स्थल	:–	भीठ भगवानपुर
निर्माण काल	:–	ग्यारहवीं शताव्दी
निर्माण सामग्री	:–	काला ग्रेनाइट
माप	:–	120 x 55 x 25 से0 मी0

विस्तृत विवरण :–

उमा–महेश्वर की पूर्ण प्रतिमा द्वि–दलीय कमल आसन पर जटा–युक्त शिव चतुर्भुजी स्वरूप में ललितासन में प्रदर्शित शिव के बायी ओर बायी जंघा पर पार्वती विराजमान पार्वती की मुद्रा भी ललितासन में प्रदर्शित है । शिव का दाहिना एक हस्त पद्मधारण किए हुए जबकि दूसरा केहनी के पास से खंडित है, अवशेषों के आधार पर पार्वती के ढुडी को स्पर्श करता हो रहा है । बायां उपरी हाथ आयुध धारण किए हुए जिसके उपरी शिरा खंडित अवशेष के आधार पर इसके त्रिशुल होने का अनुमान है।

बाया प्रलम्ब हस्त पार्वती के स्कंध के पीछे से सटा हुआ उनके बाये स्तन को स्पर्श करता हुआ है। पार्वती का दाहिना हाथ शिव के स्कंध के प्ररितः जबकि बायां दर्पण धारण किए हुए है । शिव ग्रीवाहार, कंकन, एव केयूर धारण किए हुए

जबकि पार्वती भी ग्रीबाहार एवं चौड़े कंकन धारण किए हुए हैं । शिव का दाहिना पांव एक छोटे द्विदलीय कमलासन पर स्थित जबकि पार्वती का बायां पांव सदृश कमलासन पर स्थित चौड़ी आधार पीठिका अत्यंत भव्य एवं अनेक आकृतियों अंकन दोहरी आधार पीठिका में आकृतियों का अंकन है जिसमें दो मानव आकृतियां एवं शेष पशु आकतियां हैं। सभी आकृतियां नृत्यरत उत्कीर्ण; रूप मंडन विवरण के आधार पर इनकी पहचान वृषभ, स्कंद, नंदी तथा मृंगी ऋषि के रूप में दर्शाती हैं । स्टेला उपर की ओर बलयाकार होता हुआ मध्य में कोणीय रूप से प्रदर्शित, शिव के आसन के ठीक उपर स्टेला का भव्य अलंकरण दोनों ओर एक–एक मालाधारी यक्ष प्रदर्शित हैं ।

क्रम संख्या	:–	2
चित्र संख्या	:–	32
प्रतिमा का नाम	:–	उमा–महेश्वर
प्राप्ति स्थल	:–	भोज पण्डौल
निर्माण काल	:–	दसवीं शताव्दी
निर्माण सामग्री	:–	काला ग्रेनाइट
माप	:–	85 x 40 से0 मी0

विस्तृत विवरण :–

भोजपण्डौल की प्रतिमा में कला का वेहतरीन उदाहरण प्रदर्शित हैं । इस में शिव में भाव पक्ष ज्यादा हैं । पत्र कुण्डल भी उत्कृष्ट है लेकिन जटा मुकुट भीठभगवानपुर की प्रतिमा की तरह हैं । शिव का दाहिना अग्र हस्त पार्वती के ठोढ़ी को स्पर्श करता हुआ जबकि पार्श्व हस्त त्रिशुल धारण करता हुआ हैं । बाया उर्ध्व हस्त पात्रधारण किए हुए जबकि चौथे हस्त की गति स्पर्श दृष्टिगोचर नहीं होती है । शिव की गोद में स्थित पार्वती की दाहिनी भुजा शिव के स्कंध के परितः अलिंगनवद्ध मुद्रा में, शिव की दाहिनी ओर प्रदर्शित हैं । बायी भुजा में दर्पण प्रदर्शित शिव का दाहिना पांव पद्मासन से झुलता हुआ, पांवों को मोड़कर बैठे वृषभ की पीठ पर स्थित जबकि पार्वती का दाहिना पाँव झूलकर पांव मोड़कर बैठे सिंह पर स्थित हैं ।

आंशिक रूप से खण्डित स्टेला, अपेक्षाकृत सादगी लिए हुए ऊपरी शिरा गोलाई को प्रदर्शित करता हुआ ऊपरी दोनों किनारों पर एक–एक मालाधारी यक्ष की आकृति अंकित हैं। स्टेला उच्च रिलीफ की हैं ।

क्रम संख्या :— 3
चित्र संख्या :— 33
प्रतिमा का नाम :— उमा—महेश्वर
प्राप्ति स्थल :— बाणेश्वर
निर्माण काल :— नवीं शताव्दी
निर्माण सामग्री :— काला ग्रेनाइट

विस्तृत विवरण :—

बाणेश्वर के उमा—महेश्वर के प्रतिमा का स्टेला अलंकृत हैं । प्रतिमा भोजपण्डौल की तरह प्रदर्शित हैं । भाव पक्ष में यह प्रतिमा भोजपण्डौल से कमजोर हैं । इस प्रतिमा में महेश्वर की आँख सीधी हैं । जो कलाकार के द्वारा प्रतिमा बनाने के कमजोरी को दर्शाता हैं ।

क्रम संख्या :— 4
चित्र संख्या :— 34
प्रतिमा का नाम :— उमा—महेश्वर
प्राप्ति स्थल :— गाण्डीवेश्वर
निर्माण काल :— नवीं शताव्दी
निर्माण सामग्री :— काला ग्रेनाइट

विस्तृत विवरण :—

गाण्डीवेश्वर के चतुर्भुजी शिव ललितासन में प्रदर्शित हैं जिनके बायी ओर गोद में पार्वती विराज मान हैं । यहाँ शिव के जटा मुकुट, पत्र कुण्डल, ग्रीवाहार पूर्णतः भोजपण्डौल की तरह हैं ।

दाहिने अग्र हस्त से शिव पार्वती के ढुढ़ी की स्पर्श कर रहे हैं, दाहिना पार्श्व हस्त कुछ धारण किए हुए है, जो खंडित हो चुका है, बायें पार्श्व हस्त में त्रिशुल स्थित है जबकि अग्र हस्त पार्वती के आलिंगन करता हुआ बाये स्तन को स्पर्श कर रहा है, पार्वती दाहिने हाथ से शिव के स्कन्द के परितः आलिंगन बद्ध है जबकि बाये हाथ में दर्पण प्रदर्शित हैं ।

शिव पार्वती की ओर देख रहे हैं एवं उनके चेहरे का केवल दाहिना हिस्सा सम्मुख प्रदर्शित है, स्त्रीयोचित लज्जा का भाव दृष्टिगोचर है । भोजपण्डौल की तरह शिव का दाहिना पांव द्विदलीय कमलसान से नीचे झुलता हुआ ऊपर की

ओर देख रहे पांब को मोड़कर बैठे वृषभ अवस्थित है । पार्वती का दाहिना पांव शिव के बाये पांव के उपर मुड़कर स्थित है जबकि बाया नीचे झुलकर सिंह के ऊपर स्थित हैं ।

मुख्य प्रतिमा एवं उसकी आधार पीठिका को छोड़कर सम्पूर्ण स्टेला खंडित हैं ।

क्रम संख्या :— 5
चित्र संख्या :— 35
प्रतिमा का नाम :— उमा—महेश्वर
प्राप्ति स्थल :— रहिका
निर्माण काल :— दसवीं शताव्दी
निर्माण सामग्री :— काला ग्रेनाइट
माप :— 52 x 28 x 7 से0 मी0

विस्तृत विवरण :—

यहाँ के शिव गाण्डीवेश्वर प्रतिमा की तरह हैं । पार्वती का दाहिना पांव शिव की गोद में मुड़कर बाहर की ओर प्रदर्शित हवा में लहराता हुआ, बायां पांव पद्म पीठ पर स्थित नीचे आधार पीठिका में नंदी के उपर स्थित हैं । शिव का दाहिना पांव कमल पीठ पर स्थित जबकि सिंह भाव विभोर मुद्रा में प्रदर्शित हैं। अलंकरण से भाव पक्ष की कमजोरी को ढ़कने का प्रयास किया गया हैं ।

क्रम संख्या :— 6
चित्र संख्या :— 36
प्रतिमा का नाम :— उमा—महेश्वर
प्राप्ति स्थल :— डोकहर
निर्माण काल :— दसवीं शताव्दी
निर्माण सामग्री :— काला ग्रेनाइट

विस्तृत विवरण :—

शिव चतुर्भुज हैं एवं पार्वती द्विभुजा । पीठिका के नीचे, सामने दोनों देवों के वाहन वृषभ एवं सिंह स्थित है, शिव सहस्त्रदल कमलासन पर सुखासन मुद्रा में बैठे हैं । वाम जंघा पर हेमवती उमा बैठी है, दाहिना पैर वृषभ के पिछले हिस्से पर है। शिव के पिछले दायें हाथ में गदा, बायें हाथ में त्रिशूल है । अगला बायां

हाथ पार्वती के वाम वक्ष पर, दाँया हाथ उनकी ठुड्डी पर । शिवक्रोड़ में बैठी पार्वती की बायी जांघ पैर ऊपर रखने से उकडू उठी हुई हैं । दाहिने हाथ से शिव के दाहिने कंधे को पकड़े हुये हैं, बायें हाथ में कमल है और दाहिना पैर सिंह के पुट्ठे पर स्थित है । बालेन्दु शेखर शिव के माथे पर ऊंचा त्रिजूट जटामुकुट है, कपाल पर खड़ा तीसरा नेत्र, नागमाल, एवं यज्ञोपवीत धारण किये हुये हैं । पार्वती किंकणी, ग्रैवेयक, कर्णफूल विभूषिता हैं । माथे पर विशाल कबरी (जूड़ा) की केश सज्जा है ।

देवी प्रतिमा

भारत में मातृदेवियों की पूजा–परम्परा सिन्धु सभ्यता के काल से ही प्रचलित रही है । इसका प्रमाण हमें उस काल के प्राप्त अवशेषों से मिल चुका है, किन्तु देवियों के रूप में शक्ति का आर्विभाव ऋग्वेद193 के देवीसूक्त से क्रमशः प्रारंभ होता है, जो अन्ततः देवियों के सर्वशक्तिमान स्वरूप शाक्त सम्प्रदाय के रूप में विकसित हो सका ।

मार्कण्डेय पुराण[194] में शक्ति को ब्रह्मा, विष्णु और महेश के तेज का स्वरूप बताया गया है । कालान्तर में शक्ति का सम्बन्ध शिव के अधिक निकट हो गया और यहीं से शक्ति के शिव–पत्नी स्वरूप का विकास हुआ । उत्तरकामिकागम में शक्ति को शिव–पत्नी ही कहा गया है ।[195] कालान्तर में शिव–पत्नी को ही उमा, दुर्गा, अम्बा, शिवा, शिवप्रिया, पार्वती आदि नामों से सम्बोधित किया गया।

दुर्गा की पूजा मूलतः शाक्त धर्म की लोकप्रियता के साथ प्रारंभ हुआ । शक्ति अथवा शिव की पत्नी को विभिन्न नाम, यथा–देवी, दुर्गा अथवा काली आदि दिये गये हैं ।[196] ऋग्वेद में दुर्गा की चर्चा कहीं नहीं हुई है ।[197] वाजसनेयी संहिता में अम्बिका को रूद्र की बहन कहा गया है तो बाद में मातृदेवी के रूप में जानी गयीं ।[198] तैत्तिरीय आरण्यक[199] एवं केन उपनिषद्[200] में शिव की पत्नी हैमावती, अर्थात् उमा या पार्वती की चर्चा हम पाते हैं । दुर्गा की चर्चा महाभारत में हुई है । विराट्पर्व में जहाँ उन्हें नारायण की पत्नी बताया गया है, वहाँ भीष्मपर्व में शिव की पत्नी ।[201] यहाँ वह विजय–प्रदायिनी हैं एवं महिषासुर–मर्दिनी के रूप में महिषासुर का वध करने वाली हैं । हरिवंश में उन्हें विन्ध्यवासिनी कहा गया है। उन्हें बाद में कुमारी, काली, कपाली, महाकाली, चण्डी, कात्यायनी, कराली, विजया आदि नाम भी दिये गये हैं। मार्कण्डेयपुराण के देवी महात्मय–अंश में इनकी महत्ता की चर्चा विशेष रूप से की गयी है ।[202] दुर्गा एवं महिषासुर जैसे

भयंकर राक्षसों के युद्ध की चर्चा तंत्रसार के महिषासुरमर्दिनी स्त्रोत[203] एवं मयूर[204] के संस्कृत–श्लोकों में भी हुई हैं । स्वतंत्र प्रतिमाओं में पार्वती दर्पण और त्रिशूल के साथ अंकित की जाती है[205] या गौरी के रूप में अक्षमाला, कमल और कमण्डलु धारण किये अभय मुद्रा में अंकित की जाती है ।[206] मानसागर ग्रंथ[207] में गौरी श्वेत वर्ण, दो भुजाओं, दो नेत्रोंवाली, आसन पर स्थित करण्ड–मुकुट तथा केशबन्ध से युक्त हैं । अपने दाहिने हाथ में उत्पल धारण करती हैं । बायाँ हाथ वरद मुद्रा में रहता है । गौरी का रूप सुन्दर होता है । अपराजितपृच्छा[208] में द्वादश गौरी की सूची दी गयी है । रूपमण्डन में षड्गौरी–सूची में उमा, पार्वती, श्रिया, रम्भा, तोतला ओर त्रिपुरा की गणना है । इन विशिष्ट गौरी स्वरूपों का मूर्तिलक्षण बताने के पूर्व ही रूपमण्डन में गौरी का सामान्य लक्षण भी बताया गया है ।[209]

बौद्ध ग्रन्थ साधनमाला में भृकुटि का उल्लेख किया गया है । इनका अंकन भी चर्तुमुखी, पीतवर्णी, त्रिनेत्री युवती के रूप में होता है, जिनके हाथों में अक्ष, त्रिदंडी और कमंडलु होता है, परन्तु भृकुटी के मुकुट पर अमिताभ का अंकन किया जाता है ।[210] इसलिये समानताएँ होते हुए भी नालन्दा की पार्वती–प्रतिमाओं में अमिताभ के अंकन के न होने से उन्हें भृकुटि के रूप में पहचानना गलत है। उत्तर भारत से पार्वती की ऐसी अनेक प्रतिमाएँ मिली है ।[211] पार्वती की गोधा के साथ अनेक प्रतिमाएँ, विशेष रूप से बंगाल से मिली है ।[212] ए0 पी0 शास्त्री भी इस प्रकार की प्रतिमाओं को हिन्दू देवी चण्डिका की ही मानते हैं ।[213] इन प्रतिमाओं को गौरी की मूर्ति के रूप में भी पहचाना जा सकता है; क्योंकि गौरी के आसन के रूप में भी गोधा का ही उल्लेख प्राप्त होता है ।[214] बौद्ध देवी भृकुटि ओर हिन्दू देवी पार्वती के आयुधों एवं अन्य पहचान में इतना साम्य हे कि ऐसा प्रतीत होता है कि कहीं–न–कहीं दोनों देवियाँ एकाकार हो रही हैं । संभवतः इसीलिए फूशे महोदय ने भृकुटि, जो बौद्ध देवी तारा का स्वरूप है, को ब्राह्मण देवी का बौद्ध स्वरूप माना है ।[215]

पार्वती की एक अन्य स्थानक प्रतिमा फुलहर के गिरिजास्थान से प्राप्त हुई है । यहाँ देवी को चतुर्भुजी बनाया गया है । देवी के ऊपरी दाहिने हाथ में शिवलिंग और निचले में फल है । उनके बायें एक हाथ में दर्पण है तथा दूसरा कार्त्तिकेय के मस्तक पर स्थित है । उनकी दाहिनी ओर गणेश की आकृति है । पीठिका पर गोधा का अंकन है। इस प्रतिमा को 11वीं शती का माना गया है ।[216]

पालकाल की अनेक प्रतिमाएँ, जो देवी के महिषासुरमर्दिनी स्वरूप को स्पष्ट करती है, बिहार के अनेक क्षेत्रों में देखी गयी हैं । परन्तु सिंहवाहिनी देवी दुर्गा का सौम्य रूप, जिसमें महिषासुर को नहीं दिखाया गया है, बिहार के कलाकारों के बीच अधिक लोकप्रिय रहा है ।[217]

हिन्दू धर्म के अन्तर्गत तन्त्रयान का विकास वज्रयान बौद्ध परम्परा से निष्पादित या कम–से–कम प्रभावित लगता है । मिथिला में तन्त्रयान की लोकप्रियता की जड़ें बहुत प्राचीन नहीं दीखतीं । संभवतः इसका विकास और प्रचलन परवर्ती मध्यकाल के दौरान हुआ जबकि बौद्ध धर्म का अंत मिथिला में पूर्णरूपेण हो गया । संभवतः यही कारण है कि इस क्षेत्र में मातृशक्ति पर आधारित मूर्तियों की संख्या कम दीख पड़ती है । इस क्षेत्र में उच्चैठ (वेनीपट्टी, मधुबनी) की दुर्गा प्रतिमा (शिरोभग्न अवस्था में) जितना प्रसिद्ध है, उतना संभवतः कहीं और की नहीं । एक आकर्षक दुर्गा प्रतिमा चौगमा से प्राप्त है । एक सिंहवाहिनी दुर्गा की प्रतिमा जरैल–परसौन (मधुबनी जिला) में (प्रारंभिक पालकालीन) तथा एक मूर्ति देवपुरा में भी देखने को मिली । चामुण्डा (अष्टभुजा), जो दरभंगा मधुबनी क्षेत्र में अकेली है, कोइलख के एक मंदिर में अवस्थित है । हिन्दू तन्त्रयान के अन्तर्गत पुरूष देवता भैरव, जो शिव के घोर रूप का रूपांकन है, की एक मूर्ति भैरव बलिया में देखी जा सकती है । भैरव की एक अपेक्षाकृत छोटी मूर्ति (36x29 से0 मी0) भवानीपुर (पण्डौल प्रखण्ड) के मंदिर परिसर में देखी ।[218] अन्वेषण के दौरान भोजपण्डौल, दामोदरपुर, पचही, नाहर, बरसाम आदि अनेक स्थलों से देवी की महत्वपूर्ण प्रतिमाएं मिली हैं ।

दरभंगा प्रक्षेत्र से प्राप्त महत्वपूर्ण देवी प्रतिमा

क्रम संख्या	:–	1
चित्र संख्या	:–	37
प्रतिमा का नाम	:–	देवी प्रतिमा
प्राप्ति स्थल	:–	भोज पण्डौल
निर्माण काल	:–	ग्यारहवीं शताव्दी
निर्माण सामग्री	:–	काला ग्रेनाइट
माप	:–	75 x 40 से0 मी0

विस्तृत विवरण :–

प्रतिमा के पिछले बायें हाथ में गदा एवं दाहिने में नाल सहित कमल है। वे सुखासन मुद्रा में दुहरे कमलासन पर विराजिता हैं । दाहिना पैर मूर्त्याधार होकर उट्टकित सिंह के पुट्ठे पर है । बायां पैर आसन पर मोड़कर पालथी स्थिति में बैठी हुई प्रदर्शित हैं । अगला बायां हाथ तलहथी पर कमंडल धारण कर बायें घुटना पर टिका है तथा दाहिना फल धारित हाथ ज्ञान वरद मुद्रा में दाहिने घुटने पर है । माथे पर ऊंचा जूड़ा तथा केश पास की लटे दोनों ओर कंधों पर लटकती हुई एवं कंधों पर झूलती रत्नजटित कर्णाभूषण दुर्गा के दिव्य रूप को अति कमनीय, सौंदर्यश्री–संपन्न बना रहा है । गले में ग्रीवाहार एवं चौड़ा चन्द्रहार है। कंधे से कमर तक झूलता बाँह पर बाजूबंद, कलाइयों में कंगन, अल्पवस्त्रावेष्टित कमर पर रत्न जटित करघनी एवं पैरों में कड़े पादपृष्ठ के संपूर्ण भाग में सिर उत्कीर्ण पृथुल श्रोणी, क्षीण कटि, निम्न नाभि, सुस्पष्ट कठोर उरोज, अर्ध–निमीलित आंखें, सस्मित वदन प्रतिमा की छवि को और कमनीय बना रहा है। फलक के परिकर के उपरी हिस्से में दोनों ओर दो गगनचारी देव मूर्तियां प्रदर्शित हैं ।

मूर्ति के स्वरूप, आयुध, अलंकरण, वाहन, मुद्रा, भाव व्यंजकता, प्रतिमा निर्माण शास्त्रीय शैली आदि की दृष्टि से विचार करने पर यह प्रतिमा अच्छी हैं। मूर्ति का स्वरूप निर्माण, तत्कालीन शास्त्रीय परंपरा, मानव सौंदर्य का देव–प्रतिमा में निरूपण की मनोवृत्ति, सूक्ष्म कारीगरी, आभूषण बहुलता, दुहरा कमलदलाभूषित मूर्त्याधार आदि के आधार पर यह अर्चा पार्वती या दुर्गा प्रतिमा हैं । इस प्रतिमा का स्टेला मध्यम रीलिफ का प्रतीत होता हैं ।

क्रम संख्या	:–	2
चित्र संख्या	:–	38
प्रतिमा का नाम	:–	देवी प्रतिमा
प्राप्ति स्थल	:–	दामोदरपुर
निर्माण काल	:–	दसवीं शताव्दी
निर्माण सामग्री	:–	काला ग्रेनाइट
माप	:–	100 x 53 x 10 से0 मी0

विस्तृत विवरण :—

दामोदरपुर से प्राप्त देवी की प्रतिमा पूर्व वर्णित प्रतिमा संख्या 1 के अनुसार होते हुए सादगीपूर्ण हैं । स्टेला उच्च रिलिफ की प्रतीत होती हैं ।

क्रम संख्या :— 3
चित्र संख्या :— 39
प्रतिमा का नाम :— देवी प्रतिमा
प्राप्ति स्थल :— चामुण्डा स्थान, मधेपुर
निर्माण काल :— दसवीं शताव्दी
निर्माण सामग्री :— काला ग्रेनाइट
माप :— 65 x 30 x 5 से0 मी0

विस्तृत विवरण :—

प्रतिमा का विवरण पूर्व वर्णित क्रम संख्या 1 के अनुसार है, प्रतिमा के दाहिने हाथ में कटार दिखाई देता हैं । स्टेला मध्यम रिलिफ की प्रतीत होती हैं।

क्रम संख्या :— 4
चित्र संख्या :— 40
प्रतिमा का नाम :— देवी प्रतिमा
प्राप्ति स्थल :— नाहर
निर्माण काल :— बारहवीं शताव्दी
निर्माण सामग्री :— काला ग्रेनाइट
माप :— 1.5 फीट x 1 फीट

विस्तृत विवरण :—

नाहर की यह प्रतिमा जीवछ तिवारी के दलान में स्थित है । 2001 में नाहर के भूमिहार टोल के शोभाकांत तिवारी को यह प्रतिमा मिली । दस भूजी महिषासुर मर्दिनी का वाम पैर सिंह स्कंध पर है । दाहिना पैर दृढ़ता पूर्वक महिषवाहन के पुठ्ठे कपामे दबाये हुए दर्शाया गया है । इनके हाथों में तलवार, ढ़ाल, दंड, परशु, गदा, पाशांकुशादि विंविध आयुध हैं । स्टेला मध्यम रिलिफ की प्रतीत होती हैं।

बौद्ध–प्रतिमा

बुद्ध–प्रतिमा का निर्माण, बौद्ध धर्म के इतिहास की कोई आकस्मिक घटना नहीं थी । धर्म का निरन्तर विकास एवं इस दिशा में प्रयास के सदियों बाद बुद्ध

की प्रतिमा का निर्माण सम्भव हुआ । बौद्ध धर्म के आरम्भिक स्वरूप (हीनयान) में बुद्ध अन्य अर्हतों से श्रेष्ठ समझे गये। इसमें सन्देह नहीं कि उनका जन्म, लक्षण और मृत्यु भी अद्भुत है, परन्तु बौद्ध धर्म के इस रूप में उनका निर्वाण अन्य अर्हतों से भिन्न नहीं है। बौद्ध धर्म के इस चरण में यह विश्वास किया जाता था कि परिनिवृत बुद्ध संसार में हस्तक्षेप नहीं कर सकते हैं । बुद्ध मसीहा नहीं थे, उन्होंने स्वयं ही कहा था कि निर्वाण के लिये प्रत्येक प्रयास करना होगा, अपना दीपक स्वयं बनना होगा (अप्पदीपोभव) । इस कार्य में धर्म को छोड़कर अन्य कोई सहायक नहीं हो सकता । फलतः ऐसे धर्म में किसी के मूर्त रूप का भला क्या महत्त्व हो सकता था ।

हीनयान यह नहीं मानता कि पूजा से बुद्ध वरदान दे सकते हैं, किन्तु वह इतना अवश्य मानता है कि बुद्ध का ध्यान करने से चित्त शुद्ध होगा और व्यक्ति को निर्वाण की दिशा में अग्रसर करने के लिये तैयार करेगा । पालि साहित्य में बुद्ध को लोकोत्तर अवश्य कहा गया है, परन्तु उसका अर्थ केवल यही है कि बुद्ध पद्म–पत्र के समान इस संसार से ऊपर हैं । उनकी विशेषता केवल इतनी ही है कि उन्होंने निर्वाण का मार्ग दिखाया । अतः हीनयान में बुद्ध की मूर्ति–रूप में पूजा का प्रश्न ही नहीं उठता है ।[219]

बुद्ध के परिनिर्वाण के एक शताब्दी के बाद कालाशोक के शासन काल में बौद्ध धर्म की एक समिति आयोजित हुई, जिसमें इस संघ के एक सम्प्रदाय ने अब बौद्ध धर्म के कठोर नियमों में कुछ शिथिलता किये जाने की माँग की । यह दल युग की माँग के अनुसार धम्म में भी कुछ संशोधन का अभिलाषी था । यह प्रगतिवादी दल महासंधिक नाम से विख्यात है । अन्त में अपने ध्येय में असफल हो जाने पर इन्होंने बौद्ध धर्म से अपने को अलग कर लिया और इस प्रकार बौद्ध धर्म दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गया– (1) महासंधिक, और (2) स्थविर । यही स्थविर बाद में थेरवादिन के नाम से प्रसिद्ध हुए । बौद्ध संघ में इस भीषण दरार का कारण, दोनों दलों में कुछ महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक मतभेद था । स्थविरों एवं महासंधिकों के बुद्धत्व प्राप्ति के साधनों में मतभेद थे । स्थविरों का विचार था कि बुद्धत्व तभी प्राप्त हो सकता है, जब नियमों का कठोरता से पालन किया जाय, बुद्ध के द्वारा निर्देशित मार्ग का दृढ़तापूर्वक अनुगमन किया जाय, लेकिन महासंधिकों के अनुसार बुद्धत्व, पूर्व से ही आत्मा में विद्यमान है, उसका केवल विकास ही होना चाहिये।

आगे चलकर इसी महासंधिक से महायान का विकास हुआ, जिसने बुद्ध को शाब्दिक अर्थ में लोकोत्तर स्वीकार किया और प्रतिमा निर्माण की अनुमति प्रदान की भक्ति और पूजा के बाद मानव रूप में बुद्ध की प्रतिमा निर्माण के लिये मात्र एक चरण शेष रह गया था, जिसकी पूर्ति लगभग प्रथम शती ई0 में हुई । कुषाणवंशीय शासक कनिष्क, वाशिष्क तथा हुविष्क के शासनकाल में बुद्ध की मानव रूप की अनेक प्रतिमाएँ निर्मित की गई । इस समय के प्राप्त अभिलेखों से भी प्रतिमा निर्माण की पुष्टि होती है। कनिष्क के राजत्व के तीसरे वर्ष (3+78) 81 ई0 में वाराणसी के महाक्षत्रप खरपल्लान ने बोधिसत्व प्रतिमा के साथ छत्र–यष्टि स्थापित की थी। कुषाणवंशीय नरेश वाशिष्क के शासन काल में बुद्ध–प्रतिमाओं की स्थापना स्थान–स्थान पर की गई ।[220]

बौद्ध–मूर्तियों के अन्तर्गत बुद्ध की स्वतन्त्र मूर्तियाँ, उनके जीवन से सम्बन्धित घटनाएँ और परवर्ती बौद्ध सम्प्रदाय के विविध देवी–देवताओं की मूर्तियों का निर्माण हुआ है । बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित दृश्यों में मायादेवी का स्वप्न, स्वर्ग से नीचे उतरते बुद्ध, गृह–त्याग, वानरेन्द्र का मधुदान, मार विजय, नलगिरि हस्ति का दमन, श्रावस्ती का महाप्रतिहार्य, महापरिनिर्वाण आदि के दृश्य उद्भृत किये गये हैं, जो कला की विकासमान धारा में भरहुत और साँची की परम्परा के निर्बाध प्रवाह को स्पष्ट करते हैं । स्वतन्त्र मूर्तियों के माध्यम से इन घटनाओं का दिखाया जाना इस कला–शैली की विशिष्टता है । साथ ही प्रधान मूर्ति की प्रभावली के चतुर्दिक किनारों पर भी इन घटनाओं का प्रदर्शन हुआ है।

बुद्ध की कुछ स्वतन्त्र मूर्तियों में उन्हें विविध मुद्राओं में सिर पर मुकुट, गले में हार आदि आभूषणों से अलंकृत प्रदर्शित किया गया है । कुछ मूर्तियों के बाँए कन्धे के समीप उत्तरीय का आखिरी छोर लटकता हुआ दिखाया गया है । संरचना की दृष्टि से बुद्ध की कुछ धातु–मूर्तियों में सिर पर घुँघराले केश, गोलाई लिया हुआ मुख और उत्तरीय को पकड़ने का सुरूचिपूर्ण ढंग तथा शारीरिक अंग–प्रत्यंगों के उतार–चढ़ाव का उत्कृष्ट रूप प्राप्त होता है, जिस पर गुप्तयुगीन पूर्वी भारत की कला–शैली की सहज और निर्दोष छाप स्पष्ट होती है ।[221]

नालन्दा, बोधगया आदि से प्राप्त अन्य मूर्तियाँ भी आलंकारिक अभिव्यंजना से पूर्ण हैं और मगध–वंग शिल्प–परम्परा का प्रतिनिधित्व करती हैं ।

दरभंगा प्रक्षेत्र में बुद्ध की विभिन्न प्रतिमाओं की जानकारी मिलती हैं, कुछ प्रतिमा को मैंने अपने अन्वेषण के दौरानं देखा और कुछ प्रतिमाओं को विभिन्न

पुस्तकों के संदर्भों में पढ़ा । बुद्ध से जुड़ी प्रतिमा और बौद्ध प्रतिमाओं के संबंध में सत्येन्द्र कुमार झा ने अपने आलेख मिथिला की पाल प्रतिमा के क्रम में जो प्रकाश डाला है, वह कुछ नवीन तथ्य के साथ चौंकाने वाले भी प्रतीत हुए हैं । मंगरौनी से वज्रयानी देवता त्रैलोक्यविजय की प्राप्ति एक अत्यन्त महत्वपूर्ण उपलब्धि है । विहार के अर्न्तगत प्रस्तर निर्मित त्रैलोक्यविजय की मूर्ति बोधगया और नालन्दा से ही प्राप्त हो सकी हैं, जबकि धातु में इसका रूपांकन नालन्दा और पथरघट्टा से ही मिल पाया है । परन्तु प्रस्तर में निर्मित इस देवता का छोटे आकार में प्राप्त होना बिल्कुल अप्रत्याशित है और इसलिए दुर्लभ भी । इसी तरह भुवनेश्वर स्थान से शालभंजिका का मिलना भी एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है । शालभंजिका का रूपांकन शुंग–कुषाण काल में पूरे उत्तर भारत में प्रचलित था, परन्तु पालकालीन शिल्पाभिव्यक्ति में इसका रूपांकन सर्वथा अभिनव प्रतीत होता है । परन्तु इस क्रम में शालभंजिका के रूपांकन में कई नवीनताएँ आ गई हैं और यही कारण है कि इसकी पहचान निर्विवाद रूप से नहीं की जा सकी हैं ।[222]

मिथिलांचल के अन्तर्गत यद्धपि बौद्ध प्रतिमाओं की संख्या अन्य की अपेक्षा अल्प ही रही है, परन्तु हाल के वर्षों में व्यक्तिगत प्रयासों या फिर आकास्मिक प्रयासों से इनकी संख्या काफी बढ़ी है । कोई दो दशक पूर्व बौद्ध प्रतिमाओं से सम्बन्धित हमारी जानकारी मनपौर और विदेश्वर स्थान से प्राप्त मूर्तियों तक सीमित थी या फिर ततैया (दरभंगा जिला)[223] से प्राप्त एक विशाल बुद्ध की मूर्ति तक जो महाराजा लक्ष्मीश्वर सिंह संग्रहालय के प्रवेश पर रखी हुई है । इनके अतिरिक्त एक ध्यानी बुद्ध की मूर्ति तत्कालीन मधुबनी सब–डिविजन के जरहतिया ग्राम से प्राप्त हुई थी ।[224] लाल बलुआहे पत्थर की बनी बुद्ध की एक प्रतिमा पण्डौल (मधुबनी जिला) से प्राप्त होने की बात उपेन्द्र ठाकुर ने की है[225] परन्तु अत्यन्त ही महत्वपूर्ण प्रतीत होने वाली इस मूर्ति का अब कोई पता नहीं है ।[226]

पिछले दो दशकों में पस्टन (मधुबनी) से बुद्ध की प्रतिमाएँ पत्थर के अतिरिक्त अन्य माध्यमों में भी प्राप्त हुई हैं । इनमें एक धातु की बनी बुद्ध (बैठे ध्यानी) की मूर्ति उल्लेखनीय है, जो गाँव के हरिजन टोला से मिली थी । यह 11–12 वीं सदी की प्रतीत होती है । इसी से मिलती–जुलती मृण्मूर्ति इसी गाँव में अवस्थित एक स्तूप के बिल्कुल पास से मिली थी ।[227] वस्तुतः पालकालीन धातु–मूर्तियों की प्राप्ति की संख्या मिथिला से अत्यल्प ही रही

है। पस्टन की प्राप्तियों के पूर्व मात्र चौगामा (बहेड़ा) में ही इस काल की धातुमूर्ति के मिलने की सूचना है । अतएव पस्टन से प्राप्त धातु की बौद्ध मूर्ति इस क्षेत्र की महत्वपूर्ण उपलब्धि के रूप में आँकी जा सकती है । वैसे चन्द्रधारी संग्रहालय में धातु–प्रतिमाओं, जिसमें अधिकांश बौद्ध हैं, का एक अच्छा संकलन है । परन्तु ये प्रमुखतया उत्तर मध्यकाल अथवा आधुनिकयुगीन प्रतिमाएँ प्रतीत होती है ।[228]

अन्य बौद्ध मूर्तियाँ प्रस्तर की हैं । तारा की प्रतिमा मंगरौनी से और लोकेश्वर की कपिलेश्वर से प्राप्त हैं ।[229] इनके अतिरिकत एक तारा प्रतीत होने वाली, पर बुरी तरह से टूटी, प्रतिमा पस्टऩ से भी प्राप्त हुई है । इसी देवी की एक आकर्षक मूर्ति, जो पाँच ध्यानी बुद्धों से परिवेष्टित है, चन्द्रधारी है, चन्द्रधारी संग्रहालय, दरभंगा में संगृहीत है । तारा की एक अन्य प्रतिमा भी इसी संग्रहालय में रखी हुई है । लध्वाकार ध्यानी बुद्ध की मूर्ति अकौर ग्राम (बेनीपट्टी प्रखण्ड, मधुबनी) के एक निजी संग्रहकर्ता के पास संगृहीत है।[230] मुझे अपने अन्वेषण के दौरान ऐसा कहीं नहीं मिला । एक बुद्ध की प्रतिमा को जरैल (मधुबनी) के एक मंदिर में अवस्थित हैं । भूमिस्पर्श मुद्रा में अंकित यह मूर्ति अभिलिखित भी है । यह मूर्ति उत्तर पाल की अपेक्षा पूर्व पालकालीन (9–10 वीं सदी) प्रतीत होती है। इन मूर्तियों के प्राप्ति–स्थल कुछ इस प्रकार है : तारा डीह, भागीरथपुर, नारायणपुर, बहेरी, सकरी, बलिया, बिक्रमपुर, फिरोजगढ़ (निरमल्ली के निकट) – ये सभी स्थल मधुबनी जिलान्तर्गत हैं जबकि बहेड़ा, अहिल्यास्थान, शिवसिंहगढ़ दरभंगा जिलान्तर्गत । जयदेव मिश्र ने एक बौद्ध मूर्ति के राजनगर से प्राप्त होने की बात कही है ।[231] यद्यपि वहाँ कई वैष्णव मूर्तियाँ देखने को मिली ।[232] त्रैलोक्यविजय की लध्वाकार (18.5 ग 10.5 से0 मी0) मूर्ति है जो एक वज्रयान बौद्ध देवता का है । इस मूर्ति को धूसरित पीत (tawny grey) रंग के पत्थर पर गढ़ा गया है। यह मूर्ति मंगरौनी (मधुबनी) में देखा गया ।[233]

बौद्ध मूर्तियों की प्राप्तियां न केवल यह दरसाती हैं कि बौद्ध धर्म ने ब्राह्मन धर्म के गढ़ मिथिलांचल में भी अपने पैर जमा रखे थे, बल्कि यह भी कि इन दो धर्मानुयानियों के बीच भीषण संघर्ष भी हुए । त्रैलोक्यविजय की मूर्ति इस संघर्ष का प्रतीकात्मक परिलक्षण प्रतीत होता है, जिसमें यह वज्रयानी देवता अपने घोर रूप में शिव और उनकी अद्धांगिनी को अपने पैरों से कुचलते दिखलाया गया है। त्रैकोक्यविजय की प्राप्ति अन्यत्र वैसे भी अत्यल्प है। बौद्ध धर्म का प्रभाव मिथिला

में सदा से कम कर के आँका गया है । परस्टन, मीरन खान (क्योटी प्रखण्ड, दरभंगा) में पूर्व मध्यकालीन स्तूप की प्राप्ति बौद्ध धर्म के बढ़ते प्रभाव का संकेत तो है ही, पर साथ ही इसका भी कि बौद्ध धर्म का प्रभाव मिथिला के अन्तर्गत भी किसी सीमित (भौगोलिक) दायरे तक सीमित नहीं था । दरभंगा प्रक्षेत्र में बौद्ध प्रतिमाओं के होने संबंधी जो जानकारी वृहत रूप में दी जाती रही है उस स्तर से मुझे अपने अन्वेषण के दौरान प्रतिमाएं देखने को नहीं मिली । हाटी, लखनौर, भोजपण्डौल सरीखे स्थल से बुद्ध की प्रतिमाएं मिली, महिया से प्राप्त खंडित बुद्ध प्रतिमा में अभिलेख अंकित हैं, इन सब की चर्चा पूर्व में व्यापक स्तर पर कहीं नहीं किए गए हैं ।

दरभंगा प्रक्षेत्र से प्राप्त महत्वपूर्ण बुद्ध प्रतिमा

क्रम संख्या :— 1

चित्र संख्या :— 41

प्रतिमा का नाम :— बुद्ध

प्राप्ति स्थल :— हाटी

निर्माण काल :— ग्यारहवीं शताव्दी

निर्माण सामग्री :— काला ग्रेनाइट

विस्तृत विवरण :—

मूर्ति के स्टेला पर अवलोकितेश्वर के दाहिने तरह स्तूप हैं । सिर के बाल जटा में बुद्ध की आकृति हैं । दाहिना हाथ वरद मुद्रा में है और वायां पैर मुद्रा हुआ द्विदलीय कमल पर वज्रासन में बैठे हुए हैं तथा दाहिना पैर कमल पर स्थित हैं।

क्रम संख्या :— 2

चित्र संख्या :— 42

प्रतिमा का नाम :— बुद्ध

प्राप्ति स्थल :— लखनौर

निर्माण काल :— दसवीं शताव्दी

निर्माण सामग्री :— काला ग्रेनाइट

माप :— 18 x 10 x 5 से0 मी0

विस्तृत विवरण :–

लखनौर के मठ में बुद्ध की एक छोटी सी सुन्दर प्रतिमा उपब्ध हैं । यह इस क्षेत्र में मिली या नहीं, अस्पष्ट हैं । आसन में बैठी इस प्रतिमा के सम्बन्ध में यह सम्भावना व्सक की गयी की इस प्रतिमा को किसी पुजारी ने कहीं से लाकर इस मठ में रख दिया था ।

क्रम संख्या :– 3

चित्र संख्या :– 43

प्रतिमा का नाम :– पूजक स्तूप

प्राप्ति स्थल :– जम्मुथरि

निर्माण काल :– दसवीं शताव्दी

निर्माण सामग्री :– काला ग्रेनाइट

माप :– 117 x 33 x 10 से0 मी0

विस्तृत विवरण :–

लघु पर्वत शिखराकार श्याम प्रस्तर के ग्रीवा पर–जिसका ढलानदार शीर्ष लगभग 5 ईंच सपाट है और उसके मध्य एक छिद्र बना हुआ है – एक लघु प्रस्तर पुरावशेष रखा हुआ है, जिसे भैरव लिंग के रूप में पूजा जाता है। भैरवलिंग के रूप में पूजित प्रस्तर खंड भग्न पुरावशेष का एक छोटा सा टुकड़ा है। यह संभावना बनती है कि यह लघु पर्वत शिखराकार श्याम प्रस्तर बौद्ध धर्म का पूजक स्तूप हो।

उस एक फुट व्यासतल के एक फुट ऊँचे स्तूपाकार गोल सुचिक्कण भैरवलिंग पृष्ठ पर अद्भुत रेखाओं, सर्पाकृति, कमलदलादि का अंकन आश्चर्यित करने वाला है । उपरी ढलानदार पृष्ठ पर अष्ट–दल, मध्य में द्वादशदल तथा नीचे षोड़स–दलकमल अंकित है । प्रत्येक कमल दल विभिन्न तांत्रिक प्रतीकों से चिहिन्नत है। अक्षर एवं अंक तिरहुता लिपि में हैं । नीचे लघु पर्वताकार भैरव–लिंग मूर्त्याधार पर एक सर्पाकृत तीन लपेट लेकर उद्‌भूत है । सर्प के शिरोभाग फग के पास पाँव एवं पुच्छभाग के निकट एक मुखाकृति अंकित हैं । इस पर शाके 1151 (एक हजार एक सौ एकावन) खुदित हैं ।

दरभंगा प्रक्षेत्र से प्राप्त महत्वपूर्ण बौद्ध नारी प्रतिमा

क्रम संख्या :– 4

चित्र संख्या :— 44
प्रतिमा का नाम :— तारा
प्राप्ति स्थल :— दुदाही
निर्माण काल :— बारहवीं शताव्दी
निर्माण सामग्री :— काला ग्रेनाइट

विस्तृत विवरण :—

चतुर्भुजी देवी प्रतिमा को स्थानीय लोग तारा कहते हैं । उदग्र बाये हस्त में नरमुण्ड, दाए हस्त में डमरू, प्रलम्ब बाया हस्त में खप्पर, दाया हस्त में कटार की आकृति बनी हुई हैं ।

प्रभामण्डल प्रदर्शित है। कानों में कुण्डल हैं । कलाई में भुजवंध एवं बलय है । कमर के समीप घुटने तक नरमुण्ड की माला पद्रर्शित हैं । दाहिना पैर मुड़ा हुआ नृत्यरत प्रतीत होता हैं।

दरभंगा प्रक्षेत्र से प्राप्त शताधिक पाषाण प्रतिमाओं में से प्रभावशाली प्रतिनिधि प्रतिमाओं को ही इस अध्याय में दिया गया है, जिनकी संख्या 44 है। ये प्रतिमाएं पूर्व मध्यकालीन दरभंगा प्रक्षेत्र का दर्शन कराती हैं तथा अपने विशिष्टताओं के कारण अपने समकालीन प्रतिमाओं की कला शैली में भी परिवर्तन की ओर ईशारा करती है। इस प्रक्षेत्र से प्राप्त प्रतिमाओं को अध्याय के मूल उद्देश्य की अभिपूर्ति हेतु विश्लेषण किया गया हैं।

पाद टिप्पणी

1) **वृजभुषण श्रीवास्तव, प्राचीन भारतीय प्रतिमा विज्ञान एवं मूर्ति कला, बाराणसी, पृ0 – 48**
2) **कृष्णवर्ण त्विषाकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम् ।। श्रीमद्भा. 11/5/32**
3) **जे0 एन0 बनर्जी, द डेवलमेन्ट ऑफ हिन्दु आईकोनोग्राफी, पृ0 – 13**
4) **शुक्रनीति 4/4/36**
5) **वृजभुषण श्रीवास्तव, प्राचीन भारतीय प्रतिमा विज्ञान एवं मूर्ति कला, बाराणसी, पृ0 – 1**
6) **उपरोक्त**
7) **ऋग्वेद 10/130/3**
8) **श्वेत0 उप0 4/19**
9) **भास– प्रतिमानाटकम् द्वि0 अंक0**

10) सत्येन्द्र कुमार झा का आलेख, मिथिला संस्कृति एवं परंपरा, पटना पृ0 – 259–260
11) रमानाथ मिश्र, भारतीय मूर्तिकला का इतिहास, नई दिल्ली, पृ0 – 222 – 223
12) उपरोक्त
13) वृजभुषण श्रीवास्तव, प्राचीन भारतीय प्रतिमा विज्ञान एवं मूर्ति कला, बाराणसी, पृ0 – 12
14) जे0 एन0 बनर्जी, द डेवलमेन्ट ऑफ हिन्दु आईकोनोग्राफी, पृ0 – 387
15) श्रीमद् भागवत गीता – 18, 67
16) मारूति नन्दन तिवारी, कमल गिरि, मध्यकालीन भारतीय प्रतिमा लक्षण, बाराणसी पृ0–76
17) **T.A.G. Rao, Elements of Hindu Iconography, Vol. I., Pt. I., pp.** 78.80 राव ने दक्षिण भारतीय कुछ ऐसे मन्दिरों का उल्लेख किया है जिनमें गर्भगृह तिखण्डा है, और प्रत्येक खण्ड में विष्णु की एक–एक मूर्ति प्रतिष्ठित है : सबसे नीचे के खण्ड में उनकी स्थानक मूर्ति, बीच के खण्ड में आसन मूर्ति और सबसे ऊपर के खण्ड में शयन (पृ0 79)
18) हिन्दू तथा जैन प्रतिमा विज्ञान पृ0 – 30
19) उपरोक्त
20) मारूति नन्दन तिवारी, कमल गिरि, मध्यकालीन भारतीय प्रतिमा लक्षण, बाराणसी पृ0 – 77
21) उपरोक्त, पृ0 – 80–81
22) **J.N. Banerjee, The Development of Hindu Iconography, pp. 111-12,** द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल, प्रतिमा–विज्ञान, पृ0 – 58
23द्ध **T.A.G. Rao, Elements of Hindu Iconography, vol. I., Pt I,** 80.96 योग–स्थानक, भोग–स्थानक, वीर–स्थानक तथा अभचारिक–स्थानक प्रतिमा विवरण; राव महोदय द्वारा उद्धत वैखानस आगम के विवरण पर आधारित हैं।
24) द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल, प्रतिमा–विज्ञान, पृ0 – 254
25) रामाश्रय अवस्थी, खजुराहो की देव–प्रतिमाएँ, पृ0 – 67
26) द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल, प्रतिमा–विज्ञान, पृ0 – 254
27) वृजभुषण श्रीवास्तव, प्राचीन भारतीय प्रतिमा विज्ञान एवं मूर्ति कला, बाराणसी, पृ0 – 15
28) **J. N. Banerjee, The Development of Hindu Iconography, p. 404, PL.XXVIII, Fig. 2**
29) मारूति नन्दन तिवारी, कमल गिरि, मध्यकालीन भारतीय प्रतिमा लक्षण, बाराणसी पृ0 – 77
30) हिन्दू तथा जैन प्रतिमा–विज्ञान, पृ0 – 60
31) अ0 पृ0, 25, 2–8

32) भा0 पु0, 1, 3, 7; 3, 13, 18–31; अ0 पु0, 4, 1–3; शि0 पु0, 2, 5, 16, 6; 3, 10, 11; स्कं0 पु0, 7, 2, 18, 57–60; 5, 3, 151, 10
33) मानसो0, 2, 3, 1, 70 2–03; शि0 र0, 2, 25, 116
34) वि0 ध0 पु0, 3, -71, 2–10; अ0 पु0, 41, 2–3; ग0 पु0, 251, 28–30; मनसो0, 2, 3, 1, 611–702; शि0 र0, 2, 25, 112–15; **Smith, H. D., op Cit., pp.** 131–33
35) अ0 पृ0, 229, 16–34
36) अ0 पु0, 25, 7–11
37) अ0 पृ0, 41, 2–3; **E. I. A. P., p.** 28.
38) अ0 पु0, 86, 18–19; **E. I. A. P., p.** 29.
39) दे0 मू0 प्र0, 5, 76
40) मारूति नन्दन तिवारी, कमल गिरि, मध्यकालीन भारतीय प्रतिमा लक्षण, बाराणसी पृ0 – 79
41) वृजभुषण श्रीवास्तव, प्राचीन भारतीय प्रतिमा विज्ञान एवं मूर्ति कला, बाराणसी, पृ0 – 17
42) पुष्पा सिन्हा बिहार की प्राचीन हिन्दू प्रतिमाएँ प्रतिमाएँ पृ0 90
43) विष्णुधर्मोत्तरपुराण, 81, 2–8
44) उपरोक्त
45) **T.A.G. Rao, Elements of Hindu Iconography, I.I, pp.** 92.94
46) वृजभुषण श्रीवास्तव, प्राचीन भारतीय प्रतिमा विज्ञान एवं मूर्ति कला, बाराणसी, पृ0 – 17
47) मारूति नन्दन तिवारी, कमल गिरि, मध्यकालीन भारतीय प्रतिमा लक्षण, बाराणसी पृ0 – 79
48) अपराजितपृच्छा, 219, 1–9
49) रूप मण्डन – 3, 29, 30
50) रघुवंशम – 10, 7–8
51) उपरोक्त
52) आर0 डी0 बनर्जी, इर्स्टन इंडियन स्कूल ऑफ मिडिएभल स्पक्लपचर्स फलक **XC**
53) पुष्पा सिन्हा बिहार की प्राचीन हिन्दू प्रतिमाएँ प्रतिमाएँ पृ0 – 16
54) गणानां त्वा गणपतिं हवामहे ।
55) ऐतरेय ब्राह्मण, 1, 21, बम्बई, पृ0 15
56) रामाश्रय अवस्थी, खजुराहो की देव प्रतिमाएँ, पृ0 31
57) गणेशपुराण, 2, 3

58) नीलकंठ पुरूषोत्तम जोशी, प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, पृ0 167
59) सम्पूर्णानन्द, हिन्दू देव परिवार का विकास पृ0 147
60) महाभारत, अनुशासन पर्व, 15 श्लोक 261, अध्याय–149
61) आर0 जी0 भण्डारकर, वैष्णव, शैव एवं अन्य धार्मिक मत, पृ0 169
62) आनन्द कुमारस्वामी, यक्ष, भाग–I, पृ0 7–14
63) गेटी, गणेश, पृ0 13–27
64) वृहत्संहिता – 58
65) विष्णुधर्मोतरपुराण – 71, 13–16
66) मत्स्यपुराण – 260, 52–55
67) अपराजितपृच्छा – 212
68) विजय कान्त मिश्र, मिथिला आर्ट, एंड आर्किटेक्चर चित्र XI
69) पुष्पा सिन्हा बिहार की प्राचीन हिन्दू प्रतिमाएँ, पृ0 – 90
70) वासुदेव शरण अग्रवाल, मथुराकला, पृ0 74
71) गोपी नाथ राव, एलिमेंट्स ऑफ हिन्दू आइक्नोग्राफी, 1, 1 पृ0 59
72) मध्ययुगीन इन मूर्त्तियों की परंपरा का अनुकरण कर विदेशी शिल्पियों ने भी गणेश की मूत्तियों की रचना की । इनमें कम्बोडिया की पद्मासन–मुद्रा में बैठे हुए गणेश की कांस्य–प्रतिमा, बाली की स्थानक मूर्ति तथा जावा की समभंग खड़ी तथा बैठी प्रतिमाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । देखें गंटी, गणेश, फलक 26, 33, ए, 31वी, 3.1 डी (रत्नचन्द्र अग्रवाल ने अफागनिस्तान से मिली दो प्रतिमाओं का उललेख किया) ।
73) M. Ganguly, Handbook to the Sculptures in the Museum of Bangiya Sahitya Parishad, pp. 81-82
74) Tytor, E.B.; Religion in Primitive Culture, p. 372
75) Srivastava, V.C.; Sun-Worship in Ancient India, pp. 23-30
76) वही, पृ0 35–40
77) कीथ के अनुसार वैदिक कालीन सूर्योपासना परम्परा में आर्य और अनार्य, दोनों ही तत्त्व मिले हुए हैं । Keith, A.B.; The Religion and Philosophy of the Vedas and Upanisads, Vol. II p. 12
78) ऋग्वेद, 9; 114, 3; 10, 70, 8
79) शतप्रथब्राह्मण, 6, 1, 2, 6; 11,6,3,8
80) प्राचीन भारतीय प्रतिमा विज्ञान एवं मूर्तिकला, पृ0 84–85
81) Marshall, J., Mohenjo-daro and the Indus Civilisation. Vol. I, pl. LXXXVII, fig. 4; pl. XC, figs. 19, 22; pl. XCI, figs. 27, 33; pl. XCIII, fig. 7; pl. XCVI, fig. 18 etc.; Pandey, L. P., Sun Worship in Ancient India, pp. 1-9; Srivastava, V. C., Sun Worship in Ancient India, pp. 22-27.

82) D. H. I., pp. 428-30; ख0 दे0 प्र0, पृ0 161–63.

83) ऋ0, 2; 27; 1; See also, Macdonell, A A., Vedic Mythology, p. 43; Wilkins, W. J., Hindu Mythology, p. 15.

84) D. H. I. p, 430; ख0 दे0 प्र0 पृ0 163 ।

85) शत0 ब्रा0, 6, 1, 2, 8,; 11, 6, 3, 8; ऐल0 ब्रा0, 2, 4, पृ0 67; 7; 8, पृ0 301; 12, 11, पृ0 505 (ऐतरेय ब्राह्मण में 'द्वादशादित्य' शब्द का प्रयोग मात्र है और आदित्यों के सम्बन्ध में विशेष रूप से कुछ नहीं कहा गया है); See also, Macdonell, A. A., pp, 43-44; D. H. I., pp 428-29; ख0 दे0 प्र0, पृ0 162 ।

86) ख0 दे0 प्र0 पृ0 163–64, See also, V. S. M. R. S., pp. 153-54. D.H. I. pp. 430-31.

87) हिन्दू तथा जैन प्रतिमा विज्ञान, पृ0 – 107 – 108

88) अ0 पृ0, 214, 19 ।

89) वही, 214, 10–12 ।

90) वही 214, 17 ।

91) रू0 म0, 2, 24 ।

92) वही, 2, 18–19 ।

93) अ0 पृ0, 2, 22 ।

94) म0 पु0, 93, 1, 93, 8 ।

95) अ0 पु0, 51, 1–3, 51, 10 ।

96) ग0 पु0, 1, 39, 6 ।

97) प0 पृ0, 4, 78, 44

98) स्कं0 पु0, 7, 1, 17, 77; 2, 9, 27, 88–89.

99) मानसो0 2, 3, 1, 818–824; 2, 3, 1, 835–836.

100) शि0 र0, 2, 25, 80; 2, 25, 138–141.

101) बृ0 सं0, 58, 47–48.

102) वि0 ध0 पु0, 3, 67, 2–11.

103) म0 पु0, 93, 1; 93, 8.

104) वही, 260, 1–8.

105) भ0 पु0, ब्राह्मपर्व, 132, 25–27.

106) हयशीर्षसंहिता, 23, 1–8 . Smith, H. D., Vaisnava Iconoraphy, p. 263.

107) ख0 दे0 प्र0, पृ0 166.

108) तु0 की0, रू0 म0, भूमिका, पृ0 39, सूर्य की उपानहधारी मूर्तियों के लिए द्रष्टव्य, चित्र 68 (जूनागढ़ जिले से प्राप्त सातवीं शती ई0 की यह मूर्ति अब राजकोट संग्रहालय में है), चित्र 69 (इलाहाबाद से प्राप्त 12वीं शती ई0 की यह मूर्ति अब पुरातत्व संग्रहालय में हैं) ।

109) हिन्दू तथा जैन प्रतिमा विज्ञान, पृ0 – 107–108
110) अ0 पृ0, 133, 14–15; 220, 6; रू0 म0, 2, 26–30 (श्लोक सं0 29 में अन्तक और चित्र के हस्तायुधों की पुनरावृत्ति हो गई है); दे0 मू0 प्र0, 4, 40
111) अ0 पृ0, 220, 7, दे0 मू0 प्र0, 4, 41.
112) धर्मेन्द्र कुमर, मिथिला मिसलेनी, दरभंगा, पृ0
113) सत्येन्द्र कुमार झा का आलेख मिथिला संस्कृति एवं परंपरा, पटना पृ0
114) A.K. Coomaraswami, History of Indian and Indonesian Art, p. 114, Pl. LXXI, Fig. 227
115) V.A. Smith, A History of Fine Art in India & Ceylon, Pl. 98, B
116) N.K. Bhattasali, Iconography of Buddhist and Brahmanical Sculptures in the Dacca Museum, p. 172, Pl. LIX
117) वृजभुषण श्रीवास्तव, प्राचीन भारतीय प्रतिमा विज्ञान एवं मूर्ति कला, बाराणसी, पृ0 – 373
118) मेमायर्स ऑफ आर्कयोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, संख्या 61, पृ0 – 5–8
119) जर्नल ऑफ दी बिहार रिसर्च सोसाईटी, 53, 1967, पृ0 – 156, फलक 28
120) ललिता प्रसाद पाण्डेय, सन बर्सिप इन एन्शिएन्ट इंडिया, पृ0 – 215
121) डी0 सी0 सरकार इपिग्राफिक इंडिया, 29 (1951–52) बनगांव प्लेट ऑफ विग्रह पाल 3, पृ0 – 48
122) मारूति नन्दन तिवारी, कमल गिरि, मध्यकालीन भारतीय प्रतिमा लक्षण, बाराणसी पृ0 – 170
123) वासुदेव उपाध्याय, प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, पृ0 – 132
124) डा0 जौली द्वारा सम्पादित विष्णु धर्म सूत्र, 56/4
125) उपरोक्त
126) उपरोक्त
127) इन्दुमति मिश्र, प्रतिमा विज्ञान, पृ0 – 354
128) मारूति नन्दन तिवारी, कमल गिरि, मध्यकालीन भारतीय प्रतिमा लक्षण, बाराणसी पृ0 – 169
129) विष्णुधर्मोतरपुराण, 71, 3–5
130) अपराजितपृच्छा, 212, 40–42
131) रूपमण्डन, 5, 26–32
132) टी0 ए0 गोपीनाथ राव, खण्ड 2, भाग 2, पृ0 – 424–32
133) मारूति नन्दन तिवारी, कमल गिरि, मध्यकालीन भारतीय प्रतिमा लक्षण, बाराणसी पृ0 – 160
134) उपरोक्त

135) पुष्पा सिन्हा बिहार की प्राचीन हिन्दू प्रतिमाएँ प्रतिमाएँ पृ0 – 99
136) कंचन सिन्हा, कार्तिकेय आर्ट एण्ड लिटरेचर, पृ0 58–144
137) पटना संग्रहालय, पटना
138) आर0 डी0 बनर्जी, इर्स्टन इंडिया स्कूल ऑफ मिडियेगल स्कल्पचर (इंडियन म्युजियम)
139) कंचन सिन्हा, कार्तिकेय आर्ट एण्ड लिटरेचर, पृ0 58–135
140) पुष्पा सिन्हा, बिहार की प्राचीन हिन्दू प्रतिमाएँ प्रतिमाएँ पृ0 – 99
141) मारूति नन्दन तिवारी, कमल गिरि, मध्यकालीन भारतीय प्रतिमा लक्षण, बाराणसी पृ0 – 99
142) मत्स्य पुराण, 259/40
143) उपरोक्त, 259/44
144) रूपमण्डन, 217
145) वृहत् संहिता, 57, 41
146) डी0 एन0 शुक्ल, हिन्दू कैनन ऑफ आईकनोग्राफी ।।, पृ0 180
147) ज0 न्यू0 सो0 इ0 खण्ड 3, पृ0 79–80
148) मथुरा संग्रहालय, मथुरा
149) विश्वेश्वरानन्द, इन्डोलाजिकल जर्नल, अंक 3, पार्ट–1, पृ0 –107–108
150) श्री भगवान सिंह, गुप्तकालीन हिन्दू देव प्रतिमाएँ, पृ0– 119
151) इन्दुमती मिश्र, प्रतिमा विज्ञान, भोपाल, पृ0 – 114
152) मारूति नन्दन तिवारी, कमल गिरि, मध्यकालीन भारतीय प्रतिमा लक्षण, बाराणसी पृ0 – 100
153) **of D. H. I., p. 447**
154) **J. Marshall, Mohenjo-daro and the Indus 52-56, pl. XII fig. 17; Vats, M.S., Excavations at Harappa, Vol. I, pp. 129-30, pl. fig. 303; Mackay, E. J. H., Further Excavations at Mohenjo-daro, Vol. II, pl. LXXXVII, figs. 222, 235, pl. XCIV, fig. 420;**
155) **A. Stain, M.A.S.I. No.-37, P-38, P1, 1X & P-45, PL - X**
156) **of D. H. I., p. 447.**
157) वा0 सं0, अ0 16
158) **of D. H. I., p. 447.**
159) ऋ0, 1, 114, 1; 114, 5; 2, 33, 8
160) अथर्व0, 2, 27, 6; 11, 2, 7; 15, 5, 1–7
161) वा0 सं0, 3, 58; 39, 8
162) शत0 ब्रा0 5, 3, 3, 7; 6, 1, 3, 7
163) **of D. H. I., p.** 447; और देखिए, श्वेताश्वेतर उप0, अ0 3, 18

164) श्वेताश्वेतर उप0, 3, 11; 4, 14; 4, 16 यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि 'शिव' शब्द का प्रयोग श्वेताश्वेतर उपनिषद् से पहले ऋग्वेद, वाजसनेयि संहिता और अथर्ववेद में भी हो चुका है, किन्तु वहाँ वह मंगलकारी के अर्थ में रूद्र का एक विशेषण मात्र है कोई स्वतन्त्र देवता नहीं (**E. H. I., II. I, p. 39; D. H. I., p. 447; Jash, p., History of Savism. P. I**), जबकि श्वेताश्वेतर उपनिषद् में रूद्र से शिव का न केवल अभिज्ञान ही किया गया है, अपितु एक महत्वपूर्ण देवता के रूप में स्वयं शिव का उल्लेख भी स्थान–स्थान पर हुआ है (श्वेताश्वेतर उप0, 3, 11; 4, 14; 16) ।

165) **V. S. M. R. S., p. 111.**

166) द्वितीय शती ई0 पू0 के गुडिमल्लम् से प्राप्त एक उदाहरण के लिए द्रष्टव्य, **E. H. I., II, I, pp. 65-68, pls. II-III; D. H. I., pp. 456-57, pl. XXXI, fig. 3.**

167) रू0 म0, 4, 45, **of E. H. I., II, I, pp. 75.**

168) रू0 म0 4, 37–45

169) अ0 पृ0, सूत्र सं0, 117–201 तथा 204

170) दे0 मू0 प्र0, 6, 51–81; 6, 101

171) अ0 पृ0, 117, 25; 204, 1–5

172) अ0 पृ0, 118, 3; 198, 23; 111, 16–17; 202, 32–33; रू0 म0, 4, 66; दे0 मू0 प्र0, 6, 83; **of., E. H. I., II, I, p. 87.**

173) अ0 पृ0, 204, 7–14

174) वही, 204, 15–11

175) रू0 म0, 4, 92; दे0 मू0 प्र0, 6, 151

176) रू0 म0, 4, 13–14; दे0 मू0, 6, 151–52; शिवलिंग के चार मुखों का वर्णन पूर्ववर्ती परम्पराओं के अन्तर्गत स्कन्दपुराण में भी है (स्कं0 पु0, 5, 1, 36, 77; 5, 1, 67, 8; 1, 141, 1; 7, 1, 195, 2)

177) हिन्दू तथा जैन प्रतिमा विज्ञान पृ0 146

178) **J. N. Banerjee., The Development of Hindu Iconography, p. 479**

179) इस प्रकार देवतामूर्तिप्रकारण में अघोर का नाम तो दो बार आया है, किन्तु अघोरात्र का नामोल्लेख छूट गया है । देवतामूर्तिप्रकरण को इस नवीं रूद्र–प्रतिमा का विवरण अपराजितपृच्छा की अघोरात्र–प्रतिमा के विवरण से पूर्ण साम्य रखता है ।

180) अ0 पृ0 212, 1–2, देव0 मू0 प्र0, 6, 1–24 ।

181) रू0 म0, 4, 1–26, हिन्दू तथा जैन प्रतिमा विज्ञान, पृ0 152

182) **The Development of Hindu Iconography, p. 464 "These imges can first be classified under two broad heads, heads, those depicting his Ugra or Ghora (terrific) aspect, and the others illustrating his Saumya or Sant**

(peaceful) one, Each of these groups again can be generally subdivided under two broad heads on the basis of their illustrating myths commonly associated with the God, or not."

183) युग्मं स्त्री पुरूषं कार्य मुमेशौ दिव्य रूपिणौ ।
अष्ट ववत्रं तु देवेशं जटा चन्द्रार्ध भूषितम ।।
वामपाणि तु देवस्य देवस्कन्धेनि योज येत् ।
दक्षिणं तु करं शम्भोरूतपलेन विभूषितम् ।।
— विष्णुधर्मोत्तरपुराण, 105, 8–10

184) रूपमण्डन, 35, 16, 20

185) मारूति नन्दन तिवारी, कमल गिरि, मध्यकालीन भारतीय प्रतिमा लक्षण, बाराणसी पृ0 – 25

186) पुष्पा सिन्हा, बिहार की प्राचीन हिन्दू प्रतिमाएँ प्रतिमाएँ पृ0 – 59–61

187) विलियम, दी आर्ट ऑफ इण्डिया, 1883, चित्र – 179

188) श्री भगवान सिंह, गुप्तकालीन हिन्दू देव प्रतिमाएँ, चित्र – 40

189) सी0 पी0 सिन्हा, अर्ली स्कल्पचर्स ऑफ बिहार, चित्र – 54

190) वी0 पी0 सिन्हा, भारतीय कला को बिहार की देन, पृ0 – 131, चित्र– 99

191) पटना म्यूजियम कैटलॉग ऑफ एन्टिक्वीटीज, पृ0 – 153–154

192) वी0 पी0 सिन्हा, भारतीय कला को बिहार की देन, पृ0 – 136, चित्र–119

193) ऋग्वेद **X** . 125

194) मार्कण्डेय पुराण–देवी सूक्त– 82/1–18

195) गोपीनाथ राव, एलीमेंट्स ऑफ हिन्दू आइक्नोग्राफी, खंड 1 पार्ट–2, पृ0 338

196) सी0 इलियट, हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धिज्म, पृ0 274

197) ए0 सीं0 दास, ऋग्वैदिक कल्चर, पृ0 474

198) वाजसेनीय संहिता, 111, 53

199) तैत्तिरीय आरण्यक, 18; तैत्तिरीय ब्राह्मण 1. 6. 10. 4–5

200) केन उपनिषद्, 25

201) महाभारत, 6 एवं 23

202) मार्कण्डेयपुराण, अनुभाग 82

203) ए0 अवलोन, हीम्स टू दी गॉड्स, पृ0 91–93

204) मयूर रचित संस्कृत–श्लोक (14वीं सदी ई0), एन0 वाई0 क्वकेनबॉस द्वारा अनूदित 1917.

205) अग्निपुराण में पार्वती के रूप विधान की कल्पना इसी प्रकार की गयी है ।

206) हिस्ट्री एन्ड कल्चर, डॉ0 बी0 पी0 सिन्हा फेलिसिटेशन वाल्यूम, पृ0–137

207) मानसार, 51/32.

208) अपराजितपृच्छा, 222 / 6–7

209) रूपमण्डन, 5 / 38

210) बी0 भट्टाचार्य, द इंडियन बुद्धिस्ट आइक्नोग्राफी, पृ0 152

211) एन0 के0 भट्टशाली, आइक्नोग्राफी ऑफ बुद्धिस्ट एंड ब्राहमैनिकल स्कल्पचर इन ढाका म्युजियम, पृ0 199–200

212) जे0 एन0 बनर्जी, डेवलपमेंट ऑफ हिन्दू आइक्नोग्राफी, पृ0 501

213) मेमायर्स ऑफ आर्कियालाजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, नं0 66 पृ0 116

214) जे0 एन0 बनर्जी, डेवलपमेंट ऑफ हिन्दू आइक्नोग्राफी, पृ0 502

215) ए0 जे0 के0 कम्पर्स, द ब्रौजेज ऑफ नालन्दा एंड हिन्दू जावानीज आर्ट,

216) हिस्ट्री एण्ड कल्चर, बी0 पी0 सिन्हा फेलिसिटेशन वाल्यूम, पृ0 141

217) पुष्पा सिन्हा बिहार की प्राचीन हिन्दू प्रतिमाएँ प्रतिमाएँ पृ0 – 99

218) सत्येन्द्र कुमार झा का आलेख मिथिला संस्कृति एवं परंपरा, पटना पृ0

219) चुल्लवग्ग – 72, दीपवंश – 4–5

220) उपरोक्त पृ0– 179

221) वृजभुषण श्रीवास्तव, प्राचीन भारतीय प्रतिमा विज्ञान एवं मूर्ति कला, बाराणसी, पृ0 – 368

222) सत्येन्द्र कुमार झा का आलेख मिथिला संस्कृति एवं परंपरा, पटना पृ0–254

223) प्रतिमा स्थल की जानकारी श्री जितेन्द्र कार्जी तत्कालीन संग्रहालय अध्यक्ष, चन्द्रधारी संग्रहालय, दरभंगा द्वारा सत्येन्द्र कुमार झा को दी गई ।

224) उपेन्द्र ठाकुर, हिस्ट्री ऑफ मिथिला दरभंगा, 1956

225) उपरोक्त

226) सत्येन्द्र कुमार झा का आलेख मिथिला संस्कृति एवं परंपरा, पटना पृ0–253

227) उपरोक्त

228) उपरोक्त, पृ0 – 255

229) विजय कान्त मिश्र, मिथिला आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर, इलाहाबाद, 1978

230) सत्येन्द्र कुमार झा का आलेख मिथिला संस्कृति एवं परंपरा, पटना पृ0–255

231) जयदेव मिश्र, हिस्ट्री ऑफ बुद्धिष्ट आइकोनोग्राफी इन बिहार, पटना

232) सत्येन्द्र कुमार झा का आलेख मिथिला संस्कृति एवं परंपरा, पटना पृ0–255

233) उपरोक्त



चतुर्थ अध्याय

दरभंगा प्रक्षेत्र की प्रतिमाओं का सांस्कृतिक पहलू

सांस्कृतिक शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है। पुरातत्ववेत्ता संस्कृति को विशेष उद्योगों के समूह के रूप में देखते हैं और नृवंशशास्त्री इसको सामाजिक परंपरा कहते हैं। उनके अनुसार वे सब चीजे जो मनुष्य के पास हैं, वे सब जो वह करता है और वह सब जो वह सोचता है, संस्कृति है । संस्कृति में जो परिवर्त्तन होते रहते हैं उनका अध्ययन करने के लिए मनुष्य की समस्त क्रियाओं में से महत्वपूर्ण क्रिया का चयन करना आवश्यक है। संस्कृति शब्द 'कृ' धातु में सम् उपसर्ग और कृतन प्रत्यय लगाने से बनता है। इसका शाब्दिक अर्थ अच्छी स्थिति, सुधरी हुई आदि का बोधक है। ट्यानवी ने स्पैंगलर के इस मत से सहमति व्यक्त की है कि संस्कृति के विकास में पहले उत्थान का फिर पतन का युग आता है। परन्तु वे नहीं मानते कि विभिन्न संस्कृतियाँ एक दूसरे को प्रभावित नहीं करती। उनका विचार है कि विभिन्न संस्कृतियाँ एक दूसरे से प्रभावित होती हैं ।

अगर संस्कृति उन क्रियाओं, विचारों और अभिव्यक्तियों का नाम है, जिन्हें कोई समाज साध्य या मूल के रूप में देखता है तो मिथिलांचल की संस्कृति को आध्यात्यमक कहा जा सकता है। इसने आध्यात्म को जीवन केन्द्र में तथा आध्यात्मिक ज्ञान को जीवन के सर्वोपरि मूल्य के रूप में स्थापित किया है, शेष सभी मूल उन्हीं से नियंत्रित है। हमारी आध्यात्मिकता ने जीवन के उन मूल आधारों को उद्घाटित किया है जिन पर स्थित होकर कोई व्यक्ति अथवा राज्य महान हो सकता है। यह हमारी आस्था को सुदृढ़ करती है और एक वृहद सांस्कृतिक एकता का आर्दश प्रस्तुत करती है । जहाँ जाति वर्ग अथवा सभी भेदों का अतिक्रमण करते हुए एक दूसरे को जानते हुए प्रयत्न करते हैं।

यह संस्कृति प्राचीन काल में अनेक उतार चढ़ाव से गुजरी । पूर्व मध्यकाल में जब इसका विकास रूक सा गया तब नाथों, सिद्धों और विशेष रूप से मध्यकालीन भक्तों ने पुर्नव्याख्या की। दरभंगा प्रक्षेत्र में प्राप्त विभिन्न पाषाण

प्रतिमा इन तथ्यों को उजागर करती है। वैष्णव, शैव, शाक्त एवं बौद्ध धर्म से सम्बद्ध प्रतिमाएँ इस परिपेक्ष्य के सांस्कृतिक पहलूओं के जीवन्त उदाहरण हैं।

संस्कृति मानवता का मेरूदण्ड है, शिष्टता सौजन्यता एवं शील की आधारशिला है। वह पूर्व संचित परम्पराओं का कोष है। संस्कृति के पाँच अवयव हैं–धर्म, दर्शन, इतिहास, वर्ण एवं संस्कार । ये पांचों इस क्षेत्र की प्रतिमाओं के माध्यम से भी अभिव्यक्त होते हैं। संस्कृति का निर्माण आचार से होता है, आचार से विचार का उद्‌भव होता है। जव आधारभूत केन्द्रीय विचार नष्ट हो जाते हैं तो संस्कृति नष्ट हो जाती है।[1] विश्व की कई संस्कृतियां नष्ट हो गई या फिर दूसरी संस्कृतियों में विलीन हो गई किन्तु दरभंगा प्रक्षेत्र में यह कम प्रभावी प्रतीत होता है । कला को राजाश्रय अथवा राज्याश्रय पर निर्भर रहना पड़ता था यह उसकी विवशता थी पर दरभंगा प्रक्षेत्र में स्वतंत्र प्रतिमाओं की प्राप्ति ने इस संभावनाओं को अल्पतर किया हैं।

दरभंगा प्रक्षेत्र की पाषाण प्रतिमाओं के शास्त्रीय अध्ययन का आकलन कर क्षेत्रीय इतिहास को मौलिक स्वरूप प्रदान करने के साथ–साथ क्षेत्रीय परंपराएं, विश्वास, रीति–रिवाज एवं मान्यताओं की जानकारी मिलती है । क्षेत्रीय इतिहास की गुत्थियों को समझने के साथ–साथ सम्पूर्ण प्रक्षेत्र के सांस्कृतिक स्थितियों की जानकारी भी मिलती है ।

एक सांस्कृतिक इकाई के रूप में आद्यैतिहासिक युग से ही मिथिला की एक विशिष्ट सांस्कृतिक अस्मिता रही है और अध्ययन, चिन्तन, साहित्य, दर्शन तथा बौद्धिक सृजन के क्षेत्र में अपनी महान उपलब्धियों से इसने भारत की संश्लेषणात्मक संस्कृति के विकास में महत् योगदान दिया है,[2] परन्तु इतिहासकारों के अनथक प्रयत्नों के बावजूद इतिहास के विभिन्न चरणों में मिथिला की उत्कृष्ट बौद्धिक सृजनात्मक उपलब्धियों के भौतिक आधारों का निरूपण अब तक नहीं हो पाया है ।[3]

साहित्यिक स्रोतों की अपनी सीमाएँ हैं । मुख्यतः ब्राह्मण प्रणीत साहित्य ब्राह्मणों और उनके संरक्षक शासकों के सम्बन्ध में तो विस्तार से जानकारी देते हैं, परन्तु ब्राह्मणेतर अथवा शासकेतर समाज और उनकी संस्कृति की इनसे उपयोगी ऐतिहासिक जानकारी नहीं मिल पाती है ।[4]

पालकालीन भारतीय संस्कृति का प्रचार–प्रसार पड़ोसी देशों में पूर्वकाल की तुलना में बड़े पैमाने पर हुआ। तिब्बत और बिहार के सांस्कृतिक संबंधों का

सूत्रपात पाल वंश के राज्यारोहण के पूर्व ही हो चुका था। हेवनसांग के समकालीन थान्मि ने उदन्तपुरी को मानक मानकर "साम्–ये" बिहार का निर्माण करवाया था । नालंदा महाविहार के आचार्य पद्म संभव ने तिब्बत को बौद्ध धर्म के तांत्रिक स्वरूप से परिचित कराया । इनके बाद शांतरक्षित के शिष्य कमलशील (720 ई0–780 ई0) अपने गुरूओं की रक्षा के लिए वहाँ विशेष रूप से आमंत्रित होकर गए ।[5] तिब्बत में बिहार के सांस्कृतिक दूतों की श्रृंखला में सर्वाधिक आदरणीय और महत्वपूर्ण व्यक्तित्व हैं दीपंकर श्री ज्ञान। अतीश 1042 ई0 में तिब्बत पहुँचे और वहीं के होकर रह गए।[6] उनके साथ जाने वाले विद्वानों में उनके भाई श्रीगर्भ (भिक्षु नाम वीर्यचन्द्र), भूमिगर्म, नग्त्शी, रग्यबरत्सोन तथा भूमिसंघ अग्रगण्य हैं।[7] तिंबत पहुँच कर उन्होंने बौद्ध धर्म के मानसरोवर को तंत्रयान की जानकारी दी तथा उसे महायान की सर्वजनिक करूणा की शुचिता से परिचित करवाया।[8]

धर्म, शिक्षा और साहित्य के साथ–साथ बिहार की कला ने भी तिब्बत की भूमि पर अपने हस्ताक्षर अंकित किए थे । शांतरक्षित और पद्मसंभव द्वारा बनवाया गया "साम्–ये" विहार स्थापत्य कला के क्षेत्र में उदन्तपुरी का तिब्बती अनुवाद माना जाता है। तिब्बत की बौद्ध मूर्तियों पर नालंदा का स्पष्ट प्रभाव है।[9] यहाँ की मूर्तियाँ भी पाल–कला के सौन्दर्य–बोध उसकी नियमबद्धता तथा ऐन्द्रिक चेतना की छवियाँ हैं।

भारत–चीन संबंध ई0 पू0 दूसरी शताब्दी से ही शुरू हो गए थे ।[10] विवेच्य कालावधि में बिहार से भी कई सांस्कृतिक दूत धर्म और पंथ के कार्य के लिए चीन गए।

पाल–कला का चीन ने आयात किया अथवा नहीं इस प्रश्न पर तथ्याभाव है । बी0 पी0 सिन्हा ने विद्वानों को उद्धृत करते हुए विस्तार में चर्चा की है कि किस तरह सांग–साम्राज्य के समकालीन पाल–साम्राज्य काल में चीन और भारत में व्यापारिक संबंध के साथ ही सांस्कृतिक संबंध भी बढ़ा और तत्कालीन चीन और बिहार की मूर्तियों में ऊपरी सादृश्य की भरमार है ।[11]

मिथिला के सांस्कृतिक इतिहास पर काफी अधिक लिखा जा चुका है एवं इस विषय ने कई यूरोपीय एवं बंगाली विद्वानों को भी आकर्षित किया है । पहली महत्वपूर्ण कृति जार्ज ग्रियर्सन की "मैथिली क्रिस्टोमेथी" मानी जा सकती है जो 1881 में ही प्रकाशित हो गयी थी । इसके अतिरिक्त डा0 गंगानाथ झा की 'पूर्व

मीमांसा एण्ड इटस सोर्स', तत्व चिन्तामणि, मनुस्मृति का व्याख्या सहित अनुवाद, कुमारिल भट्ट की तंत्र वर्तिका का व्याख्या सहित अनुवाद आदि पुस्तकों में स्थान–स्थान पर मिथिला की सांस्कृतिक गतिविधियों का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है । इसके अतिरिक्त राधा कृष्ण चौधरी की "मिथिलाक सांस्कृतिक इतिहास", डी0 सी0 भट्टाचार्य की 'हिस्ट्री ऑफ नव्य न्याय ऑफ मिथिला', जयदेव गांगुली, धर्मदेव गांगुली की धर्मशास्त्र इन मिथिला, कलकत्ता 1975, डा0 उपेन्द्र ठाकुर की "स्टडीज इन जैनिज्म एण्ड बुद्धिज्म इन मिथिला", बनारस (1964), प्रो0 जे0 सी0 झा की "माइग्रेसन ऑफ मैथिल पंडित्स", डा0 इन्द्रकान्त चौधरी की "सम आस्पेक्ट्स ऑफ सोशल लाईफ इन मिडियेवल मिथिला" (पटना 1971) महत्वपूर्ण प्रकाशन माने जा सकते हैं । डा0 गंगा नाथ झा के अतिरिक्त के0 पी0 जायसवाल ने मिथिला के प्राचीन हस्तलेखों का संकलन कर एक विद्वतापूर्ण निबंध इस संकलन के प्रकाशन के क्रम में लिखा है जो संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट की भूमिका में उपलब्ध है । मैथिल ब्राह्मणों एव कर्ण कायस्थों की एक विशिष्ट सामाजिक सांस्कृतिक परम्परा "पंजी व्यवस्था" के अध्ययन का भी विद्वानों के द्वारा प्रयास किया गया है लेकिन लगभग सात सौ वर्षो से लगातार चली आ रही इस महत्वपूर्ण परम्परा पर अपेक्षाकृत इतिहासकारों का ध्यान नही के बराबर गया है । फिर भी जो पुस्तकें उपलब्ध है उनमें प्रो0 रमानाथ झा की 'मैथिल ब्राह्मणों की पंजी व्यवस्था', विनोद बिहारी शर्मा की मैथिल कर्ण कायस्थ की पंजी का सर्वेक्षण, डा0 उग्रनाथ झा का 'जेनियोलोजी एण्ड जेनिओलजिस्टस ऑफ मिथिला', रमानाथ झा की 'अलैकुल प्रकाश', धनान्द झा का 'घटकराज' आदि महत्वपूर्ण माने जा सकते हैं।[12]

दरभंगा विदेह काल से ही सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यंत सम्पन्न रहा हैं । इसकी सम्पन्नता के स्रोत के रूप में अनेक रचनाएं उपलब्ध हैं। अनेक रचनाकारों, इतिहासकारों ने साहित्यिक स्रोतों के आधार पर इस सम्पूर्ण प्रक्षेत्र की समृद्ध सांस्कृतिक परंपरा एवं धरोहर को उजागर करने का प्रयत्न किया है । किन्तु किसी भी इतिहास को सम्पुष्ट, प्रमाणिक एवं वैज्ञानिक आधार प्रदान करने के लिए पुरातात्विक स्रोतों का उपयोग अत्यावश्यक हैं । इस क्षेत्र का इतिहास इस दृष्टि से अपूर्ण है । विगत वर्षों में कुछेक पुरातात्विक गतिविधियाँ अवश्य हुई हैं, किन्तु इस क्षेत्र के समग्र इतिहास एवं संस्कृति की रचना के लिए गहन पुरातात्विक दृष्टिकोण को वैज्ञानिक पद्धति से अपनाए जाने की आवश्यकता है।

आलोच्य काल सौभाग्यवश पुरातत्व के एक महत्वपूर्ण अंग 'प्रतिमा' की दृष्टि से अत्यन्त सम्पन्न हैं । इतिहासकारों और पुरातत्ववेताओं का इस समृद्ध संस्कृति की ओर ध्यान आकृष्ट करना हमारा लक्ष्य है । शोध के क्रम में प्रतिमा की दृष्टि से इसके सांस्कृतिक पहलू पर विचार करते हुए यह तथ्य स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आता है कि पाल काल में मूर्ति निर्माण के केन्द्र रूप में विख्यात मगध के बाद यदि गहन पुरातात्विक अन्वेषण किया जाय तो दरभंगा प्रक्षेत्र निश्चित रूप से एक दूसरे केन्द्र के रूप में पालों के समकालीन उभरकर सामने आएगा ।

सम्पूर्ण उत्तरी भारत में प्रतिहार, चन्देल, पाल, कलचुरि, परमार आदि अनेक वंशों ने जहाँ भी मन्दिरों का निर्माण कराया, वहीं पर कला–केन्द्रों की स्थापना हो गई। स्वतन्त्र मूर्तियों के स्थान पर इस समय कला को प्रदर्शित करने का सर्वोतम स्थान मन्दिर की बाहरी भूमि थी । अतः अधिकांश कलाकार स्थपतियों के निर्देशन में कार्य करने लगे। तकनीकी दृष्टि से यह सरल कार्य नहीं था। मन्दिर के निर्माण के पूर्व ही विभिन्न स्थानों पर लगने वाले पत्थरों का योजनाबद्ध स्थान निश्चित कर लिया जाता था। जहाँ पर मूर्तियों को प्रदर्शित करना होता था वहाँ के पत्थरों में एक ओर मूर्ति तथा दूसरी ओर एक प्रकार का खाँचा बनाना पड़ता था जिससे मन्दिर की दीवार निर्मित होती थी। यह सरल कार्य नहीं था कभी–कभी पत्थर को पहले दीवार में लगाकर उस पर मूर्ति को बाद में प्रगट किया जाता था।

तत्कालीन मूर्तिकला का विकास प्रायः वास्तुकला के साथ हुआ हैं । इस समय मूर्ति वास्तु की अभिन्न अंग बन गई । इसलिए अलंकरण इस युग की कला का प्रमुख तत्व है। मन्दिरों पर बनी मूर्तियॉ क्या हैं, मानों विश्व रंगमंच पर हो रहे नाटक के पात्र हैं। इन मूर्तियों के माध्यम से, मन्दिर में ईश्वर और उसकी सृष्टि–दोनों के दर्शन संभव हैं । एक ओर जहॉ देव मूर्तियों में शिव, विष्णु, ब्रह्मा, सूर्य, जगदम्बा, महिषासुर मर्दिनी जैसे प्रमुख देव और देवियों के दर्शन होते हैं तो दूसरी ओर एक बड़ी संख्या उनके परिवार, अनुचर, उपदेवता और गण शास्त्रीय पद्धति के अनुसार तत्सम्बन्धी रुप में अपने–अपने आयुध लिए हुए विभिन्न मुद्राओं में दिखाई देते हैं । प्रतिमा विज्ञानीय रुपों के इस प्रसार के विकास का श्रेय तत्कालीन धार्मिक परम्पराओं को है । निश्चय ही भारतीय प्रतिमाशास्त्र के विकास के अध्ययन के लिए 600–1200 ई0 के मध्य बने मन्दिर आकर ग्रन्थ हैं।

इस युग के अधिकांश मन्दिर विष्णु,शिव,शक्ति,सूर्य को समर्पित हुए हैं इसलिए उनकी बाह्य भुमि पर गर्भ गृह में प्रतिष्ठत देवता– विष्णु, राम, बलराम, शिव, ब्रह्मा, सूर्य, महिषासुर मर्दिनी के साथ–साथ अनुचर या पार्श्व देवता तथा परिवार देवता–गणेश, कार्तिकेय, लक्ष्मी, पार्वती तथा आयुध पुरुषों को निश्चित स्थान दिया गया है । प्रवेश द्वार पर गंगा और यमुना तथा उत्तरंग पर नवग्रहों को भी पारंपरिक रुपों में उत्कीर्ण किया गया है । पौराणिक युग में साम्प्रदायिक देवताओं के परिवार और उनकी कृपा और अनुग्रह की अनेक कथाओं की रचना हुई । इसलिए इस समय शिव और विष्णु के अवतारों और अनुग्रह रुपों को भी मन्दिर की बाह्य भूमि पर स्थान मिला। शिव के सौम्य भाव की अवधारणा–शिव, उमा–महेश्वर, गंगाधर, दक्षिणा मूर्ति, सदाशिव नटराज, कल्याण सुन्दर तथा अन्य अनेक रुपों में की गई। इसी प्रकार शिव के संचारक के रुप को भी समान प्रतिष्ठा मिली। विष्णु के दशावतारों के अतिरिक्त उनके विश्व रुप, बैकुंठ, लक्ष्मीनारायण, गजेन्द्रमोक्ष तथा शेषषायी रुपों का प्रगटीकरण हुआ । देवताओं की इस लम्बी श्रृंखला के अभिज्ञान के लिए प्रतिमा शास्त्रीय ग्रन्थों की रचना हुई । जिसमें देवों के आकार, आसन, मुद्रा, आयुध, वर्ण, वस्त्र और अलंकारो का विवरण निश्चित् हुआ। ऐसे शास्त्रों में ईश्वरशिवगुरुदेवपद्धति, रुपमंडन, समारांगडणसूत्रधार, शिल्परत्न, अपराजितपृच्छा, साधनमाला और निर्वाणकालिका इत्यादि अनेक ग्रन्थों का नाम उल्लिखित किया जा सकता है ।

मन्दिर शिल्प का तीसरा विषय लौकिक जीवन से सम्बन्धित है । मन्दिर के शिखर को छोड़कर प्रायः वरामदा तथा आधार पीठिका की शोभापट्टियों पर समाज का अधिकांश स्वरूप मूर्त हुआ है । सामाजिक जीवन के दृश्य और व्यक्ति अपनी पूर्ण निष्ठा के साथ उत्कीर्ण किए गए हैं । ये चित्र तत्कालीन जीवन दर्शन के प्रमाण हैं । इनमें तकनीकी कुशलता के स्थान पर विषय के प्रस्तुतिकरण पर अधिक ध्यान दिया गया है । ये चित्र एक प्रकार से कथाचित्रों; पुराने जातक दृश्यों के समकक्ष हैं । वास्तव में तन्त्रवाद की प्रबल कल्पना तथा तत्व ज्ञान ने इस समय पूरे देश में रोमान्टिक अभिव्यंजनावादी कला को जन्म दिया, जो असाधारण लालित्य, ओज और कल्पना प्रदर्शित करती है । शास्त्र की दृष्टि से यह साधनमाला और विष्णुधर्मोत्तर के अनुरूप हैं जिनमें ध्यान, पूजा और कलात्मक सृजन के लिए देवी और देवताओं के रूपों, गुणों और मुद्राओं की व्यवस्था की गई है।

शिल्प की दृष्टि से इस युग की मूर्तियॉं भावमयी न होकर अलंकारिक हैं। तत्कालीन शिल्पी आन्तरिक भाव की अभिव्यक्ति उत्कीर्ण करने में कुशल न होने के कारण अलंकारों का प्रयोग करता है। इसलिए दर्शक के नेत्र–भाव के स्थान पर आभूषण और सज्जा के संसार में खो जाते हैं ।[13]

दरभंगा प्रक्षेत्र की पाषाण प्रतिमाओं के सम्बन्ध में पूर्व में किये गये अन्वेषण की प्रतिक्रिया चौकाने वाली हैं । सत्येन्द्र कुमार झा ने अपने आलेख में विस्तार से ब्राह्मण मूर्तियों के अन्तर्गत विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश के अलावे अन्य देवी देवताओं की सुन्दर मुर्तियो का उल्लेख किया है, जो ब्राह्मण धर्म की लोकप्रियता और व्यापकता को स्पष्ट–करती हैं । विष्णु की अलंकरण से पूर्ण अनेक मूर्तियाँ चतुर्विंशति व्यूहों और अवतारों से सम्बन्धित हैं । ब्राह्मण मूर्तियों की संख्या और प्रकारात्मक विविधता बौद्ध मूर्तियों की अपेक्षा निश्चय ही अधिक प्रभावी है, और वैष्णव धर्म पूर्वमध्यकाल में इस क्षेत्र का सबसे लोकप्रिय सम्प्रदाय था, ऐसी मूर्तियों के सांख्यिकीय बहुलता से स्पष्ट हैं, यद्यपि यह तथ्य उनके लिए एक चौंकाने वाली सूचना होगी जो मिथिला को दीर्घकाल से शाक्त बहुल क्षेत्र मानते हैं । विष्णु की मूर्तियाँ इस क्षेत्र के विभिन्न स्थलों से मिले हैं : भीठ भागवानपुर, विदेश्वर स्थान, गिरिजा स्थान, भैरव स्थान, बलिया, अंधराठाढ़ी, नागेश्वर स्थान, रखबारी, अकौर आदि । ऐसा प्रतीत होता है कि गहन अन्वेषण से विष्णु–प्रतिमाओं की संख्या में गुणात्मक वृद्धि हो सकती है ।

विष्णु की मूर्तियाँ न केवल संख्या में ही प्रभावशाली हैं, बल्कि इनके रूपांकन में भी अच्छी–खासी विविधता है । एक असाधारण विष्णु की मूर्ति डुमरा–परसा (मधुबनी) से प्राप्त हुई । इसमें समभंग मुद्रा में विष्णु को खड़ा दिखाया गया है । 4 फीट ऊँची इस प्रतिमा में विष्णु के मुकुट के स्थान पर सर्पो के फण का अलंकरण किया गया है । यह असाधारण एवं आकर्षक प्रतिमा अक्षुण्णप्राय है । ऐसा लगता है कि कुछ क्षेत्रीय सांस्कृतिक परम्पराओं को अभिव्यक्ति देने के लिए इसमें नए प्रायोगिक रूपांकन किये गए ।[14] 800 से 1200 ई0 के दरभंगा प्रक्षेत्र में प्रतिमाओं की सांस्कृतिक पहलू में सांस्कृतिक परंपराओं की पृष्ठभूमि को प्रतिमाओं के तुलनात्मक अध्ययन के परिपेक्ष्य में समझना आवश्यक होगा ।

"पूर्व मध्यकाल मूर्तिकला के विकास की दृष्टि से वस्तुतः संक्रमण काल रहा है जिसमें रूप और भाव पक्ष के समन्वय की दृष्टि से श्रेष्ठ कलात्मक

प्रवृतियों का स्थान शनैः– शनैः मध्ययुगीन प्रवृत्तियों ले रही थी, जिनमें क्षेत्रीय तत्वों की प्रधानता थी । वस्तुतः पूर्वकाल की गुप्तकालीन श्रेष्ठ कला परम्पराओं की नींव पर ही मध्ययुगीन मूर्तिकला का विकास हुआ जिसके अन्तर्गत विभिन्न क्षेत्रों में अलग–अलग राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों में मूर्तिकला की क्षेत्रीय प्रवृतियाँ क्रमशः मुखर हुई । कला और धर्म एक–दूसरे से सम्पृक्त रहे हैं। अतः मध्यकाल की धार्मिक पृष्ठभूमि की संक्षिप्त चर्चा भी यहाँ अपेक्षित है जिससे विभिन्न क्षेत्रों में होने वाले मूर्त्ति निर्माण और उनकी शैलीगत विशेषताओं को पूरी तरह समझा जा सकता है ।

आठवी शताब्दी ई0 के मध्य में पूर्वी भारत में पाल राजवंश की स्थापना हुई जिसका बिहार और बंगाल के क्षेत्रों पर अधिकार था । आठवीं शती ई0 के मध्य से ग्यारवीं शती ई0 के अन्त तक पाल शासक पूर्वी भारत की प्रमुख राजनीतिक शक्ति थे, जिनके काल में प्रभृत संख्या में प्रस्तर एवं धातु मूर्तियों का निर्माण हुआ।

पालकालीन मूर्तियाँ पूर्व मध्यकालीन मूर्तियाँ हैं जिनमें 10वीं शती ई0 से मध्ययुगीन कला के तत्व भाव–भंगिमाओं की भव्यता, अलंकरण तथा लक्षणों की प्रधानता के रूप में प्रभावी दिखाई देते हैं । पाल शासकों के काल में मगध–वंग शैली की स्थापना हुई जिस पर स्पष्टतः पूर्ववर्ती गुप्त मूर्ति कला विशेषतः सारनाथ शैली का, हल्के एवं इकहरे बदनवाली आकृतियों तथा पारदर्शक वस्त्रों के रूप. में प्रभाव देखा जा सकता है । पाल शासकों के काल में जिस मूर्ति शैली का विकास हुआ वह उनके उत्तराधिकारी सेन शासकों तथा उसके बाद भी बिहार, बंगाल तथा असम के क्षेत्रों में परवर्ती मध्ययुगीन तत्वों के साथ जीवित रूप में देखी जा सकती है ।

प्रारंभिक पाल शैली की मूर्तियां गुप्त शैली के अत्यधिक निकट है। विद्वानों की धारणा है कि गुप्त कला शैली एवं संस्कृति का पाल शासकों के काल में पुर्नजागरण हुआ । पाल मूर्तियों की कुछ निजी विशेषताएं भी रही है। अधिकांश पाल मूर्तियां नवी शती ई0 में धर्मपाल एवं देवपाल के काल में बनीं। नवी शताब्दी ई0 तक पाल शैली के विभिन्न तत्व अपना स्वतन्त्र अस्तित्व ग्रहण कर चुके थे।

सेन वंश का आरंभ कर्नाटक में हुआ। पालों या चालुक्यों के आक्रमण के समय सेन बंगाल में आये और 12वी शती ई0 के प्रारंभ में पाल साम्राज्य के

पश्चात दरभंगा प्रक्षेत्र के कुछ भाग पर अपना शासन स्थापित किया । सेन शासकों में विजय सेन शैव मतावलम्बी था, जिसने देवपारा में एक शिव मन्दिर का निर्माण करवाया । उसके बाद 1158 ई0 में उसका पुत्र वल्लाल सेन शासक हुआ । यह भी शैव शासक था और इसने बिहार के पूर्वी क्षेत्र की विजय की । लक्ष्मणसेन (ल0 1178–1200 ई0) अन्तिम और संभवतः सर्वाधिक महत्वूपर्ण सेन शासक था जिसकी गहड़वालों के साथ शत्रुता थी । गीत गोविंद के लेखक जयदेव लक्ष्मणसेन के दरवार में थे । 1199–1200 ई0 में बख्तियार जी खिलजी ने बिहार और बंगाल पर विजय प्राप्त किया जिसके फलस्वरूप सेन वंश का अन्त हो गया। पूर्ववर्ती पाल शासकों के विपरीत सेन शासक मुख्यतः ब्राह्मण धर्म के समर्थक थे जिनके समय में हिन्दू धर्म की पुर्नस्थापना हुई।

सेन कला राजकीय और जन साधारण दोनों की कला रही है । देवपारा से प्राप्त विजय सेन का अभिलेख शिल्प के प्रति उसके लगाव और दृष्टिकोण का स्पष्टतः व्यक्त करता है । लेख की 31वीं पंक्ति में किसी शैव मूर्ति की प्रतिष्ठा के प्रसंग में उल्लेख मिलता है कि सर्पो के स्थान पर शासक ने शिव के वक्षः स्थल पर मुक्ता मालाएं, भस्म के स्थान पर चन्दन–चूर्ण और अक्षमाला के स्थान पर हाथ में नीलमणि की माला दी । वल्लाल चरित का एक प्रसंग भी सेन शिल्प के आदर्श को स्पष्ट करता है जिसके अनुसार चामर डुलाते समय सेवकों के कुक्षि प्रकट हो जाते हैं और उनके हाथ मानों नृत्य की मुद्राएं व्यक्त करते हैं । यह आदर्श सेन शिल्प में भगिमाओं की प्रबलता को व्यक्त करता है ।''[15]

पाल, सेन एवं कर्णाट शासनकाल में मिथिला में प्रतिमाओं के निर्माण में अभूतपूर्व उन्नति हुई । इन सम्राटों के काल में कलात्मक क्षेत्र में स्थापत्य, मूर्तिकला, संगीत आदि के क्षेत्र में काफी समृद्धि मिली । विशेषकर कर्णाट शासक नान्यदेव का शासन काल इस दृष्टि से उल्लेखनीय है । नान्यदेव ने प्रसिद्ध रागों की रचना की । ये संगीत के ज्ञाता थे । जिसकी चर्चा सारंगदेव के संगीत रत्नाकर से मिलती हैं ।[16] नान्य सरस्वती हृदयालंकार के रचयिता रहे है ।[17] इन्होंने 160 रागों की रचना की ।[18] यही इस तथ्य को उजागर करता है कि कला के क्षेत्र में इन सम्राटों की भूमिका निश्चित रूपेण महत्वपूर्ण रही होगी ।

पाल के बाद सेन एवं कर्णाट शासकों के इस क्षेत्र में आगमण से यहाँ के सांस्कृतिक स्वरूप, जो विभिन्न वर्ग एवं जातियों से निर्मित रहे हैं, पर राजधर्म का प्रभाव दिखालाई नहीं पड़ता । स्पष्ट रूप से पाल बौद्ध अनुयायी थे और

सेन–कर्णाट जिनका उद्भव क्षेत्र एक ही रहा है, वैष्णव संप्रदाय के पोषक थे । पाल कालीन प्रतिमाएँ जिनका उल्लेख अध्याय तीन में किया गया है से कहीं भी यह ध्वनित नहीं होता कि पालों ने बौद्ध धर्म को तत्कालीन समाज पर थोपने की कोशिश की । पाल काल में स्वतंत्र रूप से विभिन्न धर्मों के मूर्तियों का निर्माण होता रहा । सेन एवं कर्णाटों ने भी अपने प्रभाव का उपयोग धार्मिक भावनाओं को प्रभावित करने के लिए नहीं किया । मूर्ति शिल्प में आंशिक रूप से उनकी बनावट में थोड़ी भिन्नता आई किन्तु मौलिक स्वरूप इससे प्रभावित नहीं हुआ । फलतः इसके क्षेत्रीय प्रभाव ने अपनी गरिमा बनाए रखी ।

दरभंगा प्रक्षेत्र की पाषाण प्रतिमाओं का सांस्कृतिक पहलू यह दर्शाता है कि गंगा के उत्तर से प्राप्त प्रतिमा और गंगा के दक्षिण से प्राप्त प्रतिमा का अंतर सांस्कृतिक रूप से दृष्टगत होता है, यथा–गंगा के उत्तर नारी प्रतिमा की बहुलता है, वैष्णव प्रतिमाओं की बहुलता और अपेक्षाकृत बौद्ध प्रतिमा कम हैं। एक प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि उत्तरी बिहार में पात्रों की स्थिति सुदृढ़ थी तो प्रतिमा में इस प्रकार की विषमता क्यों दिखलाई पड़ रही है। क्या पूर्व मध्यकालीन दरभंगा प्रक्षेत्र सांस्कृतिक दृष्टि से अलग था? क्या इस क्षेत्र के शासक पालों से इतर थे? दक्षिण बिहार अर्थात् गंगा के दक्षिणी हिस्से में गया, पटना, भागलपुर से बंगाल तक की प्रतिमा में जब आंशिक अंतर उत्पन्न हुआ तो पाल–सेन आर्ट का नाम दिया गया। इसे एक अलग संस्कृति का द्योतक माना गया किन्तु गंगा के उत्तर में हुए परिवर्तन पर आज तक किसी कलाविद् ने गंभीरतापूर्वक विचार–विमर्श तक नहीं किया है, एक विचारणीय पहलू है।

निःसंदेह कर्णाट, पाल, सेन शासकों की कालावधि में मूर्ति शिल्प के विविध स्वरूपों का निर्माण हुआ जैसा कि प्राप्त विभिन्न धर्मों से सम्बद्ध प्रतिमाओं की प्राप्ति से संकेत मिलता है। सम्राटों की आस्था उनके क्षेत्रीय शासक के रूप में भूमिका को दृष्टिगत कर हम दरभंगा प्रक्षेत्र के विभिन्न सांस्कृतिक पहलूओं पर होने वाले प्रभाव को सहजता से आकलित कर सकते हैं ।

पाद टिप्पणी

1) जुगनु पाण्डेय, सामाजिक परिवर्तन में कला एवं साहित्य, वाराणसी पृ० – 75
2) धर्मेन्द्र कुमर, मिथिला मिसलेनी, दरभंगा पृ0 69
3) उपरोक्त
4) रत्नेश्वर मिश्र (सं0), रीजन इन हिस्ट्री, पटना, पृ0–210

5) मंजु कुमारी का आलेख पाल कालीन सांस्कृतिक प्रसार, बिहार इतिहास परिषद, 2005, पृ0– 189
6) अलका चट्टोपाध्याय, अतीश एण्ड तिब्बत, पृ0– 130 (ब्लू एनल्स, पृ0–245–46 के हवाले से)
7) उपरोक्त, पृ0– 314–15
8) मंजु कुमारी का आलेख पाल कालीन सांस्कृतिक प्रसार बिहार इतिहास परिषद, 2005, पृ0– 190
9) वी0 पी0 सिन्हा, भारतीय कला कौ बिहार की देन, पटना, पृ0–145
10) कम्प्रेहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ बिहार, पटना, जिल्द I भाग II, पृ0– 564
11) वी0 पी0 सिन्हा, भारतीय कला को बिहार की देन, पटना, पृ0–145
12) अमिताभ कुमार झा का आलेख, रीजन इन हिस्ट्री, पटना पृ0 – 167–168
13) कृष्ण चन्द्र श्रीवास्तव, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति, इलाहाबाद पृ0 – 570–579
14) सत्येन्द्र कुमार झा का आलेख, मिथिला संस्कृति एवं परंपरा, पटना पृ0– 259–60
15) मारूति नन्दन तिवारी, कमल गिरि, मध्यकालीन भारतीय प्रतिमा लक्षण, वाराणसी, पृ0 –.9–174
16) संगीत रत्नाकर, पृ0 – 1–12
17) Q. J. A. R.S - 1, 56.58
18) उपेन्द्र ठाकुर, हिस्ट्री ऑफ मिथिला, दरभंगा पृ0–577–616



दरभंगा प्रक्षेत्र की प्रतिमाओं का सामाजिक पहलू

पूर्वमध्यकालीन दरभंगा प्रक्षेत्र में उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर इस क्षेत्र के सामाजिक पहलू की जानकारी विस्तार से मिलती है। साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक साधनों के अध्ययन के उपरान्त तत्कालीन सामाजिक स्थिति एवं उनके स्वरूप का अवलोकन सहजता से किया जा सकता है किन्तु पूर्वमध्यकालीन मिथिला के सामाजिक इतिहास के अध्ययन के लिए सामग्रियों का अभाव एक मुख्य समस्या है।

इतिहासकारों ने बड़ी सहजता और स्पष्टता के साथ अपनी परिकल्पना को सम्पुष्ट करने के लिए ऐसे साहित्यिक स्रोतों का उपयोग किया है, जिसका पूर्वमध्यकालीन मिथिला के इतिहास से बहुत ही कम सरोकार है किन्तु इन स्रोतों का अधिकतर उपयोग उत्तर भारत के सामाजिक इतिहास के अध्ययन में किया गया है। अध्ययन के क्रम में यह भी देखा गया है कि मध्यकालीन साहित्यिक स्रोतों से प्राप्त जानकारी का इस्तेमाल पूर्व मध्यकाल के परिप्रेक्ष्य में किया जाता रहा है। यथा विद्यापति, ज्योतिरीश्वर चण्डेश्वर आदि की रचनाएँ मध्यकालीन है किन्तु स्रोतों की कमी के कारण इनको आधार बनाया जाता है।

स्पष्ट है कि मिथिला का इतिहास, जिसमें पूर्व मध्यकाल का समाज सहज समाहित है, का यथेष्ट ऐतिहासिक अध्ययन अभी तक विस्तार से नहीं हुआ है, परन्तु कतिपय अध्ययनों के आधार पर मिथिला की जो छवि बनती है, वह कुल मिलाकर अभिजात्य वर्गीय दिखती है । वास्तविकता तो यही प्रतीत होता है कि अभी तक मिथिला का कुलीन इतिहास ही लिखा जा सका है, जिसमें शासक वर्ग और ब्राह्मणों के सम्बन्ध में जितनी अधिक जानकारी मिलती है, उतनी ही कम समाज के बहुसंख्यक जन सामान्य वर्ग की जानकारी उपलब्ध हो पाती है । वस्तुतः मिथिला के समग्र इतिहास के संयोजन में हम सफल नहीं रहे हैं और उसकी आधी–अधूरी तस्वीर ही हमें देखने को मिलती रही।

वास्तव में, मिथिला के इतिहास की संरचना के लिए स्रोतों की सही तलाश नहीं हुई और यही कारण है उसके अतीत की समग्र पुनर्रचना में हम अब तक

समर्थ नहीं हो पाये हैं। इस हेतु आवश्यकता है कि स्रोतों के निरूपण में ऐतिहासिक समझ पैदा की जाय, ताकि पूर्व मध्यकालीन मिथिला–समाज के स्रोतगत आधार को पुरावशेषों के आधार पर इतना अधिक विस्तृत किया जा सके, जिस पर किसी खास वर्ग नहीं अपितु सम्पूर्ण समाज के ढाँचे को खड़ा करने में कोई कठिनाई नहीं हो। इस प्रकार पूर्व मध्यकालीन मिथिला के सामाजिक इतिहास की पुनर्रचना का प्राथमिक कार्यभार है इसके स्रोतगत आधार का विस्तार और उसका सही निरूपण।

पूर्वमध्यकालीन मिथिला से संबंधित साहित्यिक स्रोतों की कमी हमें एक ओर दिखाई पड़ती है तो दूसरी ओर इस काल से संबंधित पुरातात्विक स्थलों की भरमार भी दिखलाई पड़ती है। मैं इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सका हूँ कि इस सम्पूर्ण प्रक्षेत्र में इर्द–गिर्द फैले सैकड़ो गढ़ एवं डीह से प्राप्त मृदभांड के टूकड़ों का सम्बन्ध किस व्यक्ति से रहा है और इस काल में कौन–कौन लोग रहे होगे। इस सम्पूर्ण कालावधि में कई विद्वान पंडितों की कृतियां हमें मिलती है। ये कृतियां धर्म–दर्शन से संबंधित है जिनमें समाज से सम्बन्धित तथ्यों का तलाश करना एक कठिन चुनौती है। हड़प्पा सभ्यता के विस्तार काल और इसके चरमोत्कर्ष के संबंध में यह चर्चा होती रही है कि हड़प्पा संस्कृति में पुरोहितों का शासन रहा होगा। अभी तक हड़प्पा संस्कृति की लिपि, पढ़ी नहीं जा सकी है और हम लोग कैवल संभावना की तलाश करते हैं हड़प्पा संस्कृति के संदर्भ में जब पुरोहित शासन की बात करते हैं प्राचीन विदेह में दार्शनिक राजाओं की बात जनक के परिपेक्ष्य में करते हैं तो पूर्व मध्यकालीन मिथिला में भी उदयनाचार्य सरीखे विद्वान हुए। मेरा मानना है कि धर्मशास्त्रियों, नैयायिकों की धरती मिथिला में भी यह संभावना है कि अर्जुनाश्व के तिब्बती प्रभाव में जाने के उपरांत इस सम्पूर्ण क्षेत्र में विद्वान–धर्मशास्त्रियों का शासन रहा होगा। क्या पूर्व मध्यकालीन दरभंगा प्रक्षेत्र का शासन यहाँ के सामाजिक समरसता के बीच से उत्पन्न होता था? क्या यहाँ इस कालावधि में यूनानी दार्शनिकों की परिकल्पना 'दार्शनिक शासक' विद्यमान थे, जिनके द्वारा शासन का परिचालन होता था? आदि विचारणीय प्रश्न है, जिसके उत्तर की तलाश होनी चाहिए। जब तक समाज में शांति व्यवस्था नहीं होगी तब तक अध्ययन और अध्यापन का कार्य गंभीरतापूर्वक नहीं होगा। पूर्व मध्यकालीन मिथिला में कई गंभीरतापूर्वक अति महत्वपूर्ण कार्य हुए हैं जिन पर हमें गर्व है।

पूर्व मध्यकालीन समाज के इतिहास के स्रोत की तलाश उन नैयायिकों और मीमांसकों की रचनाओं में की जा सकती है, जिन्होने सातवीं सदी से लेकर तेरहवीं सदी ई0 के मध्य मिथिला को न्याय और मीमांसा के क्षेत्र में समस्त उत्तर भारत में अग्रणी बनाया । 7वीं सदी में कुमारिल भट्ट ने जिस प्रकार श्लोक वार्त्तिका के माध्यम से बौद्–मत पर प्रहार किया, उससे समाज में बौद्ध मत के घटते प्रभाव और कठोर ब्राह्मणवाद की पुनर्स्थापना का परिचय मिलता है । कुमारिल द्वारा प्रतिपादित भट्ट–मत काफी लोकप्रिय हुआ और श्लोक बार्त्तिका तथा तंत्र वार्त्तिका पर जो स्वयं भाष्य रचनाएँ थी, अनेक टीकाएँ लिखी गई । मीमांसा के क्षेत्र में प्रभाकर मिश्र ने गुरूमत का प्रतिपादन किया और इसके भी भाष्य और टीकाएं अन्य विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किए गये ।[1]

मुखर्जी के अनुसार धर्म और पुराण कथा, प्रथा और संहिता की तरह कला समाज प्रजाति या वर्ग के हाथों में एक प्रभावपूर्ण अभिराज मन्त्र है जो व्यक्ति के विश्वासों, मतों और इच्छाओं को मोड़ने की अपार क्षमता रखती है।[2]

आधुनिक युग में समाजशास्त्र कला का अध्ययन समाजशात्रीय विधि से करने में प्रयत्नशील है । उसका लक्ष्य केवल कृति का अध्ययन या व्याख्या ही नहीं अपितु उसके सामाजिक अस्मिता की व्याख्या है, रचना की सामाजिक अस्मिता उसके सामाजिक संदर्भ और सामाजिक अस्तित्व से निर्मित होती है । समाजशास्त्रीय अध्ययन द्वारा इस पूरी प्रक्रिया को समझने की कोशिश होती है जिसमें कोई साहित्यिक कृति या कलाकृति बनती है । इस प्रक्रिया में सामाजिक संरचनाओं तथा सांस्कृतिक संस्थाओं की भूमिका महत्वपूर्ण होती है।[3]

समाजशास्त्रीय अध्ययन के मूल में जो बातें होती है उनसे कला के निर्माण में समाज की क्या भूमिका होती है और रचना की जोड़ समाज में कहाँ तक समायी होती है । किसी रचना में युग की प्रभावशाली विचारधारा का रचना की अन्तर्वस्तु और रूप पर क्या प्रभाव पड़ता है और यह भी कि कोई रचना किस तरह और किस सीमा तक अपने समाज को प्रभावित करती है । सृजन एक सामाजिक कर्म है । सर्जक समाज में रहने वाला व्यक्ति होता है जो समाज में अभिन्न रूप से जुड़ा होता है । इसलिए रचना से समाज के संबंध को समझने के लिए समाज से रचनाकार के ठोस ऐतिहासिक संबंध की समझ आवश्यक है।

कला समाज के लिए आवश्यक है, यह व्यक्तियों की मानसिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने में सक्षम है । जैसी सामाजिक विकास की परिस्थिति होती है वैसी

ही समाज की विचारधारा बनती है और उसी के अनुरूप लोगों के मस्तिष्क में चित्र विकसित होते है । यही कला रूपों की प्रेरणा बनती है, इन्हीं कलाकृतियों के द्वारा ही समाज में आंदोलन और परिवर्तन होते हैं । सामाजिक विकास, सामाजिक आंदोलन एवं सामाजिक परिवर्तन इनसे प्रभावित होते हैं।[4]

मिथिला के इतिहास को गढ़ने के छिट–पुट प्रयास 19वीं सदी के 9 वें दशक से ही प्रारम्भ हो गये थे, जिनमें पूर्व मध्यकालीन मिथिला–समाज की भी थोड़ी बहुत जानकारी प्राप्त करने की कोशिश की गई है । कवीश्वर चन्दा झा ने सर्वप्रथम मिथिला के अतीत में झांकने की कोशिश की और उन्हें इतिहास के लिए उपयोगी जिन स्रोतों एवं साक्ष्यों की जानकारी मिलती थी, वे अपनी टिप्पणी के साथ लिख डालते थे । इस प्रकार उन्होंने मिथिला के इतिहास के स्रोतों की तलाश का महत्वपूर्ण कार्य किया, परन्तु दुर्भाग्यवश उनकी इतिहास सम्बन्धी पांडुलिपि प्रकाशित नहीं हो पायी है । मात्र विद्यापति की पुरूष परीक्षा का उनके द्वारा मैथिली भाषा में किया गया अनुवाद प्रकाशित है, जिसके परिशिष्ट में उनकी इतिहास विषयक कुछ टिप्पणियों को समाविष्ट किया गया है, जो मिथिला के इतिहास के स्रोतगत आधार को निरूपित करने के सहायता कर सकती है । 1949 ई0 में परमेश्वर झा की इतिहास विषयक पुस्तक 'मिथिला तत्व विमर्श' प्रकाशित हुई, जिसमें आद्येतिहासिक काल से ही मिथिला का इतिहास प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया । विशेष रूप से इसमें मिथिला में साहित्य एवं दर्शन के उत्कर्ष को रेखंकित किया गया है । मिथिला तत्व विमर्श ने परवर्त्ती इतिहासकारों को अनुप्राणित किया और श्याम नारायण सिंह की शोध परक पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ तिरहुत' और ताराचरण झा की प्राचीनओं अर्वाचीन सिद्धांत का स्रोतगत प्रमुख आधार यही पुस्तक है। रासबिहारी लाल दास द्वारा हिन्दी में रचित पुस्तक 'मिथिला–दर्पण' में कायस्थों और ब्राह्मणों के सामाजिक जीवन का ऐतिहासिक विवेचन किया गया है।[5]

उपेन्द्र ठाकुर की कृति 'बुद्धिज्म ऐंड जैनिज्म इन मिथिला' में ब्राह्मण धर्म एवं दर्शन तथा बौद्ध एवं जैन धर्म के प्रभाव के वृहत् अध्ययन के क्रम में पूर्व मध्यकाल में मिथिला समाज के साहित्यिक धार्मिक, दार्शनिक एवं कलात्मक आधारों की खोज भी की गई है । आर0 के0 चौधरी ने अपनी विशाल कृति 'मिथिला इन द एज ऑफ विद्यापति' में मिथिला में 14 वी – 16वीं सदी के मध्य हुए बौद्धिक पुनर्जागरण का विस्तार से वर्णन किया है, जिसके सामाजिक आधार के निरूपण में उन्होंने पूर्व मध्यकालीन मिथिला–समाज की रूपरेखा भी

प्रस्तुत की है, जिसकी पुनरावृति उनकी दूसरी पुस्तक मुस्लिम रूल इन तिरहुत में भी दिखई पड़ती है। आर0 के0 चौधरी ने 'हिस्ट्री ऑफ बिहार', में भी मिथिला के सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी दी है। राधाकृष्ण चौधरी और उपेन्द्र ठाकुर इन दो मनीषियों ने पूर्व मध्यकालीन मिथिला के समाज के ऐतिहासिक अध्ययन को एक निश्चित आधार और दिशा प्रदान की।

पूर्व मध्यकालीन मिथिला के सामाजिक इतिहास के अन्य अध्ययनों में मो0 अकीक की 'इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ मिथिला' और सी0 पी0 एन0 सिन्हा की 'मिथिला अंडर द कर्णाटस' खास तौर पर उल्लेखनीय है, जिसमें इस अवधि के सामाजिक जीवन का गवेषणात्मक विश्लेषण किया गया है । प्रसंगवश जयकान्त मिश्र की 'हिस्ट्री ऑफ मैथिली लिटरेचर', दुर्गानाथ झा श्रीश की 'मैथिली साहित्यक इतिहास', जटाशंकर झा की 'हिस्ट्री ऑफ दरभंगा राज' एवं 'बिगिनिंग ऑफ मॉर्डन एजुकेशन इन मिथिला', रमानाथ झा की 'पंजी प्रबन्ध इन मिथिला' आदि पुस्तकों में भी पूर्व मध्यकालीन मिथिला—समाज पर न्यूनाधिक प्रकाश डाला गया है।[6]

पूर्वमध्यकालीन समाज की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इस समय जातियों और प्रजातियों की संख्या में अत्यधिक बृद्धि हो गयी । परम्परागत चार वर्ण भी अनेक जातियों में विखर गये तथा कई नई जातियों को उनके अन्तर्गत समाहित कर लिया गया।

परम्परागत वर्णों के विघटित होने का सर्वाधिक प्रभाव ब्राह्मणों पर पड़ा। प्रारंभ से ही ब्राह्मण गोत्र प्रवर तथा शाखा के आधार पर विभाजित थे । भूमि अनुदानों की अधिकता के कारण ब्राह्मणों में दृढ़ स्थानीयता की भावना विकसित हो गई जिसके परिणामस्वरूप पूर्व मध्यकाल में उनकी अनेक उपजातियां बन गई। स्थान भेद होने के कारण उन्हें विभिन्न नामों से जाना गया । राष्ट्रकूट शासक इंद्र तृतीय के एक अभिलेख में उत्तर भारत के ब्राह्मणों के पाँच वर्गों का उल्लेख मिलता है । (1) सारस्वत (2) कान्यकुब्ज (3) उत्कल (4) मैथिल तथा (5) गौड़।

अलबरूनी ने मग्ग अथवा शाक्य द्वीपी ब्राह्मणों का उल्लेख किया है जो ईरान से भारत आए थे और सूर्य की पूजा करते थे । इसी प्रकार धार्मिक एवं दार्शनिक धारा में विभेद के कारण ब्राह्मण कई उपशाखा में विभाजित हो गया।

12वीं सदी के अंत तक हम क्षत्रिय कुलीनों तथा सामंतों को भी विभिन्न श्रेणियों में संगठित पाते हैं । राजपुत्र, सामंत, महासामंत, माण्डलिक, महामांडलिक आदि।

इस काल में स्थान एवं पेशे के आधार पर वैश्यों में भी कई शाखा बन गई। कुछ वैश्यों की शाखाएं इनके द्वारा अपनाए गए पेशे के आधार पर भी गठित हुई। वैश्यों में भी कुलीन तथा निर्धन वर्ग था । निर्धन वर्ग के लोग शूद्रों के साथ संयुक्त हो गए।

पूर्व मध्यकाल में भारत में जातियों में सर्वाधिक संख्या शूद्रों की थी । परंपरागत पेशों के अतिरिक्त इस समय विविध शिल्पों के आधार पर भी बहुत सी शाखा संगठित हो गई थी, जिसकी गणना इसी वर्ग के अंतर्गत की जाती है । स्कन्द पुराण में शूद्रों की 18 उपजातियों का उल्लेख मिलता है :– शिल्पी, बढ़ई, कुम्हार, वार्धिक, चित्रक्र, शूत्रक, धोबी, गच्छक, जुलाहा, तेली, चमार, शिकारी, बाजा बजाने वाला, कौल्हिक, महुमा, औनामिक और चण्डाल । चूकि पूर्व मध्यकाल में बहुत बड़े पैमाने पर ब्राह्मणीकरण हुआ, इसलिए अछुतों की संख्या में बहुत भारी वृद्धि हुई।[7]

इस तरह इस काल में हिन्दू समाज का काफी बड़ा भाग अस्पृश्य समझा जाने लगा । इस काल के स्मृतिकारों ने ब्राह्मणेतर धर्मो बौद्ध, जैन, बाममार्गी, शाक्त आदि के अनुयायियों को भी अस्पृश्य घोषित कर दिया।

पूर्व मध्यकाल में शिल्प को जाति का आधार मान लिया गया । इस काल के प्रथम चरण में व्यापार वाणिज्य के पतन के कारण विभिन्न शिल्पी एक ही स्थान से बंध गये तथा उनका अलग–अलग वर्ग बन गया । संकीर्णता के कारण उनका स्वरूप जाति जैसा हो गया । समाज में जातियों की संख्या में जो अप्रत्याशित वृद्धि हुई उसका एक कारण इस समय के बौद्ध, जैन, शैव, वैष्णव आदि धर्मों का अनेक संप्रदायों में विभाजित होंना भी था।

सम्प्रदायों में विभाजन और संस्कार के कारण जातियों की संख्या में वृद्धि दिखलाई पड़ती है। प्रतिमाओं का निर्माण होता था और इन प्रतिमाओं को संस्कारित कर पूजा के योग्य किया जाता था।

प्रतिमाओं के निर्माण के पश्चात् जब तक उसे संस्कारित और विधि सम्मत पूजनोत्सव के उपरान्त प्रतिष्ठापित नहीं किया जाता, वे पूजन के योग्य नहीं माने जाते । मूर्ति प्रतिष्ठा हेतु प्रारंभिक और बाद के ग्रंथों में विभिन्न प्रकार के विधानों

का उल्लेख हुआ है । वृहतसंहिता के प्रतिमा प्रतिस्थापनम् अध्याय में तत्संबंधी उल्लेख विस्तारपूर्वक किया गया है ।[9] इसमें प्रतिमा निर्माण के विभिन्न सामग्रियों का उल्लेख करते हुए उनके विभिन्न फलन की चर्चा भी हुई ।

आयुश्री बलाजयद दारूययी मृणमयी तथा प्रतिमा ।
लोकहित्य मणिमयी सौर्वणीपुस्तिदा भवति ।।
रजतमयी कृतिकारी प्रजा विर्वधिम् करोति तमरामयी ।
भूलांभव तू महतं सैती प्रतिमायव लिंगम् ।।
शंकुपहतः प्रतिमा प्रधानपुरूषं कुलं च घट्यति ।
सभैपहतः रोगाति पदवंश च शयन कुरूते ।।

अर्थात् काष्ठ या मृदा से निर्मित प्रतिमाएं पूजारी के लम्बे जीवन, सौभाग्य शक्ति और विजयी बनाता हैं । स्वर्ण से निर्मित प्रतिमाएं सम्पति लाती है । चांदी से बने हुई प्रतिमाएं प्रसिद्धि और तांबे से निर्मित प्रतिमाएं जनसंख्या में अभिवृद्धि करती है । पाषाण से निर्मित प्रतिमाएं भू संपदा का विस्तार करती है ।

इस तरह प्रतिमाओं के प्रतिस्थापन में कई संस्कार सम्पन्न किये जाते थे। इसमें ब्राह्मणों को बेहतर दक्षिणा देने की बात भी की गई है । प्रतिस्थापन पूर्ण होने पर और प्रतिमा के पूजन की समाप्ति के बाद ब्राह्मण और उपस्थित जन समुदाय को सम्मान देते हुए सोने का एक सिक्का मूर्ति की स्थापना स्थल की पिंडिका में डाल दी जाती थी । प्रतिमा प्रतिस्थापन स्थल पर प्रतिमा के निर्माता शिल्पी की उपस्थिति भी रहती थी । इस तरह अलग–अलग संप्रदायों के अलग–अलग स्थापन विधियों का उल्लेख मिलता है । इस प्रतिस्थापन में समाज के महत्वपूर्ण लोगों की उपस्थिति का संकेत भी मिलता हैं ।[10]

संस्कृत में कलाकारों के लिए रूपकार शब्द का उल्लेख मिलता है । अर्थात् मूर्तिकार या रूप को बनाने वाला । पूर्व मध्यकाल में न सिर्फ मिथिला वरन् उत्तरी भारत, पूर्वी भारत एवं इसके निकटस्थ अनेक राजवंशों की राजनीतिक स्थितियाँ कमोवेश एक जैसी रही । उत्थान एवं पतन, स्थायी साम्राज्य का अभाव, आपसी संघर्ष और मुसलमानों के आक्रमण से आक्रान्त तत्कालिक समाज अनेक झंझावातों से जुझता रहा । पाल, प्रतिहार, राष्ट्रकूट, गहड़वाल, कर्णाट, सेन आदि साम्राज्यों ने अपने–अपने क्षेत्र में शक्ति संतुलन हेतु संघर्षरत रहे । इन परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में भी मिथिला के सामाजिक सांस्कृतिक संरचना ने अपने आपको संतुलित बनाए रखने का प्रयत्न जारी रखा । प्रतिमाओं के निर्माण

की दृष्टि से यह काल किसी भी पूर्ववर्ती साम्राज्यों से टक्कर देने की स्थिति में था । ऐसी स्थिति में तत्कालीन पूर्वमध्यकालीन मिथिला की कला ने तत्कालीन समाज पर एक अमिट छाप छोड़ी। वैष्णव, बौद्ध, शैव एवं शाक्त संप्रदाय के लोगों ने अपने–अपने धार्मिक आस्थाओं को संयोजे रखा । मंदिरों एवं मूर्तियों का निर्माण निरंतर जारी रहा । यद्यपि दरभंगा प्रक्षेत्र में इस काल के मंदिरों का अस्तित्व दृष्टिगोचर नहीं होता लेकिन प्रतिमाओं की बहुलता यह प्रमाणित करती है कि इस क्षेत्र में विभिन्न संप्रदायों के मंदिर निश्चित रूपेण निर्मित रहे होगें।

पाल, सेन और कर्णाट के समकालीन दक्षिण भारतीय चालूक्य राजवंश में अनेक अभिलेख एवं प्रतिमाओं पर उत्कीर्ण लेख से तत्कालीन शिल्पी समुदाय की सामाजिक स्थितियों को भली भांति समझा जा सकता है । दुर्भायवश मिथिला क्षेत्र अभिलेख प्राप्ति की दृष्टि से या यूं कहें पुरातात्विक अन्वेषण की दृष्टि से अत्यन्त पिछड़ा रहा है।

अद्यतन आकस्मिक रूप से प्राप्त लगभग दर्जन अभिलेख प्राप्त हो सके है, जिसमें कमलादित्य स्थान (अंधराठाड़ी) अभिलेख, भीठभगवानपुर के विष्णु प्रतिमा अभिलेख, कोर्थु, लदहो, हावी डीह, डोकहर आदि अभिलेख महत्वपूर्ण हैं। बेनवारा (दरभंगा) से प्राप्त वराह प्रतिमा में भी अभिलख उत्कीण हैं। मधुबनी जिला के भीठभगवानपुर में प्राप्त विष्णु अभिलेख में 'ऊँ श्री मल्लदेवस्य' लिखा हैं।

प्राप्त मूर्तियों के आधार पर विवेच्यकाल में दरभंगा क्षेत्र के सामाजिक स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। इन मूर्तियों के चेहरे की बनावट में सौम्यता परिलक्षित होती है। विष्णु की मूर्ति हो या देवी की प्रतिमा। शांत एवं सौम्यता के रूप का दर्शन होता है। चामुण्डा की मूर्ति कम मिली है। उमा महेश्वर के रौद्र रूप की जानकारी नहीं होती है। शिव आलिंगन मुद्रा में पार्वती के साथ बैठे हुए है, जो सौम्य रूप को दर्शाता हैं। ऐसी स्थिति में दरभंगा प्रक्षेत्र की पाषाण प्रतिमाओं के आधार पर यह विश्लेषण किया जा सकता है कि दरभंगा प्रक्षेत्र शांति प्रिय तथा समरसतापूर्ण सामाजिक माहौल में था।

पूर्वमध्यकाल में मिथिला के लोगों के भोजन, पेय और वस्त्रावरण संबंधी रूचियों की जानकारी अत्यल्प है, फिर भी साहित्यिक एवं मूर्तियों के आधार पर एतत् संबंधी विशद विवरण तैयार किया जा सकता है। मिथिला के चण्डेश्वर और अन्यान्य निबंधकारों ने पूर्व से प्रचलित रीतियों का जो विश्लेषण किया है उसके आधार पर कतिपय बातें कही जा सकती है। पूर्वोतर भारत अथवा सामान्य रूप से उत्तर भारत के सामाजिक जीवन के उपर लिखी गई पुस्तकों के आधार पर

इस संबंध में काफी कुछ अधिकारिक रूप से किया जा सकता है। कतिपय प्रतिमाओं के आधार पर कहीं पूर्णतः तो कहीं आंशिक रूप से वस्त्रावरण संबंधी तथ्यों की पुष्टि की जा सकती है।

लोगों के जीवन का मुख्य आधार खेती था । ज्ञात सूचनाओं के आधार पर लिखित रूप से कहा जा सकता है कि क्षेत्र विशेष की भोजन संबंधी आदते न केवल भोज्य सामग्री की उपलब्धता पर निर्भर थी बल्कि ऋतुओं के साथ परिवर्तनीय भी थी । मिथिलांचल में प्रचलित अनेक पर्व, त्यौहार एवं पूजनोत्सव के अवसर पर विभिन्न देव देवियों की अराधना हेतु विभिन्न ऋतुओं में होने वाले फल एवं अन्न का अर्पण एवं उपयोग से भी वह प्रमाणित होता है। कतिपय शास्त्रों में भोजन संबंधी विभिन्न नियमों का विधान किया गया है। कुछ भोजन सामग्रियां सबके लिए और कुछ लोगों के लिए निषिद्ध थे। तैतरीय ब्राह्मण[10] और शतपथ ब्राह्मण[11] के अनुसार भोजन दो बार ही किया जाना चाहिए। छान्दोग्य उपनिषद में आपत्ति काल में कुछ भी भोजन करने की स्वीकृति प्रदन की गई है ।[12] मनु[13] एवं अत्रि[14] ने भोजन से पूर्व हाथ मूंह धो लेने को अनिवार्य बताया है । अनुशासन पर्व में भोजन के पूर्व हाथ मुंह धो लेना चाहिए और आचमन करना चाहिए ।[15] आज भी मिथिला के गाँवों में लोग भोजन के पूर्व हाथ मुंह और पैर धोकर आचमन करते हैं ।[16]

आलोच्य काल में सामान्य सामाजिक जीवन में अन्न का बड़ा अधिक महत्व था । अन्न से अनेक प्रकार के खाद्य की वस्तुएं बनती थी । भक्त (भात), सूर्य (दाल), शसकुली (पुरी), समिध (गेहुं के आटे की बनी लप्सी), यवागु, मोदक (लड्डु) आदि अनेक व्यंजनों की चर्चाएं मिलती हैं । गणेश की प्रतिमा में लड्डु प्रदर्शित है, जो प्रचलित भोजय पदार्थ को सम्पुष्ट करता हैं ।

दूध सदैव शाकाहारी भोजन में प्रधान रहा है । दही, घी, मक्खन, छेना आदि विभिन्न रूपों में प्रयुक्त होते थे । दूध से बनने वाले भोज्य सामग्रियों का विशद विवरण कल्हन की राजतरंगिनी और क्षेमेन्द्र के देशोपदेश में दिया गया है।[17] गंगा के उत्तर आज भी दही चूड़ा भोजन का एक महत्वपूर्ण अंग है । देव देवी प्रतिमा पूजन में दूध, दही एवं घी का प्रयोग पवित्रता के साथ होता रहा है। वर्णरत्नाकर में दूध से बनी कम से कम आठ सामग्रियों का विवरण मिलता है ।[18]

याज्ञवल्यक नें अन्न को एक महत्वपूर्ण देवता माना है।[19] कतिपय समकालीन ग्रन्थों में चावल बनाने की विधि का विशद विश्लेषण किया गया है।[20] पंचकथा में

कई प्रकार की मिठाइयों का वर्णन आया है, जिसमें गुड़ और शक्कर आदि भी हैं ।[21] विलासकक्ता कथा में चौदह प्रकार की मिठाइयों का वर्णन आया है। रसगुल्ला लोकप्रिय मिठाई थी।[22] शाकाहार के लिए लगभग सभी महत्वपूर्ण सब्जियां प्रयोग में आती रहीं। आलू, गोभी, बैंगन, रामतरोई, झिंगनी, कद्दू, परवल, कोहड़ा, सेम आदि कई सब्जियां लोग प्रयोग में लाते थे। मिथिला में साग का बहुत महत्व प्रारंभ से ही था और अब भी है । तिलकोरा के पत्तों का पकौड़ा मिथिला में शाकाहारी भोजन में प्रमुख माना गया है । अतिथियों को इसके पकौड़े का भोजन कराना प्राचीन काल से ही लोकप्रिय रहा है। यह धनी और गरीब सभी परिवारों में विशेष खाद्य सामग्री माना जाता रहा है। मिथिला में बेसन से एक प्रकार का शाकाहारी भोजन तैयार किया जाता हैं। जिसे बड़ी कहा जाता है । मिथिला मे ही लोग जाड़े की ऋतु में मुड़ही, चुंड़लाई, तिलवा, फुटहा, घुघनी आदि का खूब प्रयोग करते थे । यहाँ प्रत्येक मौसम में प्रायः प्रत्येक घर में चूड़ा उपलब्ध रहता था। यहाँ पानी में मखाना पैदा किया जाता था, जिसे फल की श्रेणी में ही रखा गया था । यह दक्षिण विहार में उपलब्ध नहीं होता था।[23] उत्तर बिहार में नदी की प्रमुखता के कारण सब्जी में परवल की पैदावार नदी के किनारे प्रचुरता में होती थी ।

पांचवी शताब्दी के प्रारंभ में जब फाहियान ने भारत की यात्रा की तो उसने उल्लेख किया है कि कोई भी संभ्रान्त व्यक्ति मांसाहार नहीं करता था । उसका उपभोग केवल निम्नवर्गीय जनों तक ही समिति था । शाकाहार का प्रचार वास्तव में अहिंसा के सिद्धान्त से सम्बद्ध था, जो फाहियान के समय के पूर्व से ही प्रचलित था । यह सिद्धान्त उपनिषद काल में विद्यमान था, किन्तु बौद्ध एवं जैन धर्म के द्वारा इसका प्रसार हुआ जो वैदिक युग के बलिदानों के लोप के लिए उत्तरदायी है। जिनमें अधिक संख्या में पशुओं की हत्या होती और उनका मांस खाया जाता था। मेधातिथि[24] ने कई ऐसे अवसरों का वर्णन किया है जब मांसाहार बैध था। कई पुराण जैसे मत्स्य[25], वायु[26], वराह[27] और कुर्म[28] में मांसाहार के विषय में आपत्ति नहीं की गई है और इन पुराणों में कहा गया है कि ब्राह्मण श्राद्धों में भी मांस खा सकते है लेकिन जैसा कि अलमसूदी[29] ने कहा कि ब्राह्मण सामान्तया मांसाहार से परहेज करते थे लेकिन अलवरूणी[30] के अनुसार ब्राह्मणों को मांसाहार का विशेषाधिकार था । पूर्वमध्यकाल में बिहार में और अधिकतर उत्तर बिहार में वैश्य भी मांसाहारी थे । बहिष्कृत जातियाँ और चाण्डाल मांसाहारी थे ही । बौद्ध और जैन अनुयायियों के लिए मांस एवं मछली का भोजन वर्जित

था । मिथिला के ब्राह्मणों के अतिरिक्त बिहार के अन्य भागों में ब्राह्मण सामान्तया मांसाहारी नहीं थे, किन्तु मिथिला में मांस और मछली भोजन इतना सामान्य था कि संत भवदेव ने धर्मशास्त्रकारों याज्ञवल्क्य, मनु, व्यास आदि के मांसाहार के निषेध को चतुर्दशी आदि तिथि को निषेध करार दिया है और अन्य तिथि को मांसाहार का औचित्य ठहराया है जो अब भी मिथिला में मान्य है ।[31] मछलियों के भोजन के संबंध में वृहद धर्म पुराण में रोहित, शुक्ला, सफारा तथा अन्य मछलियाँ जो उजली और छिलकायुक्त हो खाने की अनुमति दी है, किन्तु अधिकतर स्मृतिकारों ने मांसाहार को वर्जित माना है । भागवत पुराण के अनुसार बलि प्रदान करने के लिए पशुओं की बलि आवश्यक नहीं थी ।[32] यही कारण है कि इन स्मृतिकारों द्वारा विरोध किए जाने के कारण देवी देवताओं से प्रसाद के रूप में बलि प्रदान की जगह फल और मिठाई लेना प्रारंभ किया । मिथिलांचल में मछली अत्यंत प्रिय भोजन के रूप में मान्य रही है। कई पाषाण प्रतिमाओं से इसकी पुष्टि होती है । कई स्थलों पर तंत्र की देवी बराह के हाथ में मछली को प्रदर्शित करते हुए प्रतिमाओं का निर्माण किया गया है । चामुण्डा की एक प्रतिमा में भी उसके बाये हाथ में मछली की थाली पाई गई है । गृहस्थ रत्नाकर में चारो वर्णों के लोगों के लिए भोजन का विवरण मिलता है । जो क्रमानुसार अमृत, दूध, भोज्य एवं रक्त है ।[33] इस तरह तत्कालीन समाज में अलग–अलग वर्णों के लिए भोजनादि एवं पेय पदार्थ कुछ समानता के साथ भिन्नता लिए हुए थी। कर्णाट वंश का राजकीय चिह्न क्या था सही जानकारी उपलब्ध नहीं है किन्तु खण्डवला राजकुल में मछली का उपयोग राजचिह्न के रूप में किया जाता रहा जो इसके विभिन्न भवनों पर आज भी देखा जा सकता है।

पूर्वमध्यकाल में मिथिला में जो वस्त्र पहने जाते थे, वे आधुनिक परिधान से भिन्न नहीं थे । साहित्यिक स्रोत से ज्ञात होता है कि पूर्वमध्यकाल में मिथिला में स्त्री–पुरूष दोनों एक ही अधोवस्त्र प्रायः प्रयोग करते थे तथा कभी–कभी उत्तरीय (ओढ़ना) का व्यवहार किया करते थे। पुरूष धोती पहनते थे जो सामान्यतया छोटी और तंग होती थी । यह मुश्किल से घुटने के नीचे तक आती थी और कई स्थिति में यह उसमें भी छोटी पड़ती थी। ह्वेनसांग ने सातवीं शताब्दी ई0 में उत्तर भारतीयों के वस्त्र पहने जाने के संबंध में लिखा है कि जहाँ ठंडी हवा बहती थीं वहाँ पुरूष वस्त्र को शरीर के बीच में लपेटते हुए काँख से लपेट कर बाँह को पार करते हुए दाहिने भाग में उसे लटकाकर देते थे । स्त्रियाँ अपने शरीर को

जमीन तक ढ़कती थी तथा उनका कंधा भी ढ़ंका हुआ होता था। मनुष्य अपने शरीर पर टोपी रखते थे । फूलों का हार एवं सोने का हार पहनते थे ।[34] मिथिला में स्त्रियां साड़ी पहनती थीं जो धोती से बहुत लम्बी होती थी तथा स्त्रियों के पैर तक ढ़की जाती थी । मिथिला में सर्वसाधारण में सूती बस्त्र पहनने का रिवाज था। लोग सुन्दर वस्त्र, गन्ध, माल्य और अलंकार धारण करते थे।[35]

मानसोल्लास में वृहद राजकीय वस्त्रों का उल्लेख आया है । राजा प्रत्येक उत्सव पर नये वस्त्र पहनते थे।[36] ये वस्त्र विभिन्न रंगों और विभिन्न सूती, रेशमी और ऊनी कपड़ो से तैयार होते थे।[37] ये वस्त्र सामान्यतया विन्दुओं और नक्काशियों से तैयार किये होते थे।[38] राजा स्वयं अपने को सुन्दर मुकुट से सजाते थे जिसमें हीरा या अन्य कीमती पत्थर जड़े होते थे।[39] सामन्त, दरवारी और कुलीन वर्ग के लोग सुन्दर कीमती वस्त्रों से अपने आपको सजाते थे।[40] जंगलों में शिकार पर छोटा निकर पहनते थे, जबकि उनके सेवक धोती पहनते थे।[41] वहीं दूसरी ओर संगीतकार धोती और निकर दोनों पहनते थे।[42] राजा के द्वारा पहने जाने वाले सुन्दर मुकुट लेकर पुरूष द्वारा पहने जाने वाले धोती एवं स्त्रियों के द्वारा प्रयोग किए जाने वाले उतरीय वस्त्रों के उपयोग को दरभंगा प्रक्षेत्र से प्राप्त प्रतिमाओं के वस्त्राभूषणों में आसानी से देखा जा सकता है । प्रतिमाओं में दर्शाए गए अन्य देवी देवताओं के वस्त्र तथा मुख्य प्रतिमा के मुकुट के विभिन्न प्रकार की प्रतिमा के आधार पर भी समझा जा सकता है ।

राजशेखर के अनुसार महिलाओं के तीन प्रकार के प्रमुख पोशाक और वस्त्र होते थे, जो निम्न प्रकार के थे –

1) उत्तरीय
2) कंचुक
3) चान्दटाका

उत्तरीय आधुनिक दुपट्टे की तरह एक कपड़े का टुकड़ा था जो शरीर के उपरी भाग को ढ़कता था ।[43] कंचुक सीने को ढ़कने में व्यवहृत होता था ।[44] यह नाभि तक पहुंचता था, जिसे चोली भी कहा जाता था ।[45] स्त्रियां कभी–कभी कंचुकी का प्रयोग गद्दी के साथ भी करती थी ।[46] चान्दटाका आधुनिक पेटीकोट की तरह होता था।[47] यह अधोवस्त्र में व्यवहार होता था, जो कंचुक के नीचे होता था, उत्तरीय भी इस वस्त्र को पूरा कर देता था, क्योंकि इस तरह का वस्त्र शरीर के चारों ओर कंधों से नीचे लपेटा जाता था । इसका कुछ भाग सिर पर रखा जाता था।[48]

पैर की सुरक्षा और शोभा के लिए जूता पहनने का प्रचलन वैदिक काल से लेकर सदा ही रहा है।[49] पूर्व मध्यकाल में मिथिला के लोग भी जूता पहनते थे। प्रायः पुरूष चमड़े के जूते का प्रयोग करते थे । देशोपदेश में वर्णन आया है कि धनी महिलाएं मयूर के पंख का सुन्दर जूता पहनती थी ।[50] दरभंगा प्रक्षेत्र से प्राप्त सूर्य प्रतिमाओं के ईरानी प्रभाव के अनुरूप सूर्य को जूता पहनाया गया है । कहीं जूता स्पष्ट दिखता है तो कहीं सूर्य के रथ के सारथी के कारण जूता स्पष्ट नहीं हो सका हैं।

पूर्व मध्यकालीन प्रतिमाओं में केश विन्यास का चित्रण मिलता है। यह बात स्पष्ट है कि महिलाएं जो प्रारंभ के शताब्दियों में साधारण और प्राकृतिक सौंदर्य पसन्द करती थी, वे बाद के वर्षों में आभूषण एवं सजावट अत्यधिक पसंद करने लगी। मिथिला, वैशाली एवं मगध की स्त्रियों के केश विन्यास लगभग भारत के अन्य भागों के समान ही थे । इस सम्पूर्ण प्रक्षेत्र से प्राप्त देवी प्रतिमाओं के उपर लगे अलंकरणों, केश विन्यास आदि से तत्कालीन सामाज में नारी के सौंदर्य चित्रण को समझा जा सकता हैं ।

पुरूष और महिलाएँ प्रायः एक ही प्रकार के आभूषण का प्रयोग करते थे। सिर पर प्रयोग होने वाले आभूषण सिर्फ महिलाएं प्रयोग करती थीं । सोना, चांदी और कीमती पत्थर ही आभूषण–निर्माण के मुख्य पदार्थ थे । चित्रकला, मूर्तिकला और नृत्य कला से हमें आभूषण की संख्या और प्रकार के संबंध में प्रर्याप्त प्रकाश मिलता है । लगभग आर्ध दर्जन से अधिक प्रकार के आभूषण सिर और माथे में प्रयोग किये जाते थे जिसमें शिखपाशा, शिखाजाल, मुक्ताजाल आदि प्रमुख हैं।[51]

महिलाओं द्वारा विभिन्न प्रकार के कान के आभूषण के प्रयोग किए जाने का वर्णन मिलता है । चौरपंचशिखा में विल्हण ने कनकपत्र और स्वर्णपत्र नाम के आभूषण कान के लिए प्रयोग किये जाने का वर्णन किया है।[52] कान के लिए वृत्ताकार बाली पुरूषों में लोकप्रिय थी।[53] तदांक[54], दांतपत्र[55], कामथ–पादि[56], कुण्डल[57] आदि कान के आभूषण बहुत ही लोक प्रिय थे।

साहित्यिक सूत्रों में महिलाओं के आभूषण में हार के संबंध में पर्याप्त वर्णन पाया गया है । जल कण्ठी[58], सन जाल[59], चनचलहार तथा इकबाली[60] आदि कई प्रकार के हार की जानकारी है । राजशेखर[61] और श्री हर्ष[62] दोनों ने इकबाली हार को वापस किया था । कंठी जिसमें पांच या सात रस्सी होती थी, भी प्रयोग होता था। सात रस्सी वाला कंठा कभी–कभी सात रस्सी वाली वीणा की तरह होता था।[63] महिलाएं भी कंठा पहनती थी। सभी हिन्दुओं के देवताओं के चित्रों में

उनके गले में कंठा दर्शाया गया है । उन चित्रों के कंठों में कई धागे दिखाये गये हैं जो बीच–बीच में सोने के साथ मढ़े गये हैं । सिर्फ भगवान शंकर के गले में कन्ठा के बदले साँप दिखाया गया है।

विभिन्न प्रकार के वाजूवन्द का भी प्रयोग पुरूष एवं महिलाएं समान रूप से करती थीं । उपरी बांहों में प्रयोग होने वाले आभूषणों के नाम में बलिया[64] एव केयूर[65] शब्द का प्रयोग साहित्यिक स्रोत में हुआ है । मिथिला में बाजूवन्द का खूब प्रयोग होता था । कई प्रकार के बाजूबन्द लोग पहनते थे । पूर्व मध्यकाल में और कई आभूषण थे जिनका प्रयोग यहाँ के लोग करते थे और उनका वर्णन मानसोल्लास में हुआ हैं :–

1) वाहु सनधि–यह आभूषण काँख में पहना जाता था ।[66]
2) कतका–यह आभूषण प्रवाहु में पहना जाता था । यह हीरे और अन्य बहुमूल्य पत्थरों के समूह द्वारा सजा होता था ।[67]
3) मंग–यह वृत्ताकार आभूषण उपरी बाँह में पहना जाता था । यह सोने के छड़ से बनाया जाता था तथा इसके सिरे में सिंह के चेहरे बने होते थे । यह भी कीमती पत्थरों के समूह यथा नीला मानिक और मुक्ता से सजा होता था।[68]

पैरों में नूपुर, पैजनी तथा अन्य कई प्रकार के आभूषण महिलाओं द्वारा प्रयोग किये जाते थे। महिलाएं पैर की अंगुलियों में भी आभूषण पहनती थी । सोमेश्वर ने कई प्रकार के आभूषण का वर्णन किया है जो वाहों और अंगुलियों में पहने जाते थे।[69] मिथिला में चांदी का एक आभूषण होता था जो पैर में महिलाएं पहनती थीं और उसे साट कहा जाता था।[70]

इस प्रकार समाज के प्रत्येक वर्ग के स्त्री–पुरूषों तथा भिन्न–भिन्न अवसरों पर उनके द्वारा प्रयुक्त भोजन, पेय तथा बस्त्राभरणों का विशद वर्णन विभिन्न साहित्यिक तथा गैर साहित्यिक स्रोतों से उपलब्ध होता है । इससे कई बातें स्पष्ट होती है। सर्बोपरि जो बात सामने आती है वह यह कि भोजनादि के मामले में स्वास्थय, ऋतु, रूचि तथा वस्तु विशेष की उपलब्धि को ध्यान में रखकर खाद्याखाद्य का निर्णय किया गया था। शाकाहार और मांसाहार दोनों का प्रचलन था और अन्न का सम्मान ईश्वरवत् था। ऐसी मान्यता के पीछे सतोगुण को प्रधान बनाए रखना अभीष्ट था। भोज्य पदार्थों का निर्णय करने में तथा पाक कला की विवेचना करने में तत्कालीन साहित्यों में जिस विश्वकोशीय ज्ञान का

प्रदर्शन हुआ है वह विलक्षण हैं । इन सबसे यह भी स्पष्ट होता है कि वर्षों के अनुभव तथा गहन शोध के बाद ही खाद्याखाद्य तथा भोजन–विन्यास सम्बन्धी निर्णयों को सामाजिक मान्यता मिलती थी। समाज में धनी और गरीब वर्ग थे, उनके भोजनों में भी भिन्नता थी, परन्तु सभी वर्गों के भोजन में विशिष्टताएं होती थी ।[71]

राजा, राजपरिवार के सदस्यों तथा राजकाल में लगे लोगों के वस्त्राभरण तो भव्य होते ही थे, किन्तु प्रायः सभी वर्ग के लोग अपने–आपको सजाने संवारने में रूचि लेते थे और इसे अपना कर्त्तव्य मानते थे । 700 ई0–1200 ई0 के बीच सामान्यतः हिन्दू संस्कारों से ही भोजन, पेय तथा वस्त्राभरण निर्धारित होते थे, किन्तु बौद्ध तथा जैन प्रभाव भी स्पष्टतः परिलक्षित थे । शास्त्रीय आधार पर निर्मित पाषाण प्रतिमाएं भी इन तथ्यों को संपुष्ट करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करती है। परन्तु अधिक महत्व की बात यह है कि भारत में इस्लाम का प्रवेश हो चुकने से भी यत्र–तत्र उसका प्रभाव दिखाई पड़ने लगा था ।[72]

पुरातत्व की असीम संभावनाओं से समृद्ध मिथिला में यदि अब तक पुरातत्व सम्बन्धी कोई भी उल्लेखनीय कार्य नहीं हो पाया तो पुरातात्विक साक्ष्यों के अभाव में साहित्य, कला, दर्शन, समाजशास्त्र आदि ही हमारी मदद कर सकते हैं, जिनकी सहायता से निस्संदेह पूर्व मध्यकालीन मिथिला के समग्र समाज का ऐतिहासिक अध्ययन किया जा सकता है ।[73]

पुरातत्व के महत्त्वपूर्ण अंग पाषाण प्रतिमाएँ निश्चित रूप से दरभंगा प्रक्षेत्र की सामाजिक संरचना एवं क्षेत्रीय इतिहास के स्वरूप निर्धारण में दिशा निर्देशक की भूमिका निभाती हैं। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि दरभंगा प्रक्षेत्र में सामाजिक पहलू पर और अधिक कार्य किए जाने की संभावना बनी हुई है।

पाद टिप्पणी

1) अमिताभ कुमार झा का आलेख, रीजन इन हिस्ट्री, पटना पृ0 – 167
2) राधा कुमुद मुखर्जी, द सोशल फंगशन ऑफ आर्ट – 1951, पृ0–ग
3) जुगनू पाण्डेय, सामाजिक परिवर्तन में कला एवं साहित्य वाराणसी, पृ0–54
4) उपरोक्त, पृ0–56–69
5) रत्नेश्वर मिश्र (सं0), रीजन इन हिस्ट्री, पटना पृ0–207
6) पूर्वमध्यकालीन मिथिला का समाजः ऐतिहासिक स्रोतों का अध्ययन रत्नेश्वर मिश्र (सं0), रीजन इन हिस्ट्री, पटना पृ0–213

7) राम शरण शर्मा, पूर्व मध्यकाल में सामाजिक परिवर्त्तन, पृ0–23
8) के0 सी0 श्रीवास्तव, प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति इलाहाबाद पृ0–570–579
9) वृहत संहिता, सुधाकर द्विवेदी (सं0), अध्याय–59
10) तैतरीय ब्राह्मण–1/4/9
11) शतपथ ब्राह्मण – 2/4/2/6
12) छान्दोग्य उपनिषद – 7/2/6/2
13) मनुस्मृति–4/69
14) अनुशासन पर्व– 104/61–65
15) पाराशर माधवीय – 1/1, पृ0–422
16) मदन मोहन मिश्र, पूर्व मध्यकालीन बिहार का समाज एवं धर्म, पटना पृ0–106–48
17) अजय कुमार राय, सोशल लाइफ इन नार्थन इंडिया
18) वर्णरत्नाकर पृ0–13
19) बृहदारण्यक उपनिषद–3/9/8
20) उत्तर राम चरित–IV, V, I पृ0–98
21) श्री हर्ष नैषधचरित्र– XVI – 109
22) विलासवति कथा, पृ0–112
23) इन्द्र नारायण झा, मिथिला दिग्दर्शन, पृ0–25–36
24) ए0 एल0 वाशम, दि वन्डर दैट वाज इंडिया, पृ0–177–78
25) मत्स्य पुराण–82
26) वायुपुराण, पृ0–93, VI–12,13
27) वराह, पृ0– 93 VV 12–13
28) कुर्म, अ0 XV 111–36
29) इलियट–1, पृ0–19
30) दू–सी0 साचौ, अलवरूणी इंडिया, पृ0–204
31) पी0 आर0 पी0–67–68
32) लक्ष्मीधर भट्ट, कल्पतरू, नियत कला कोड, पृ0–32
33) मदन मोहन मिश्र, पूर्व मध्यकालीन बिहार का समाज एवं धर्म, पटना पृ0–106–48
34) ए0 एल0 बाशम, दि वन्डर दैट वाज इंडिया, पृ0–175
35) कल्प सूत्र, 4182
36) मन सोल्लास III – 6, 1014–16
37) उपरोक्त 1021–22
38) उपरोक्त 1024–26
39) नरमा माला XV, 60
40) कल्हण राजतरंगिणी VII – 876
41) के0 एस0 टी0 एस9, पृ0–133

42) दी रिसर्चर (1964–65), पृ0–34
43) अमर सिंह, अमरकोष–11, V, पृ0–118
44) अमरकोष में कसिदास्वामीन 11–V–118
46) हर्ष चरित – IV – 143
47) उपरोक्त – 1–12
48) मदन मोहन मिश्र, पूर्व मध्यकालीन बिहार का समाज एवं धर्म, पटना पृ0–129–30
49) तेतरेय संहिता 5/4/4/4 तथा 5/6/6/1 एवं शतपथ ब्राह्मण 5/4/3/19
50) देशोपदेश
51) ए0 एस0 अल्तेकर, पोजिशन ऑफ ओमेन इन हिन्दू सिवलाइजेशन, 1938, पृ0–359
52) चौरपंचशिखा – 79
53) श्री हर्ष नैषधचरित्र – XV – 65
54) भारतीय विद्या XVII (1957), पी0 पी0 130–46
55) धनपद–तिलक मंजरी, पृ0–301
56) भारतीय विद्या XVII (1957), पी0 पी0 130–46
57) धनपद–तिलक मंजरी, पृ0–130
58) मान सोल्लास VV 1080–90
59) भारतीय विद्या XVII (1957), पी0 पी0 130–46 लाईन–5
60) उपरोक्त लाईन–71
61) उपरोक्त लाईन–111
62) श्री हर्ष नैषधचरित्र – XV – 44
63) उपरोक्त – 111, 127, 76
64) रघुवंश–68, पृ0–64, 50, 76, 56, 175
65) सोमवेश–कथासरितसार–पृ0–153
66) मान सोल्लास V 1078
67) उपरोक्त V–1079
68) उपरोक्त V-VII–10–13
69) भारतीय विद्या XVII (1957), पी0 पी0 13–46 लाईन–39
70) मदन मोहन मिश्र, पूर्व मध्यकालीन बिहार का समाज एवं धर्म, पटना पृ0–143
71) उपरोक्त
72) उपरोक्त
73) पूर्व मध्यकालीन मिथिला का समाजः ऐतिहासिक स्रोतों का अध्ययन, पृ0–213



दरभंगा प्रक्षेत्र की प्रतिमाओं का आर्थिक पहलू

सभ्यता के उद्‌भव, विकास एवं पतन का आधार है उत्पादन, अर्थात् श्रम का स्वरूप, और उस पर टिकी संस्थाएँ । इस दृष्टि से विद्यापति की रचनाओं के आधार पर अतीत का विश्लेषण केवल शिव सिंह की जीवनी का निरूपण न होकर समकालीन सामाजिक आर्थिक संरचना की व्यापकता को समझने का प्रयास होगा। इन तथ्यों को ध्यान में रखकर क्या हम विश्वास के साथ कह सकते है कि वास्तव में मिथिला के इतिहास के सृजन के लिए स्रोतों की कमी है ? हर युग और हर क्षेत्र का इतिहासकार अपनी जरूरतों के अनुरूप साक्ष्य ढूँढ़ने का प्रयास करता है । साक्ष्यों की खोज निर्भर करता है इतिहासकार के एजेंडा पर और एजेंडा निर्मित होता है वर्त्तमान की चुनौतियों के जवाब के रूप में । क्षेत्रीय इतिहास यदि उसके एजेन्डा पर नहीं है तो उससे जुड़े साक्ष्यों को वह अनदेखा करेगा ही । अतः मिथिला के इतिहास लेखन की प्राथमिकता होनी चाहिए उपलब्ध स्रोतों की पुनर्व्याख्या और नवीन स्रोतों की तलाश ।[1]

दरभंगा प्रक्षेत्र की पाषाण प्रतिमाएँ (800 ई0 से 1200 ई0 तक) एक नवीन स्रोत पुरातत्व विशेषकर पाषाण प्रतिमा पर आधारित पूर्व मध्यकालीन मिथिला (दरभंगा प्रक्षेत्र) के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक इतिहास की जानकारी प्राप्त करने का एक प्रयास हैं. । पाषाण प्रतिमाएँ दरभंगा प्रक्षेत्र में यत्र–तत्र विखरे पड़े हैं, जिन्हें पूर्व में कभी महत्वपूर्ण स्रोत के मान्यता नहीं दी गई।

प्रतिमा निर्माण की एक लम्बी परंपरा रही है, जिसने श्रमिकों को अर्थव्यवस्था से जोड़े रखा। प्राचीन भारत में उद्योग, व्यवसाय, वार्ता, हस्त कौशल एवं कला के लिए शिल्प शब्द का इस्तेमाल किया गया है ।[2] छठी शताब्दी ई0 के आसपास बिहार में कई सांस्कृतिक इकाइयों का जन्म हुआ। पांचवीं–छठी सदियों में प्राचीन नगरों का पतन दृष्टिगोचर होने लगता है। चिरांद, वैशाली और पाटलिपुत्र नगर गुप्तोतर काल में अपनी गरिमा से मुक्त हो गए थे।[3] इन नगरों में रहने वाले शिल्पी अविकसित शहरों की ओर चले गए जहाँ इन्होंने छोटी–छोटी इकाइयों का

विकास किया । इस समय भारत के अनेक प्रदेशों में भी मूर्ति और मंदिर निर्माण की शैली अलग–अलग हो गई थी।[4]

बिहार में अन्य स्थानों की तरह दास प्रथा की समाप्ति पर सामंतवाद का उदय हुआ।[5] बिहार में उत्पादन करने और कर चुकाने के मुख्य भार किसानों, शिल्पियों, वणिकों, और कृषि मजदूरों पर रहा। भारत के अनेक शहरों में शिल्प और वाणिज्य की गतिविधियों में मंदी आ गई थी। बिहार के अनेक क्षेत्रों जैसे मिथिला, नौलागढ़, जयमंगलागढ़, कुर्किहार, गया, मुंगेर एवं भागलपुर आदि शिल्प–ज्ञान के केन्द्र थे।[6]

विवेच्य काल में शिल्पियों की गतिशीलता में कमी आयी । सामंतों ने इन्हें अपनी सेवा के लिए बाध्य किया । इस काल में मुद्राओं के प्रचलन में उत्तरोत्तर कमी आयी।[7] छः सौ ई0 से नौ सौ ई0 तक के मुद्रा–अभाव की ओर विद्वानों ने संकेत किया है।[8] बिहार से होकर होने वाले विदेशी एवं आन्तरिक व्यापार को काफी क्षति पहुँची । पश्चिमी भारत में अरब आक्रमण के कारण व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ना अनिवार्य था ।[9] आन्तरिक व्यापार भी सामंती ढ़ाँचे में ढ़ल गया । व्यापारियों के संघों को भी पुरोहित एवं मंदिरों के समान सत्ता चलाने का अधिकार राजाज्ञा द्वारा दे दिया जाता था । पुरोहितों एवं मंदिरों के गृहीताओं के समान ही व्यापारी संघों के गृहीताओं की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए श्रमिकों एवं शिल्पियों पर पूरा अधिकार दे दिया गया । इस निकाय को लोहारों, बुनकरों, कुम्हारों तथा अन्य शिल्पियों से बेगार लेने का अधिकार दिया गया था।[10] दानग्रहीताओं को गांव में रहने वाले शिल्पियों पर अधिकार प्राप्त हो जाता था।[11]

बदलते शासन व्यवस्था की राजनीति एवं अर्थव्यवस्था भी कलाकार को प्रभावित करती है । समाज में जैसी राजनीतिक व्यवस्था होगी या राज्य में जैसी सत्ता होगी वह उसे प्रभावित करेगी । कलाकार की रचना में कहीं आलोचना देखने को मिलती है तो कहीं प्रशंसा । आर्थिक समृद्धि एवं आर्थिक तंगी का भी रूप रचना में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है ।[12]

प्रोफेसर बी0 डी0 चट्टोपाध्याय ने पालकालीन शासन के बारे में लिखा है कि पाल काल में नगर भी थे, व्यापार भी होते थे और शिल्पियों की स्थिति भी अच्छी थी लेकिन उनकी स्थिति कुषाण काल की तरह नहीं थी। शिल्पी वर्ग को स्थानीय मांग के अनुरूप शिल्पों का निर्माण करना था। परिणामस्वरूप गतिशीलता बहुत अधिक प्रभावित हुयी, परन्तु गांव में रहने वाले शिल्पियों के अतिरिक्त शिल्पियों का ऐसा वर्ग भी था, जो अपने शिल्प का प्रदर्शन किया करते थे ।[13]

जब कभी मजदूरों, पूंजीपतियों तथा धनी वर्ग द्वारा शोषण किया जाता है तो उसका उल्लेख लेखक अपने लेख में एवं कलाकार अपनी कला में करते हुए जनता में चेतना का संचार करते हैं तथा समस्या को जनता के सम्मुख रखते है और कभी–कभी तो इन समस्यायों का समाधान भी प्रस्तुत करते है । कलाकृति में सौदर्य स्वतः ही उत्पन्न हो जाता है ।[14]

दरभंगा प्रक्षेत्र से आलोच्य काल में काले पत्थर की बहुसंख्यक प्रतिमाओं की प्राप्ति से तत्कालीन अर्थव्यवस्था के विभिन्न पहलूओं पर गंभीर विश्लेषण की आवश्यकता प्रतीत होती है । ज्ञातव्य है कि इस क्षेत्र में काले पत्थर की पहाड़ियाँ अप्राप्त है । न सिर्फ काले पत्थर की पहाड़ियाँ वरन यह क्षेत्र पठारी भी नहीं है। स्पष्ट है कि पाषाण प्रतिमाओं के निर्माण के लिए पत्थर आयातित किए जाते होंगें। पत्थरों को आयातित करने की जिम्मेदारी निश्चित रूप से व्यापारी वर्ग की रही होगी । व्यापारियों से ये पत्थर शिल्पियों को प्राप्त होती होगीं । प्रतिमाओं के अध्ययन के क्रम में यह भी अभिज्ञात होता है कि विभिन्न भावों की प्रतिमाएं इस क्षेत्र में निर्मित होती रही । बड़े आकृतियों वाली पाषाण प्रतिमाएं और छोटी आकृतियों वाली पाषाण प्रतिमाएं । संभव है मन्दिरों हेतु पाषाण प्रतिमाएं बड़ी आकृति वाली हों और छोटे आकार वाली प्रतिमाएं आम जनों की आस्थाओं के प्रतीक रहे हों ।

इस तरह निर्माण की दो प्रक्रियाएं आर्थिक प्रभाव के परिणाम हैं । पाल काल में प्रतिमाओं के निर्माण की एक प्रमुख विशिष्टता रही है कि उनके आधार स्तम्भ पर निर्माता एवं शिल्पियों के नाम अभिलेख के रूप में विद्यमान रहते हैं । यहाँ से प्राप्त कुछ ही प्रतिमाएं अभिलेख युक्त पाई गई हैं । दुर्भाग्यवश कुछ प्रतिमाओं को छोड़ कर शेष प्रतिमाओं के अभिलेख को अद्यतन नहीं पढ़े जा सकते हैं। परिणामस्वरूप तत्कालीन परिस्थितियों के ज्ञान से हम वंचित रह जाते हैं।

प्रतिमाओं हेतु पाषाण खंडों के आयात, निर्माण एवं प्रतिस्थापना इन तीन चरणों पर होने वाले व्यय का बोध तो अवश्य होता है किन्तु दक्षिण भारतीय मूर्ति शिल्प परंपरा जिसमें स्पष्ट रूप से अभिलेख के माध्यम से इन तथ्यों की स्पष्ट जानकारी मिलती है, यहाँ इसका अभाव दृष्टिगोचर होता है। इस क्षेत्र में एक ही परिसर में विभिन्न मूर्त्तियें के होने की परिकल्पना कर सकते हैं किन्तु ऐसे स्थलों की संख्या भी कम ही है। दरभंगा शहर में कादिराबाद स्थित राजकिला के उत्तर

अवस्थित एक नये मंदिर में पुरानी प्रतिमाएं दिवाल से सटाये रखी हुई हैं जिनमें पश्चिम ओर विष्णु है तो उत्तर की ओर उमा–महेश्वर है। पूर्व की ओर मंदिर का मुख है तो दक्षिण की ओर कुछ भी नहीं है। इस मंदिर में पश्चिम उत्तर कोण में तथा पश्चिम दक्षिण कोण में किसी अन्य प्रतिमा के भग्नावशेष रखे गये है, जिनकी पूजा की जाती है। इस मंदिर के दिवाल में मूर्ति को लगाने की विधि से प्रतीत होता है कि यहाँ के मंदिरों में इस तरह से प्रतिमा को लगाकर रखा जाता होगा। मंदिर का नींव मोटा और पुराना लगता है जबकि उपरी नया लगता है। इस क्षेत्र मतें मूर्ति निर्माण परम्परा और मंदिर निर्माण परंपरा में दक्षिण भारतीय तत्वों की तलाश समग्रता से नहीं की जा सकी है किन्तु दरभंगा प्रक्षेत्र के इस कालखंड में कर्णाट् शासन एवं सेन शासन के मद्देनजर दक्षिण भारतीय तत्वों को तलाशना एक चुनौती है क्योंकि स्रोतों की कमी इसमें सबसे बड़ी समस्या है।

साहित्यिक साधनों से संकेत मिलता है कि मूर्ति के निर्माण के बदले शिल्पियों को कर देय होता था । निश्चित रूप से यह आर्थिक दबाव तत्कालीन समाज के श्रमिक वर्ग के लिए किसी भी दृष्टि से प्रोत्साहित करने वाला नहीं था।

प्राचीन कलाओं का सम्पूर्ण व्यापार 'शिल्प' द्वारा 'रूप' की निर्मिति में निहित है । शिल्प का तात्पर्य है 'कौशल' जो रूपयोजना में सहायक है । इसी भांति रूपयोजना शिल्प के माध्यम से 'लक्षण–लक्ष्य संबंध' की द्योतक है । रूप के सौंदर्य शास्त्रीय प्रतिमान निरंतर परिवर्तनशील रहे तथा शिल्प इसका अनुगामी बना । कला में अभीष्ट भौतिक रूप का सृजन 'अनुकरण' की प्रक्रिया से स्पष्ट होता है ऐसा अनुकरण जो अभीष्ट की तदरूपता प्रस्तुत करने में समर्थ् हो ।[15]

शिल्प के प्रयोग से लोक अभिरूचि के अनुसार रूप रचना के विभिन्न प्रयोग भारतीय कला में स्पष्ट हैं । प्राचीन साहित्य में 'रूप' शब्द के व्यवहार एवं मूर्तिकला में इसकी प्रस्तुति में असाधारण साम्य मिलता है । जैसे, ताम्राश्मयुग से कुषाण काल पर्यंत दैहिक या भौतिक रूप की आह्लादमय प्रखरता, तदनंतर गुप्तों के समय में पापवृति से है, संक्रान्ति का आध्यात्मिक भाव, जिसका उल्लेख कुमारसंभव (V.1) में है, तत्पश्चात मध्ययुग में भक्तिमार्ग के अनुरूप रूप की 'मायावादी' अवधारणा, क्रमशः बदलती हुई परिस्थितियों में शिल्पियों द्वारा निर्मित बदलती हुई रूपयोजना के परिचायक हैं । इन सभी युक्तियों से प्राचीन मूर्तिकला के विकास में शास्त्रीय पक्ष के अध्ययन की उपादेयता प्रकट होती है । अतः

नवीन भारतीय लेखनों में इन पक्षों की व्याख्या के प्रति उत्कंठा स्वाभाविक है कि किस तरह शिल्पकार विभिन्न परिस्थियों में भी अपने शिल्प के प्रति संवेदनशील रहे और आज ये हमारी समृद्ध धरोहर हैं ।[16]

अपराजित पृच्छा के अनुसार प्रत्येक रजवाड़े में प्रस्तर के कुशल कारीगर होते थे। वास्तुकार के लिये सूत्रकार, वास्तुकार, शिल्पकार, रथपति शब्द भी प्रयुक्त हुआ हैं। माधव नामक नगर सूत्रकार ने पूर्ण वर्मा (7 वीं सदी) के नालंदा प्रस्तर लेख को उत्कीर्ण किया था ।[17] चंदशिव नामक वास्तुकार को विश्वकर्मा के समान सर्वज्ञ बताया गया है । उसने एक शिव मंदिर, एक तड़ाग तथा गाय भैंस को पीने के लिए एक हौज का निर्माण किया था।[18]

बिहार में पालों के समय शिल्प कला का विकास हुआ । उस समय के दो कलाकार धीमान और उसका पुत्र वितपाल वस्तुतः चित्रण, मूर्तन और धातुमूर्तियों की ढ़लाई में बड़े सूक्ष्म और प्रवीण थे । उस काल के शिल्पियों द्वारा तैयार मूर्तियों के नमूनों को दो भागों में बांटा जा सकता है, एक पत्थर का एवं दूसरा धातु का। पाल शैली की काली चिकनी पत्थर की मूर्ति की प्राप्ति का प्रधान स्थल नालंदा रहा हैं इसके अतिरिक्त वहां से बौद्ध कांस्यमूर्तियों का जखीरा प्राप्त हुआ है । लामा तारानाथ ने जिन धीमान और उसके पुत्र वितपाल नामक चित्रण और मूर्तन कला के यशस्वी कलाकारों का वर्णन किया है वे पाल काल में नवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुए थे।[19] पालकालीन बिहार का वास्तु शिल्प मूर्तन शैली नालंदा से नेपाल, तिब्बत, वर्मा, जावा और सुमात्रा को भी प्रभावित किया। कुमारस्वामी का विचार है कि इस प्रभाव को लंका की कला में पहचाना जा सकता है । नालंदा के अतिरिक्त राज़गीर, बोधगया, कुर्किहार तथा भागलपुर शिल्प के लिए मशहूर था । कुमारस्वामी का अनुमान है कि उनका मूल आधार नालंदा ही है ।[20] पाल कालीन मूर्तियों में सजावट की बड़ी विशेषता है । उनके नाक–नक्श नुकीले और आकर्षक होते हैं और इस तरह के धातु और पत्थर के शिल्प के नमूने सांचे में ढ़ले हुए लगते हैं।[21]

सामंत युगीन मिथिला में शिल्प का अभाव रहा है। मिथिला की पालकालीन प्रतिमाओं से शिल्प के बारे में जानकारी मिलती है। मिथिला के शिल्पकारों ने लाल बलुए पत्थर का प्रयोग बड़े पैमाने पर किया था। मिथिला के विभिन्न स्थानों से प्राप्त शिल्प के नमूनों के अध्ययन–विश्लेषण से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वास्तव में पाल कालीन शिल्प का नाभिकीय क्षेत्र मगध रहा था। उसके बाद ही

अन्य जगहों पर इसका विस्तार हुआ । मगध शैली के शिल्प केन्द्र का जब पतन हो रहा था, उसी समय मिथिला में शिल्प के नए केन्द्र का विकास हो रहा था। लेकिन इतिहासकार मिथिला के शिल्प कला की उपलब्धियों को वास्तविकता के ठोस धरातल तक लाने में असमर्थ रहे हैं।[22]

मैं इस बात से सहमत हो सकता हूँ कि इतिहासकार मिथिला के शिल्प कला की उपलब्धियों को वास्तविकता के ठोस धरातल तक लाने में असमर्थ रहे हैं लेकिन इससे कतई सहमत नहीं हूँ कि मिथिला के शिल्पकारों ने लाल बलुए पत्थर का प्रयोग बड़े पैमाने पर किया था, क्योंकि मैंने अपने लम्बे शोध अन्वेषण के दौरान शताधिक मूर्तियों को दरभंगा प्रक्षेत्र में देखा, जो मिथिला शिल्प कला के केन्द्र में स्थित है । महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि इनमें से अधिकाशं मूतियाँ काले कसौटी पत्थर के बने हैं । कुछ प्रतिमाएँ लाल बलुआही पत्थर के बने हैं जिनमें से अधिकांश चन्द्रधारी संग्रहालय दरभंगा में सुरक्षित हैं । इस क्षेत्र में मिलने वाले अधिसंख्य मूर्तियाँ काले पत्थर के हैं।

गंगा के उत्तरी हिस्से में पाल कला के केन्द्र की जानकारी कम है । नालंदा, गया, राजगीर आदि गंगा के दक्षिणी हिस्से में स्थित केन्द्रों के समक्ष गंगा के उत्तर स्थित केन्द्रों का मूल्यांकन सही अर्थो में किया भी नहीं जा सका है । यहाँ क्षेत्रीय स्तर पर मूर्तियों में विविधताएँ देखने को मिलती है । पूर्वमध्यकालीन मिथिला में शिल्पों का विस्तार और विकास हुआ, राजगीर और नालंदा से नेपाल और तिब्बत जाने का मार्ग भी मिथिला से होकर ही था । काले चिकनी पत्थर की मूर्तियों की उपलब्धता से गंगा के उत्तरी क्षेत्र में पाल कला का विस्तार देखने के बजाय पालों के बाद पाल कला सदृश दक्षिण भारतीय प्रभाव युक्त कर्णाट शैली या स्वतंत्र कला शैली के रूप में देखने की आवश्यकता है।

पूर्वकाल की तुलना में भारतीय संस्कृति का प्रचार–प्रसार पड़ोसी देशों में पूर्व मध्यकाल में बड़े पैमाने पर हुआ । हमने अपने अन्वेषण के दौरान दरभंगा–जयनगर राष्ट्रीय उच्च पथ संख्या 105 के बजाय वर्त्तमान सीतामढ़ी–बेनीपट्टी–रहिका–मधुबनी पथ को पुराना और समृद्ध पाया, जिसके इर्द–गिर्द दोनों किनारे पर पूर्वमध्यकालीन पुरावशेष बिखरे हैं । संभावना है कि इन सड़कों के द्वारा व्यापार होता था और अन्य स्थल इस मार्ग से जुड़े रहे होंगे।

दरभंगा प्रक्षेत्र से शताधिक मूर्तियाँ प्राप्त हुई है जो सुरक्षित एवं संरक्षित स्थलों में भी है और खुले आसमान के नीचे असुरक्षित एवं असंरक्षित क्षेत्रों में भी।

ये मूर्तियाँ अधिकांशतः किसी ऐतिहासिक पुरातात्विक (कमोवेश पूर्व मध्यकालीन) स्थलों से ही प्राप्त हुए हैं । इन प्रतिमा प्राप्ति के स्थल से मंदिरों के होने या न होने की कोई अधिकारिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। दरभंगा प्रक्षेत्र से कोई पुरातात्विक अभिलेख नहीं मिले है जिसके द्वारा इस क्षेत्र में किसी विशाल मंदिर के होने की जानकारी मिल सके । हाँ, कुछ ऐसे स्थल भी अन्वेषण के दौरान देखे गए हैं जहाँ चार–पाँच मूर्तियाँ एक साथ हैं। ये स्थल किसी मंदिर परिसर के होने की ओर ईशारा करते हैं। उदाहरणार्थ– भीठ भगवानपुर, अकौर, देवपुरा, देकुली आदि से मूर्तियाँ प्राप्त हुई है किन्तु मंदिर अवशेष उपलब्ध नहीं हैं।

ऐसे स्थल जहाँ से चार–पाँच मूर्तियाँ प्राप्त हुई है, में पुरातात्विक खुदाई से किसी मंदिर के होने की जानकारी मिल सकती है। पूर्वमध्यकाल में मंदिर दक्षिण भारतीय क्षेत्र में अर्थव्यवस्था के केन्द्र में भी हुआ करती थी, संभावना है उत्तर भारतीय क्षेत्र में भी ऐसी व्यवस्था कायम हुई हो, किन्तु अभी तक ऐसे प्रमाण उपलब्ध नहीं हुए हैं। कादिराबाद दरभंगा स्थित राजकिला से उत्तर एक शिव मंदिर है, जिसमें पूर्व मध्यकालीन विष्णु और उमा महेश्वर दिवाल में रखा गया है। मंदिर के पश्चिम–उत्तर कोने एवं पश्चिम–दक्षिण कोने में मूर्ति का क्षतिग्रस्त हिस्सा रखा हुआ है। यह मन्दिर नया बना हुआ प्रतीत होता है किन्तु मन्दिर का आधार पुराना प्रतीत होता है। यह मन्दिर अर्थव्यवस्था से सम्बद्ध होने का मान भी देता है क्योंकि इसके करीब एक पोखर उपलब्ध है। मन्दिर के साथ पोखर (तालाब) के होने के कारण यह संभावना दिखाई देती है कि तालाब मंदिर अर्थव्यवस्था में सहायक रहा होगा कादिराबाद का मंदिर एक मात्र ऐसा उदाहरण नहीं है जहाँ मन्दिर और तालाब एक साथ अवस्थित है बल्कि उसके कई उदाहरण इस क्षेत्र में उपलब्ध हैं। इस प्रक्षेत्र में प्राप्त होने वाली कई प्रतिमाएँ तो तालाब उड़ाही के क्रम में तालाब से मिली है। दरभंगा प्रक्षेत्र में तालाब और मन्दिर के एक साथ होने तथा इससे अर्थव्यवस्था में पड़ने वाले प्रभाव का परीक्षण अभी तक नहीं किया गया है, जो अपेक्षित है।

पूर्वमध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था में मंदिरों की अपनी भूमिका और महत्ता रही है। मंदिर सम्पति के भंडार होते थे। मंदिरों में सिक्कों, गहनों, जवाहरात, सोने की छड़ों के रूप में संपत्ति का अम्बार लगा रहता था । दान की मद में प्राप्त राशि ने मंदिरों को अक्षय और अकूत निधि का स्वामी बना दिया था। मंदिरों के कार्यो को संपादित करने के लिए अपना कर्मचारी वर्ग होता था । वह बैंक के रूप में भी काम करता था, दानों और धर्मस्वों का निक्षेप प्राप्त करता था,

जिस धन का वह न्यासी होता था। धर्मस्व में व्यापार पर लगने वाले कर का हक भी शामिल होता था।[23]

मंदिरों में किए गए निक्षेप, उसकी पवित्रता के कारण सुरक्षित समझा जाता था। वृत्ति संघ भी मंदिरों के परिचालन में रूचि लेते थे और अपने–अपने सदस्यों से प्रतिज्ञात चंदा वसूल कर धर्मस्व के हित भागियों को नियमित रूप से चुकाते थे। मंदिरों की संपत्ति को नुकसान पहुंचाने वालों के लिए मनु ने दंड विधान किया है। कौटिल्य के 'देवताध्यक्ष' ने राज्य के सभी मंदिरों की सम्पति को एकत्र किया, ताकि आपातकाल में राजा उसका उपयोग कर सके। शुक्र ने मंदिरों के लिए अधिकारियों की नियुक्ति की अनुशंसा की है । राजा भी अपनी संपति मंदिर में रखते थे। संकट के समय राजा भी मंदिर की संपति से ऋण लेते थे।[24]

मंदिर प्रबन्ध समिति 'गोष्ठी' कहलाती थी । इसका अस्तित्व द्वितीय शताब्दी ई0 पू0 से ही मिलने लगता है ।[25] 'गोष्ठिको' (गोष्ठी के न्यासियों) का चयन इलाके के परम मान्य व्यक्तियों में से किया जाता था।

मंदिर सम्पदा का प्रबंध मूलतः ब्राह्मणों तथा अन्य कर्षक, वणिक एवं शिल्पी जातियों के प्रमुखों द्वारा किया जाता था । मंदिरों में विशाल कर्मचारी वर्ग रहता था जिसमें लिपिक, शिल्पी, गायक, वादक, नर्त्तकी, नाई, चाकर शामिल रहते थे। सोमनाथ मंदिर को दस हजार से अधिक गांवों की मिल्कियत थी। परान्तक प्रथम के राज्य में उत्तरमेरू नामक एक ब्राह्मण ग्रामं था, जिसका शासन ब्राह्मणों की सभा में था । मंदिर में विविध पदों पर कई सौ कर्मचारी नियोजित थे। सहस्रवाह मंदिर अभिलेख में बढ़ई, यांत्रिक, रथकार आदि की नियुक्ति की चर्चा गई है ।[26] वेंकटेश्वर मंदिर के अध्ययन से पता चलता है कि मंदिर की भूमि किसानों को दी गई और लगता है ये किसान बटाईदार थे और इसमें मंदिर का हिस्सा 51 से 71 प्रतिशत तक होता था।[27]

बहुत सारे उत्कीर्ण लेखों में मंदिरों को भूमिदान का उल्लेख मिलता है तिमाना दान अभिलेख में निर्वाहार्थ मंदिर को भूमिदान का निर्देश मिलता है। इसमें ऐसे काश्तकारों के नाम भी आए हैं जो दान में भूमि के साथ हस्तांतरित किए गए थे या भूमि को जोतने के लिए नियुक्त किए गए थे । इस अभिलेख में नकदी वार्षिक दान दर्ज है।[28] तिमाना अभिलेख में आगे कहा गया है कि एक गोष्ठी (धार्मिक न्यास) के राजस्व प्रशासन के लिए जालोर प्रस्तर अभिलेख में आहर का

निर्देश मिलता है। विजयपाल की मथुरा प्रशस्ति में भी मंदिर प्रशासन के इसी ढ़ाँचे की झलक मिलती है। सोमनाथ के मंदिर के धर्मस्व का प्रभारी गंड वृहस्पति नाम राज्यधिकार था ।[29] राजा बड़े–बड़े मंदिरों के लिए प्रशासकों की नियुक्ति करता था।

के0 बी0 रमण ने कांची के बरदराज स्वामी मंदिर शीर्षक में अपने अध्ययन के क्रम में विस्तारपूर्वक वर्णन किया है कि मंदिरों का प्रबंध कैसे होता था और कौन–कौन कर्मचारी रहते थे। इस कृति में बताया गया है कि मंदिर के कार्यकलाप पर राजा की कहाँ तक और किस तरह का नियंत्रण था और बताया गया है कि मंदिर के अधिकारियों में एक था 'श्री कार्यम' । कर्नाटक में उत्तरोत्तर अधिकाधिक दानों से मठ और मंदिर समृद्ध होते गए । असंगकृत 'श्रावक भूमि' नामक ग्रंथ में दान के सिद्धान्त और प्रयोग के विकास का उत्कृष्टतम विवेचन किया गया है । इसमें दास–दान की मान्यता दी गई है और श्रमणों एवं ब्राह्मणों को दासेत्तर सेवक देने के पूण्य का बखान किया गया है । मठों को पशुपालक और मवेशी दिए जाते थे और साथ ही उनको खेती लायक जमीन भी दी जाती थी । बुद्ध घोष के सामंतपासादिका में 'आरामिकों' की चर्चा है जो संघों को समर्पित किए गए थे और उनसे खेती का काम लिया जाता था । इस सामंतपासादिका की टीका ('सारार्थक्षेपनी' श्रीलंका में बारहवीं शताब्दी में रचित) से ज्ञात होता है कि आरामिक मठ के खेत जोतते थे । वे संघ की भूमि के अस्थायी काश्तकार होते थे। बुद्धघोष का मत था कि खेती लायक सारी जमीन काश्तकारों को सौंप देने की परिपाटी अच्छी है।[30]

मंदिर के निर्माण का सारा खर्च जिन्सी भू–राजस्व से पूरा किया जाता था। कर्नाटक में धान के खेत की अतिरिक्त उपज अतिरिक्त मंदिर बनाने में खर्च की जाती थी। राजस्थान के एक ताम्र–पत्र[31] में मंदिरों को कर्षक दिया जाना अभिलिखित है। मठों और मंदिरों ने कृषक–सामंत स्थापना की अनुकूल अवसर प्रदान किया।

दरभंगा प्रक्षेत्र में कहीं भी मंदिरों एवं मूर्तियों के प्रशासनिक आर्थिक व्यवस्था की जानकारी स्पष्टतः नहीं मिलती है फिर भी इस क्षेत्र में कई गाँव ऐसे है जो ब्रह्मोत्तर के नाम से जाने जाते हैं।

धार्मिक जमींदारी का उदय होना पालों की अमलदारी की एक महत्त्वपूर्ण घटना है । दानों का लाभ शैव, वैष्णव और बौद्ध विहारों को मिलता था । नालंदा,

ओदन्तपुरी, विक्रमशीला, जगदल आदि विद्यापीठों को कई सौ गांवों की जमींदारी प्राप्त थी । गाँवों की जमीन का काफी हिस्सा पुरोहितों, पुजारियों, मंदिरों और मठों के हाथ में था । इस प्रकार एक महत्वपूर्ण भू स्वामी वर्ग का उदय हुआ, पालों और प्रतिहारों की अमलदारी में भूमि पर वैयक्तिक स्वामित्व सृजित हुआ। सामुदायिक सम्पदा किस प्रकार मंत्री सम्पदा का रूप लेती गई इसका एक अच्छा उदाहाण है । ग्वालियर नगर जहाँ कई जमीन स्थानीय मंदिरों को दान में दी गई ।[32] व्यापारी भी मंदिरों को दान देते थे । सीयादोनी के शासक उन्दभट्ट ने बिक्री के माल पर वसूली गई चुंगी का एक निर्धारित अंश विष्णु के मंदिर को समर्पित किया।[33] सोलह दुकानों से प्राप्त आय भी विष्णु को समर्पित की गई । शुल्क और चुंगी से होने वाली आय पूण्यार्थ मंदिरों को दी जाती थी । व्यापार पर मंदिरों के नियंत्रण से व्यापार के विकास में अवरोध आया और इससे सामन्ती स्थिति के पनपने और बने रहने में मदद पहुंची । सामंती अर्थव्यवस्था का मूल लक्षण है स्थानीय आवश्यकताओं की स्थानीय साधना से पूर्त्ति । पुरोहितों को दिये जाने वाले दानों की तुलना मध्यकालीन यूरोप में चर्च को दिए जाने वाले समनुदानों (वेनिफिसेज) से कर सकते हैं। ब्राह्मण जमींदारों को सारे वित्तीय अधिकार दिए गए और उन्होंने आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था विकसित की । ब्राह्मणों और मंदिरों को दान राष्ट्रकूटों की अमलदारी में भी दिए गए । राष्ट्रकूटों के अधीन जमींदारों की संख्या बहुत अधिक थी ।[34]

मंदिर जिन्सी लगान वसूते थे और कर्षक लोग धार्मिक अनुष्ठानों के लिए मंदिरों को यथापेक्षित हर सामग्री पहुंचाने के लिए बाध्य होते थे । कश्मीर के एक राजा ने मंदिर के ग्रामों को जब्त कर लिया था । कश्मीर के हर्ष (1089–1101) ने भी गंभीर वित्तीय संकट से उबरने के लिए मंदिरों की अंधाधुंध लूट–पाट की और देव प्रतिमाओं को विसर्जित करने के लिए एक धर्माधिकारी भी नियुक्त कर दिया ।[35]

दरभंगा प्रक्षेत्र से शताधिक मूर्तियों की प्राप्ति हुई है । इन मूर्तियों के प्राप्ति स्थल क्या व्यापारिक मार्ग से जुड़े हुए थे और क्या व्यापारिक मार्ग के होने से पूर्व मध्यकालीन अर्थव्यस्था प्रभावित हुई। प्राचीन नगर और व्यापारिक मार्ग से इन स्थलों के स्थिति में कुछ परिवर्त्तन हुआ। नदी मार्ग पर स्थित स्थल और व्यापारिक मार्ग के कारण इन धार्मिक स्थलों और इन क्षेत्रों का विकास हुआ, ऐसे तथ्यों के आधार पर व्यापक विचार–विमर्श की संभावना को नजर अंदाज नहीं किया जा सकता है।

"प्राचीन अर्थ–व्यवस्था एवं नगरों के पतन से लम्बी दूरी के व्यापार का पतन हुआ एवं स्थानीय हाटों जो कि प्रमुखतया धार्मिक केन्द्रों के इर्द–गिर्द लगा करती थीं, का अभ्युदय हुआ । नालन्दा से प्राप्त एक ताम्बे की मूर्ति पर अंकित अभिलेख, जिसमें वर्णित नालन्दा के समीप 'देवपाल हट्टा', इस बात की पुष्टि करता है कि यह हाट देवपाल द्वारा स्थापित किया गया था । एक और मुहर जिस पर श्रीनालन्द, श्री धर्महट्‌टा अंकित है, नालन्दा से प्राप्त हुई है। अवलोकितेश्वर की मूर्ति सूर्य मंदिर बड़गाँव पर अंकित अभिलेख 'तालहट्‌टा' एक और हाट की पुष्टि करता है।[36]

जहाँ तक पूर्व मध्यकाल के धार्मिक स्थलों की बात हैं, बहुतायत स्रोतों से महत्वपूर्ण मन्दिरों पर प्रकाश डाला जा सकता है । अभिलेखीय स्रोत महत्वपूर्ण हैं, पूर्व मध्यकालीन बिहार के धार्मिक स्थलों के अध्ययन हेतु महानामा का बोधगया शिलालेख इसी का उदाहरण है । कुछ उत्तर गुप्त राजाओं के अभिलेख भी इस दिशा में महत्वपूर्ण सूचना देते हैं । आदित्यसेन के अपषढ़ शिलालेख से उसके द्वारा भगवान विष्णु के मन्दिर के निर्माण की जानकारी मिलती है । इसी शासक का शाहपुर (जो कि नालन्दा से 9 मील दक्षिण पूर्व में सकरी नदी के तट पर स्थित है), अभिलेख सूर्य की प्रतिमा के खम्भे पर अंकित है । जीवित गुप्त द्वितीय का देव–वरूनारक अभिलेख मन्दिर के चार अलंकृत खम्भों में से एक पर अंकित है । विष्णुगुप्त का मनारगाँव शिलालेख, जो कि बक्सर से 14 मील दक्षिण–पश्चिम में स्थित है । एक छोटा शिलालेख बट्‌टेश्वरनाथ, पथरघट्‌टा के समीप से प्राप्त हुआ हैं, इसमें भगवान बट्‌टेश्वर के सम्मान में उत्सव की चर्चा की गई है । इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि शायद यहाँ कोई वार्षिकोत्सव मनाया जाता रहा होगा । कुछ पाल अभिलेखों से भी धार्मिक स्थलों की जानकारी मिलती है । धर्मपाल के बोधगया अभिलेख[37] से ज्ञात होता है कि चतुर्मुखी महादेव के लिए उसने मन्दिर बनवाया था। नारायणपाल का गया शिलालेख विष्णुपद मन्दिर के प्रांगण में स्थित है । इस शिलालेख से ज्ञात होता है कि चन्ददेव नामक व्यक्ति ने ब्राह्मण साधुओं के लिए एक मठ का निर्माण वैशाख मास में करवाया था ।[38] कंष्टहरणी घाट मुंगेर से प्राप्त भागीरथ के समय का शिलालेख यह बताता है कि इसी घाट पर गोपालीकर्मा नामक व्यक्ति, जो मुक्तेश्वर परिवार का था एक मन्दिर का निर्माण करवाया जो भगवान शम्भू को समर्पित था । इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि पूर्वमध्यकालीन बिहार के

धार्मिक एवं मन्दिरों से जुड़े अन्य गतिविधियों की जानकारी अभिलेखों से प्राप्त की जा सकती है । अभिलेख धार्मिक मेले एवं स्थानीय बाजार की जानकारी के भी महत्वपूर्ण स्रोत हैं । अभिलेखों से न केवल मन्दिर के धार्मिक क्रियाकलाप अपितु उसके आर्थिक गतिविधियों की भी जानकारी प्राप्त होती है । इनसे धार्मिक स्थानों के स्थान एवं मार्ग जो कि संभवतः स्थानीय व्यापारियों द्वारा उपयोग किए जाते होंगे, की भी जानकारी मिलती है।

उत्तर बिहार की लगभग सभी नदियाँ नावों के संचालन हेतु सालों पर उपर्युक्त थी। इस सन्दर्भ में कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं है, विदेशी तीर्थयात्रियों ने भी इस विषय में कुछ नहीं लिखा है । पुराने नगरों एवं नव उत्पन्न नगरों का नदी तट पर होना, पुरातत्विक साक्ष्यों द्वारा पुष्टि की जा चुकी है । प्राचीन नगरों में सबसे प्रमुख सारण जिले का चिरांद था, जो मध्य गंगा वेसिन का प्रतिनिधित्व करता है । 1968–69 ई0 में इसी स्थान से प्राप्त गंगदेव के सिक्के एवं अन्य लोहे के वस्तु इस नगर को पूर्व मध्य काल तक ले जाने में महत्वपूर्ण प्रमाण है।[39] पुरातत्व निदेशालय, बिहार के सदस्य सत्येन्द्र कुमार झा एवं डॉ0 डी0 के0 चक्रवर्ती, फैकेल्टी ऑफ ओरियन्टल स्टडीज (कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय) द्वारा उत्तर बिहार में किए गए अन्वेषण कार्य से जानकारी मिलती है कि पालकालीन वस्तुएँ उत्तर बिहार में बहुतायत् स्थानों पर बिखरी हुई हैं। ये मुख्यतः दरभंगा एवं मधुबनी जिले के डुमरा, अकौर, उच्चैठ, मानपुर, दुरगौली, देवपुरा, धगजरी, कोपगढ़, मिरारवान, कपिलेश्वर, राजेश्वर, मंगरौनी, बालानी, कथुनाडीह, नवदेवनाडीह, सहारणडीह, बहेरा, बलिराजगढ़, अंधराठाढ़ी, पष्टन, नवटोली, बाढ़पोखरा, राजनगर एवं पाण्डवगढ़ । पाल कालीन इन स्थलों से एक महत्वपूर्ण जानकारी यह प्राप्त की जा सकती है कि लगभग सभी स्थल एक मार्ग द्वारा एक–दूसरे से जुड़े हुए थे। इसी मार्ग से स्थानीय व्यापार भी संभव रहा होगा। वर्तमान सीतामढ़ी–मधुबनी सड़क का इतिहास बहुत ही पुराना है। पालकालीन स्थल पुपरी से मधुबनी तक इसी मार्ग के इर्द–गिर्द बिखरे पड़े हैं। अहिल्या स्थान, डुमरा, उच्चैठ, दुगौली, अकौर, देवापुरा, धगजरी, कपिलेश्वर और मंगरौनी जैसे स्थल इस सड़क के दोनों ओर पड़ते हैं।

उपलब्ध पूर्व मध्यकालीन बिहार के व्यापारिक मार्ग के अन्वेषण से ज्ञात होता है कि इस काल की व्यापारिक गतिविधियाँ दक्षिण बिहार के बजाए उत्तर बिहार में अधिक हुआ करती थी । इस तथ्य की पुष्टि मुख्यतः पुरातात्विक स्रोतों से संभव है । यह सत्य है कि यह क्षेत्र अपनी पुरानी अस्मिता को खो चुका है,

परन्तु नए स्थलों के अभ्युदय से इस क्षेत्र का व्यापार पुनर्जीवित हो गया । उत्तर बिहार के इस काल के प्राप्त पुरातात्विक स्रोतों से यह ज्ञात होता है कि राज्य का अभ्युदय भी हुआ होगा, जिसकी प्रगति के लिए व्यापार आवश्यक रहा होगा। प्राचीन बिहार के हृदयस्थली, मगध के भौतिक संस्कृति के कमजोर हो जाने से संस्कृति का केन्द्र विघटित होकर पड़ोसी क्षेत्रों में पहुंचा । इसी कारण में आंचलिक व्यक्तित्वों का निर्माण हुआ । मिथिला में आंचलिक बिम्बों का उदय इसी प्रक्रिया का द्योतक हैं ।''[40]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि पूर्वमध्यकालीन दरभंगा प्रक्षेत्र में मूर्ति शिल्प के विविध स्वरूपों में बहुसंख्यक प्रतिमाओं की प्राप्ति ने तत्कालीन आर्थिक स्थिति में गंभीर विश्लेषण की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया हैं ।

पाद टिप्पणी

1) **विजय कुमार ठाकुर का आलेख, मिथिला संस्कृति एवं परम्परा, पटना पृ0–61–62**
2) **एच0 डी0 सांकलिया, भारत में प्रागैतिहासिक प्रौद्योगिकी, नई दिल्ली**
3) **राम शरण शर्मा, भारत में नगरों का पतन**
4) **रमा नाथ मिश्र, शिल्प इन इंडियन कान्सेप्टस एंड कनोर्टशन** हिस्टोरिकल ऑक्योलॉजी इन इंडिया
5) **विजय कुमार ठाकुर, मध्यकालीन मिथिला का सामंती समाज, पटना, पृ0–43**
6) **उषा झा, मिथिला की सांस्कृतिक चेतना, दशा और दृष्टि, मिथिला संस्कृति एवं परम्परा, पटना पृ0–71**
7) **राम शरण शर्मा, भारतीय सामंतवाद परिच्छेद 9, पृ0–55**
8) **सी0 जे0 ब्राउन, द क्वायन्स ऑफ इंडिया पृ0–50–55**
9) **राम शरण शर्मा, भारतीय सामंतवाद परिच्छेद 7, पृ0–57**
10) **ए0 ई0 3 न 30 पंक्ति–28**
11) **फलीट, कारयस इंडियन इंडिकोरम –3 पृ0–26–29**
12) **जुगनु पांडेय, सामाजिक परिवर्त्तन में कला एवं साहित्य, वाराणसी पृ0–75**
13) **दयानन्द राय एवं ब्रज किशोर चौबे का आलेख, गुप्तोतर बिहार की सामंती व्यवस्था में शिल्पः एक अध्ययन, बिहार इतिहास परिषद, 2005, पृ0–166–174**
14) **जुगनु पांडेय, सामाजिक परिवर्त्तन में कला एवं साहित्य वाराणसी पृ0–75**
15) **रमा नाथ मिश्र, भारतीय मूर्तिकला का इतिहास, नई दिल्ली, पृ0–26–27**
16) **उपरोक्त**
17) **जे0 बी0 आर0 एस0–52, पृ0–183–87**
18) **चाहमान विग्रह राज का हर्ष अभिलेख ए0 ई0 2, पृ0–116–30**

19) वी0 ए0 स्मिथ, भारतीय कला का इतिहास, दयानन्द राय एवं ब्रज किशोर चौबे का आलेख, गुप्तोतर बिहार की सामंती व्यवस्था में शिल्पः एक अध्ययन, बिहार इतिहास परिषद, 2005, पृ0–166–174
20) कुमारस्वामी, पृ0–113–114
21) दयानन्द राय एवं ब्रज किशोर चौबे का आलेख, गुप्तोतर बिहार की सामंती व्यवस्था में शिल्पः एक अध्ययन, बिहार इतिहास परिषद, 2005, पृ0–166–174
22) सत्येन्द्र कुमार झा का आलेख, मिथिला संस्कृति एवं परंपरा, पटना, 2001, पृ0–253–261
23) प्रो0 इ0 हि0 का0 1953, पृ0–163 और आगे
24) राधाकृष्ण चौधरी, प्राचीन भारत का आर्थिक इतिहास, पटना पृ0–145
25) ए0 इ0 II, पृ0–87
26) ए0 इ0 XV, पृ0–33
27) राधाकृष्ण चौधरी, प्राचीन भारत का आर्थिक इतिहास, पटना पृ0–145
28) ए0 इ0 XI, पृ0–337–40
29) ए0 इ0 XXI, पृ0–1
30) राधा कृष्ण चौधरी, प्राचीन भारत का आर्थिक इतिहास, पटना पृ0–145
31) ए0 इ0 XI, पृ0–337–40
32) ए0 इ0 I, पृ0–20
33) ए0 इ0 I, पृ0–21
34) राधा कृष्ण चौधरी, प्राचीन भारत का आर्थिक इतिहास, पटना पृ0–145
35) उपरोक्त
36) पूर्वमध्यकालीन मिथिला में व्यापार एवं व्यापारिक मार्गः एक पुरातात्विक अध्ययन पृ0–224
37) मुखर्जी एवं मैती, कोर्पस ऑफ बंगाल इन्सकृप्सन, पृ0 110–114
38) आर0 डी0 बनर्जी, द एज ऑफ इम्पिरीयल गुप्ता, पृ0 20–21
39) इंडियन आर्कियोलोजी 1969–70, ए0 रिव्यू, पृ0 76
40) पूर्वमध्यकालीन मिथिला में व्यापार एवं व्यापारिक मार्गः एक पुरातात्विक अध्ययन पृ0–225



सप्तम अध्याय

निष्कर्ष

इतिहास निर्माण में तथ्यात्मक एवं वैज्ञानिक दृष्टि से पुरातत्व के प्रमुख उपादानों में प्रतिमा का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है । दरभंगा प्रक्षेत्र की पाषाण प्रतिमाओं के गहन अध्ययन से क्षेत्रीय इतिहास के कई पहलुओं पर प्रकाश पड़ता है। सम्पूर्ण अध्ययन के क्रम में प्रतिमा के शास्त्रीय एवं क्षेत्रीय स्वरूप के सारगर्भित अध्ययन के फलस्वरूप मिथिला के क्षेत्रीय इतिहास की धारणाओं पर प्रभाव पड़ता है।

दरभंगा प्रक्षेत्र के ऐतिहासिक एवं भौगोलिक पृष्ठभूमि से संबंधित परिचय के क्रम में पाल, सेन, कर्णाट् आदि राजवंशों से सम्बद्ध साक्ष्य प्रस्तुत किए गए है। शोध अध्ययन के आधार पर मिथिला के राजनैतिक इतिहास में कलचुरि, चंदेल, पाल, सेन एवं कर्णाट वंश की प्रत्यक्ष तथा परोक्ष भूमिका आलोच्य कालावधि में राजनीतिक स्थितियों की जटिलता को उजागर करता है।

विभिन्न राजवंशों के आगमन और अल्पावधि में प्रस्थान इस क्षेत्र में राजनीतिक अस्थिरता का परिचायक है । यद्यपि पाल, सेन एवं कर्णाट वंशों की उपस्थिति से यहाँ का राजनीतिक जीवन निश्चित रूप से प्रभावित होता दिखता है । मिथिला के निकटस्थ क्षेत्रों में पालों की सशक्त सत्ता एवं तिरहुत पर महिपाल की प्रभावकारी उपस्थिति से इस क्षेत्र में पालों का सुनिश्चित प्रभाव परिलक्षित होता है । मिथिला में लक्ष्मण संवत की लोकप्रियता के आधार पर मिथिला में सेन नरेश की सफलता संबंधी धारणा की उपेन्द्र ठाकुर कमजोर तर्कों पर आधारित मानते हैं ।[1] डी0 सी0 सरकार ने भी विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि लक्ष्मण संवत् लक्ष्मण सेन से सम्बद्ध करने पर विभ्रम की स्थिति उत्पन्न होती है । अनुमति देवी के भागीरथपुर लेख में राजा लक्ष्मण द्वारा स्थापित संवत् के 394 वें वर्ष में इसे उत्कीर्ण किया गया बतलाया गया है।[2] अतएव विचारणीय है कि पूर्वी भारत के इतिहास में सेन नरेश लक्ष्मण सेन के अतिरिक्त कोई अन्य शासक नहीं हुआ जिसके नाम से किसी संवत् की शुरूआत हो सके ।[3] विस्फी ताम्र पत्र में स्पष्ट अंकित है "अब्दे लक्ष्मण सेन भूपतिमिते"[4]। अतः इसे सेन नरेश

लक्ष्मण सेन मानना तर्क संगत् प्रतीत होता हैं । विभिन्न स्रोतों के अध्ययनोपरांत यह तिथि 1109–10 ई0 से 1114–15 ई0 ठहरती है । द्रष्टव्य है कि सेन वंश के महत्वपूर्ण नरेश विजय सेन ने 1095 से 1158 ई0 तक शासन किया था ।[5] यदि मान भी लिया जाय कि लक्ष्मण सेन ने मिथिला में प्रचलित लक्ष्मण संवत् को स्थापित किया तो इस क्षेत्र से केवल उसका सम्बन्ध सिद्ध होता है, उसके पूर्वजों का नहीं ।[6] ये बाते सेनों के इस क्षेत्र में प्रभाव का परिचायक है । गौरतलब है कि सेन भी कर्णाट क्षत्रिय थे एवं चालूक्य आक्रमण के समय बंगाल के उत्तरी क्षेत्र में बस गये थे।[7] आज भी मिथिला में लक्ष्मण संवत प्रचलित है और 2014 ई0 में लक्ष्मण संवत 904 चल रहा है। कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय के पंचाग में ईस्वी के साथ–साथ शक संवत, विक्रम संवत, लक्ष्मण संवत आदि की चर्चा रहती है।

रामपाल की सेना में कर्णाट के नान्यदेव की उपस्थिति से रामपाल के विदेह विजय में इनके प्रमुख योगदान से राजनीतिक ध्रुवीकरण का संकेत मिलता है । कालक्रम में रामपाल की दुर्बलता का लाभ उठाकर 1097 ई0 में नान्यदेव ने मिथिला में स्वतंत्र राज्य की स्थापना की । पूर्वमध्यकालीन बिहार में दरभंगा प्रक्षेत्र से पाल शक्ति की समाप्ति के साथ ही कर्णाटों के शक्तिशाली राज्य की स्थापना एक महत्वपूर्ण घटना है । कर्णाटों ने मिथिला क्षेत्र में पाल, सेन आदि वंशों की तुलना में दीर्घावधि (1097–1324/25 ई0) तक शासन किया । इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि इस वंश के नेतृत्व में मिथिला का वास्तविक अग्रगामी इतिहास प्रारंभ होता है जिसने पूर्वी भारत के इतिहास में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी ।[8]

पाषाण प्रतिमाओं की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का आधार दरभंगा प्रक्षेत्र में काफी प्राचीन प्रतीत होता है । इस क्षेत्र में बिखरी हुई पाषाण प्रतिमाएं क्षेत्रीय इतिहास और संस्कृति के मौलिक स्वरूप को वैज्ञानिक कसौटी के आधार पर धार्मिक, शास्त्रीय आदि रूपों में भी परिवर्धित करता रहा है जिस किसी स्थल से पाषाण प्रतिमा की प्राप्ति हुई है, कमोवेश ये महत्वपूर्ण स्थल ऐतिहासिक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के आधार हैं।

वस्तुतः पूर्वकाल की गुप्त कालीन श्रेष्ठ कला परंपराओं की नींव पर ही पूर्व मध्य युगीन मूर्ति कला का विकास हुआ। जिसके अन्तर्गत विभिन्न क्षेत्रों में अलग–अलग राजनीतिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों में मूर्तिकला की क्षेत्रीय प्रवृतियाँ क्रमशः मुखर हुई । पाल शासकों के काल में मगध वंग शैली की स्थापना

हुई, जिस पर स्पष्टतः पूर्व गुप्त मूर्ति कला विशेषतः सारनाथ शैली का हल्के एवं एकहरे वदन वाले आकृतियों तथा पारदर्शक वस्त्रों वाले प्रतिमाओं का प्रभाव देखा जा सकता है। पाल शासन काल में जिस मूर्ति शैली का विकास हुआ, वह उनके उत्तराधिकारी सेन एवं कर्णाट शासकों के क्षेत्रों में मूल तत्वों के साथ विविध रूपों में देखी जा सकती हैं ।

दरभंगा प्रक्षेत्र वैष्णव, शैव, शाक्त एवं बौद्ध धर्म से सम्बद्ध विभिन्न देव–देवी की पाषाण प्रतिमाओं से भरी–पड़ी हैं । ये प्रतिमाएं मुख्यतः पाल, सेन एवं कर्णाट वंशीय शासकों की देन है । इन मूर्तियों पर इनके स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होते हैं। पाल कला की अनुपम कृतियां इस क्षेत्र में पाल आधिपत्य की प्रमुख पुरातात्विक साक्ष्य हैं, अधिकांश पाषाण प्रतिमाओं की प्राप्ति जैसा कि सम्बद्ध अध्याय में उल्लेख है, इस क्षेत्र विशेष से हुई है । ये प्रतिमाएं इस तथ्य की गवाह हैं कि मिथिला की पावन धरती पर पालों ने कभी राजनीतिक सक्रियता दिखलाई थी। पाल कला की मूर्तियों में प्रदर्शित सौंदर्य पक्ष की अभिव्यक्ति के भी कुछ विशेष निहितार्थ हैं। तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि अधिकांश प्रस्तर मूर्तियों का स्टेला सादगीपूर्ण है एवं भाव अभिव्यंजना पक्ष पर विशेष ध्यान केन्द्रित किया गया है । मगध परिक्षेत्र से प्राप्त कतिपय मूर्तियों की तरह परिपक्व पाल कृति के समान यह सौंदर्य आधिक्य से परिपूर्ण नहीं है । यह इस तथ्य का संकेत माना जा सकता है कि धर्मपाल और देवपाल के उपरांत इस क्षेंत्र में पाल आधिपत्य की सुदृढ़ता प्रभावित हुई थी । नौंवी सदी के उत्तरार्द्ध में गुर्जर प्रतिहार आक्रमण से पाल साम्राज्य के सिमटते वर्चस्व की पुष्टि भी इससे होती है ।

प्रमुख हिन्दू देवी देवताओं की प्रतिमाओं की अधिकता के साथ–साथ बौद्ध धर्म से सम्बद्ध मूर्तियां भी इस क्षेत्र में प्राप्त हुई हैं। ये प्रतिमा या तो इस धारणा को स्पष्ट करती है कि पालों के समन्वयकारी धार्मिक नीति, जो उनकी पहचान है, का अनुपालन भी इस क्षेत्र में हुआ। या फिर इस धारणा को सम्पुष्ट करती है कि पाल शासक बौद्ध मतावलम्बी थे और इनका क्षेत्र गंगा के दक्षिणी हिस्से में था और गंगा के दक्षिणी हिस्से में बौद्ध प्रतिमाओं की अधिकता है। संभवतः गंगा के उत्तर का इलाका पालों के सीधे नियंत्रण में लम्बे समय तक नहीं रहा। इस कारण इस क्षेत्र में हिन्दू देवी –देवताओं की प्रतिमाएँ प्रचुरता में मिली है। हिन्दू प्रतिमाएं एवं बौद्ध प्रतिमाओं की संख्या के आधार के साथ–साथ विभिन्न

पुरातात्विक स्रोतों के आधार पर यह विचार करने की आवश्यकता है कि पालों के सीधे शासन क्षेत्र में दरभंगा प्रक्षेत्र था या नहीं?

यदि हिन्दू धर्म से सम्बद्ध धारणा पर विचार किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि दरभंगा प्रक्षेत्र की धरती ने विभिन्न धाराओं वैष्णव, शैव एवं शाक्त को समान रूप से प्रश्रय दिया । अनेक साहित्यिक साक्ष्य भी इसको सम्पुष्ट करते हैं । ये मूर्तियाँ उपर्युक्त धारणा को पुरातात्विक आधार प्रदान करती है । इस धार्मिक विश्वास को परिलक्षित करने वाला प्रतीक 'त्रिपुण्ड' आज भी मिथिलांचल में प्रचलित है । मस्तक पर उकेरी गई क्षैतिज रेखा शिव के प्रति समर्पित भाव का प्रतीक है जबकि लाल चंदन से निर्मित विन्दू शक्तिपूजा के प्रति आराध्य भाव का।[9] सूर्य प्रतिमा की प्राप्ति सूर्योपासना के प्रति अगाध श्रद्धा एवं समर्पण भाव को प्रदर्शित करता है। ब्रह्मपुराण में द्वादशादित्य की परिकल्पना मिथिला में सर्वमान्य रही है ।[10] सूर्य प्रतिमा की प्राप्ति से इस तथ्य की सम्पुष्टि होती है । सूर्य प्रतिमा की प्राप्ति से स्पष्ट है कि इस क्षेत्र में सौर संप्रदाय की प्रभावकारी उपस्थिति थी ।

पालों के उपरान्त दरभंगा प्रक्षेत्र पर विभिन्न राजपूत वंशों यथा सेन एवं कर्णाटों का प्रभाव एक ऐतिहासिक तथ्य है जिसकी पुष्टि साहित्यिक साक्ष्य से भी होती है । कन्नौज से राजस्थान की ओर प्रवसित राजपूत शाखा में शैव धर्म सर्वाधिक लोकप्रिय था एवं इसने शिव–परिवार के देवी–देवताओं की उपासना को बढ़ावा दिया ।[11] दूसरी ओर कुछ चौहान शासकों की कुलदेवी दुर्गा थी ।[12] सेन एवं कर्णाट चूंकि दक्षिण भारत से इस क्षेत्र में आए और उन्होंने अन्य प्रतिमाओं के साथ–साथ विष्णु प्रतिमा का भी निर्माण करवाया[13] और ऐसी अनेक प्रतिमाएं इस क्षेत्र से प्राप्त होती हैं । अतः यह सर्वथा स्वाभाविक ही था कि राजपूत शक्तियों ने अपने प्रभाव क्षेत्र में उपासना के विस्तृत क्षेत्र को आधार प्रदान किया जिससे विष्णु, शिव, शक्ति परिवार के देवगणों की पूजा को व्यापक लोकप्रियता मिली।

दरभंगा प्रक्षेत्र की पाषाण प्रतिमाओं के शास्त्रीय विधान तथा पाषाण खंडों के उपयोग के गहन अध्ययनों के आधार पर निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि इस क्षेत्र में पूर्वी भारतीय कला शैली की सशक्त उपस्थिति दृष्टिगोचर होती है । इन प्रतिमाओं के अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि पाल कला केन्द्र के प्रमुख क्षेत्र मगध से प्राप्त प्रतिमाओं की तरह मिथिलांचल से प्राप्त प्रतिमाएं पालों के

चरमोत्कर्ष काल की प्रतीत नहीं होती है । दरभंगा प्रक्षेत्र में सेन और कर्णाट काल में निर्मित प्रतिमाएं पाल कला की मूलभूत विशिष्टताओं से मेल खाती है और उनमें सामान्य तौर पर अन्तर रखना कठिन है, किन्तु प्रतिमा के निर्माण में उपयोग किए गए पाषाण खंडो के अध्ययन एवं प्रतिमा के शारीरिक संरचना, चेहरे की बनावट पर निश्चित रूप से सेन/कर्णाट का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । फलतः इन प्रतिमाओं पर दक्षिण भारतीय प्रभाव परिलक्षित होता है । पूर्वी भारतीय कला शैली पर ऐसा प्रभाव अन्य क्षेत्रों में दृष्टिगत नहीं होता । प्रतिमा के शास्त्रीय अध्ययन से भी ज्ञात होता है कि प्रारंभिक प्रतिमाएं पौराणिक विधान पर आधारित है तो कुछ प्रतिमाएं रूपमंडन के शास्त्रीय विधान से प्रभावित है ।

ज्ञातव्य है कि सेन और कर्णाट दोनों एक ही क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करते हैं। पालों के बाद की प्रतिमाओं के अन्तर को समझने में प्रतिमाओं पर उत्कीर्ण अभिलेखों का अध्ययन भी किया जा सकता है क्योंकि कई अभिलेखों की लिपियां पालों के बाद की प्रतीत होती है ।

प्रतिमाओं के अध्ययन की दृष्टि से यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है, अतएव इस पुरातात्विक साक्ष्य के गहन अध्ययन एवं अन्वेषण की व्यापक आवश्यकता है । इससे इस क्षेत्र के राजनैतिक इतिहास की सम्पुष्टि के साथ–साथ कई ऐतिहासिक भ्रांतियों को भी दूर किया जा सकता है।

पूर्व मध्यकालीन दरभंगा प्रक्षेत्र विभिन्न राजवंशों के आपसी संघर्ष गाथा से भरी–पड़ी है । मुख्यतः पाल, सेन, कर्णाटों के अल्पावधि शासन व्यवस्था में उनकी सांस्कृतिक भूमिका के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि इन राजवंशों के शासकों ने मिथिला की मूलभूत सांस्कृतिक भावनाओं को अक्षुण्ण रखते हुए मिथिला की समरसता खंडित किए बिना कला के क्षेत्र में योगदान दिया । अतएव सांस्कृतिक क्षेत्र में उनके प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता । दरभंगा प्रक्षेत्र से प्राप्त पाषाण प्रतिमाएं विभिन्न धर्मो से सम्बद्ध है, जिसे इस क्षेत्र के विभिन्न धर्म एवं सम्प्रदाय के आपसी सदभाव का परिचायक माना जा सकता है । मिथिला की सांस्कृतिक आत्मा को अक्षुण्ण रखते हुए मूर्ति के भावों एवं शास्त्रीय आधार पर प्रतिमाओं का निर्माण, पाल, सेन एवं कर्णाट शासकों द्वारा किया जाना इस क्षेत्र की विशिष्टताएं हैं । इस आधार पर मूर्तियों की पहचान की जा सकती है। मिथिला की मूलभूत संस्कृति पर इन राजवंशों का कोई स्थायी प्रभाव परिलक्षित नहीं होता । फलतः मिथिला की मौलिक संस्कृति पूर्ववत अपने प्रवाह में निरंतर चलती रही।

इस प्रवाहमान संस्कृति में कला के रूप में अंतर स्पष्टतः दिखाई देता है। कला में विकास सांस्कृतिक समृद्धि का सूचक है। पूर्व काल से आ रही कला के विकास की प्रक्रिया में नई अभिव्यक्ति का प्रवेश इस सम्पूर्ण प्रक्षेत्र की प्रतिमा में दिखाई पड़ता है। गंगा के दक्षिणी हिस्से में इस नई अभिव्यक्ति के प्रवेश को नई कला शैली पाल–सेन आर्ट के नाम से पुकारा गया है। उत्तरी बिहार के क्षेत्र में पाल शैली ही अभी भी प्रचलन में है। जब दक्षिणी क्षेत्र में पाल कला में अंतर हुआ तो इसे पाल–सेन कला कहा गया है किन्तु उत्तरी क्षेत्र में जब दक्षिणी बिहार अर्थात् गंगा के दक्षिणी हिस्से से अंतर करने की कोशिश करते हैं तो मूर्तिकला में बहुत अधिक अंतर दिखलाई पड़ता है और यह 'पाल–सेन कला' के करीब अपनी साम्यता को दर्शाता है। जब उत्तरी बिहार में 1097 ई0 में कर्णाट का शासन प्रारंभ होता है और यहाँ की प्रतिमा पाल से अलग 'पाल–सेन कला' के करीब दिखलाई पड़ती है तो क्यों नहीं उत्तरी बिहार के उन तमाम क्षेत्रों जहाँ कर्णाट का शासन था और इनके शासन काल में प्रतिमा निर्माण हुआ तो इस कला को 'कर्णाट–सेन कला' कहा जाय। गंगा के दक्षिणी हिस्से में प्रचलित कला पाल कला है इसके सामानान्तर गंगा के उत्तरी हिस्से में मेरा मानना है कि यह कर्णाट कला है। इसी प्रकार, जब गंगा के दक्षिणी हिस्से में 'पाल–सेन कला' है इसके सामानान्तर गंगा के उत्तरी हिस्से में 'कर्णाट–सेन कला' है। क्यों नहीं गंगा के दक्षिणी हिस्से को पाल कला एवं गंगा के उत्तरी एवं गंगा के दक्षिणी हिस्से को कालक्रम की दृष्टि से 'कर्णाट–सेन कला' का नाम दिया जाय, जहाँ पाल–सेन कला कहा जाता है। इस तथ्य को स्वीकार करने में समय लगेगा क्योंकि प्रचलन में पाल कला ही कहा जाता है।

पूर्व मध्यकालीन समाज विभिन्न जातियों एवं प्रजातियों में विभक्त था । समाज में जातियों की संख्या में अप्रत्याशित वृद्धि हुई । उसका एक कारण इस समय के बौद्ध, जैन, शैव, बैष्णव आदि धर्मो का अनेक संप्रदाय में विभाजित होना भी था । इस काल के स्मृतिकारों ने ब्राह्मणेतर धर्मो बौद्ध, जैन, वामभार्गी शाक्त आदि के अनुयायियों को भी अस्पृश्य घोषित कर दिया । विभिन्न धर्मो से सम्बंद्ध प्रतिमाएं इस सामाजिक संरचना को सम्पुष्ट करते हैं ।

बदलती शासन व्यवस्था एवं उसकी अर्थव्यवस्था कलाकार को प्रभावित करती है । आर्थिक समृद्धि एवं अवनति का स्पष्ट प्रभाव यहाँ की कलात्मक रचना पर दृष्टिगोचर होता है। प्रतिमा के निर्माण में विभिन्न प्रकार के काले पत्थरों का उपयोग उनकी आर्थिक स्थिति का स्पष्ट संकेत देते हैं । आलोच्य काल के प्रारंभिक प्रतिमाएं उच्च कोटि के चिकने काले कसौटी पाषाण खंडों से

निर्मित हैं, यह पत्थर अत्यन्त सुन्दर एवं कांति युक्त होती हैं जबकि उत्तरकालीन प्रतिमा में निम्नकोटि के पाषाणखंडों का उपयोग शासन के आर्थिक स्थिति की ओर संकेत करते हैं ।

स्पष्ट है कि नई खोजों को दृष्टिगत कर नई मान्यताओं का निर्माण अब अपेक्षित है । मिथिला से प्राप्त मूर्तियों की विशिष्टताओं को गहनता से वैज्ञानिक कसौटी पर पहचानने का प्रयास अत्यावश्यक है । उनका पाल शैली के नाभिकीय क्षेत्र से क्या संबंध रहे थे, उन्हें रेखांकित करने की कोशिश होनी चाहिए। अन्यथा इन प्रयासों के अभाव में मिथिला की मूर्तिकला की उपलब्धियों को हाशिए से उठाकर कला अनुसंधान की मुख्य धारा में लाना मुश्किल होगा ।[14]

व्यक्तिगत रूप से मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मूर्ति कला के क्षेत्र में या कहें कि कला की मुख्य धारा में कला पद्धति और कला के विकास के अनुरूप अब बिहार की कला को पाल, कर्णाट और कर्णाट–सेन कला को पूर्वी भारतीय कला श्रेणी में रखना उचित होगा। 'पाल–सेन कला' को पुर्नव्याख्या करने की आवश्यकता है। कर्णाट् और सेन के अंतर को समझने के लिए बारीकी अध्ययन करने की आवश्यकता है। उत्तरी बिहार के प्रक्षेत्र में भी सेन है और दक्षिणी हिस्से में भी सेन हैं। उत्तरी बिहार में कला का मतलब पाल कला से निकाला जाता है जबकि इस क्षेत्र की कला में पाल कला से इतर अलग कला का विकास देखने को मिल जाता है। एक समीकरण के रूप में अंतर को समझ सकते हैं–

उत्तरी बिहार में गुप्तोतर काल = कर्णाट = सेन

दक्षिणी बिहार में गुप्तोतर काल = पाल = सेन

उत्तरी बिहार की प्रतिमाओं पर पालों का असर आंशिक रूप से प्रचलन में रहा और पाल कला के चरमोत्कर्ष पर हमें यहाँ नवीन तत्वों का समावेश भी दिखाई देने लगता है जिसके कारण मैं प्राल कला से उत्तर बिहार की कला को अलग रखने की कोशिश में हूँ।

ऐसी स्थिति में दोनों हिस्से में शासक और शासन के अंतर को भी समझने की आवश्यकता है ताकि पुरातात्विक साक्ष्य के आधार पर कला में हो रहे परिवर्तन को सतही तौर पर स्वीकार किया जा सके।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि पूर्व मध्यकालीन मिथिला से प्राप्त पाषाण प्रतिमाएं, जिनका प्रतिनिधित्व दरभंगा प्रक्षेत्र करता है, अपनी विशिष्टतों के साथ एक नई कला शैली का प्रतिनिधित्व करता है। इस समय मिथिला विभिन्न

राजवंशों की शरण स्थली बनी और यहाँ विभिन्न प्रकार की संस्कृति का पोषण हुआ। इस परिस्थिति में ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न राज वंशों की राजनीतिक अस्थिरता के बीच दरभंगा प्रक्षेत्र के पाषाण प्रतिमाओं का विस्तारित शोध एवं गहन विश्लेषण अभी भी अपेक्षित हैं ।

पाद टिप्पणी

1) उपेन्द्र ठाकुर, हिस्ट्री ऑफ मिथिला, दरभंगा पृ0–182
2) भागीरथपुर लेख तृतीय पंक्ति एवं आगे
3) अमिय कृष्ण का "चन्द्रधारी संग्रहालय, दरभंगा की पुरानिधियों का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन" (ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय की पीएच0डी0 (प्राचीन भारतीय इतिहास, पुरातत्व एवं संस्कृति विभाग) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध 2009
4) इण्डियन एन्टीक्वेरी 14, 190–91
5) सत्यकेतु विद्यालंकार, भारतीय इतिहास का पूर्वमध्ययुग पृ0–207
6) इण्डियन हिस्ट्री क्वाटर्ली 30, पृ0–209
7) सत्यकेतु विद्यालंकार, भारतीय इतिहास का पूर्वमध्ययुग पृ0–208
8) मदन मोहन मिश्र, पूर्व मध्यकालीन बिहार का समाज एवं धर्म, पटना पृ0–22–23
9) जय कान्त मिश्र, ए हिस्ट्री ऑफ मैथिली लिटरेचर, खण्ड 1, पृ0–19
10) ब्रह्मपुराण, अध्याय 29–30
11) नीलिमा वशिष्ट, राजस्थान की मूर्ति कला परम्परा पृ0–8–9
12) उपरोक्त पृ0–11
13) कमलादित्य स्थान और भीठ भगवानपुर के विष्णु प्रतिमा अभिलेख
14) सत्येन्द्र कुमार झा का आलेख, मिथिला संस्कृति एवं परम्परा, पटना पृ0–253–262



सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

सहायक ग्रंथ :–

अग्रवाल, उर्मिला : खजुराहो स्कल्पचर्स एंड देयर सिग्निफिकेंट, नई दिल्ली, 1964

अग्रवाल, वासुदेवशरण : इण्डिया एज नोन टू पाणिनी, लखनऊ, 1953
मथुरा कला, अहमदाबाद, 1964
स्टडीज इन इन्डियन आर्ट, वाराणसी, 1965
भारतीय कला, वाराणसी, 1966

उपाध्याय, बलदेव : भागवत सम्प्रदाय, काशी, सं0 2010

उपाध्याय, वासुदेव : मूर्ति विज्ञान वाराणसी, 1972
प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मन्दिर, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना, 1982

उपाध्याय, भगवत शरण : भारतीय कला की भूमिका, तृतीय संस्करण, अक्टुबर 2007 पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा0) लिमिटेड दिल्ली

कुम, धर्मेन्द्र : मिथिला मिसलेनी, दरभंगा

चौधरी, इन्द्र कुमार : सम आसपेक्ट ऑफ सोशल लाइफ इन मिथिला (1350–1750 ई0) के0 पी0 जायसवाल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पटना 1988

चौधरी, राधाकृष्ण : हिस्ट्री ऑफ बिहार, मोती लाल वनारसी दास, पटना 1958
मिथिलाक संक्षिप्त राजनीतिक इतिहास वैदेही समिति 1961, दरभंगा
मिथिलाक सांस्कृतिक इतिहास वैदेही समिति 1961 दरभंगा

जोशी, एन0 पी0 : मथुरा स्कल्पचर्स, मथुरा, 1966
प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, पटना, 1977

झा, अरूण कुमार : सम आस्पेक्ट ऑफ द कल्चरल हिस्ट्री ऑफ मिथिला, के0 पी0 जायसवाल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पटना 2005

झा, विश्वम्भर एवं अन्य (सं0) : मिथिला संस्कृति एवं परम्परा, प्रथम संस्करण 2001, प्रकाशक जानकी प्रकाशन पटना

झा, विनयानन्द : मिथिला की सारस्वत सुषमा, संस्करण 2007, मंगरौनी मधुबनी

झा, कृष्ण कुमार : मिथिला का सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन, (वर्ण रत्नाकर के आधार पर) प्रथम संस्करण 2004, कोमल प्रकाशन, पटना

झा, सहदेव : मिथिला की धरोहर, द्वितीय संस्करण 2000, मित्र पुस्तकालय, ब्रह्मस्थान अन्धराठाढ़ी, मधुबनी

ठाकुर, उपेन्द्र : सम आसपेक्ट्स ऑफ एंशियंट हिस्ट्री एंड कल्चर, दिल्ली, 1974

हिस्ट्री ऑफ मिथिला, दरभंगा 1988

मिथिलाक इतिहास, मैथिली अकादमी, पटना

ठाकुर, अमरनाथ : गणतांत्रिक मिथिला में सामाजिक–आर्थिक परिवर्त्तन, प्रथम संस्करण 2008, जानकी प्रकाशन पटना

ठाकुर, भास्कर नाथ : प्राचीन मिथिला में शैवमत, प्रथम संस्करण 2012,आयुष्मान पब्लिकेशन हाऊस, नई दिल्ली

त्रिपाठी, चन्द्रधर : कामरूप–कलिंग–मिथिला : ए पॉलिटिक्ल कलचरल एलाईनमेन्ट इन इर्स्टन इण्डिया, शिमला, 2008

तिवारी, मारूति नंदन (सं0) : मध्यकालीन भारतीय मूर्तिकला, प्रथम संस्करण 1991, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी

तिवारी, मारूति नंदन (सं0) : मध्यकालीन भारतीय प्रतिमा लक्षण, प्रथम संस्करण 1997, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी

तिवारी, मारूति नन्दन (सं0) : सात्वतार्चन (वासुदेव शरण अग्रवाल जन्मशती स्मृति ग्रन्थ), प्रथम संस्करण 2007, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

दास, राय कृष्ण : भारतीय मूर्ति कला, वाराणसी 1972

दिवाकर, आर0 आर0 : बिहार थ्रू दी एजेज, कलकत्ता, 1959

नारायण, वासुदेव : आक्योलोजी इन बिहार (1861–1892) बिहार पुराविद परिषद 1979, पटना

पांडेय, जुगनू : सामाजिक परिवर्तन में कला एवं साहित्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2007

पांडेय, जय ना0 : भारतीय कला इलाहाबाद 1993

मिश्र, इन्दुमति : प्रतिमा विज्ञान (वैष्णव पुराणों के आधार पर), मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 1971.

मिश्र, कृष्ण कान्त : मिथिला का इतिहास, प्रथम संस्करण जून 1953, मिथिला प्रकाशन लहेरियासराय

मिश्र, केशव चंद्र : चंदेल और उनका राजत्व काल, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी

मिश्र, जयशंकर : प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, वि0 हि0 ग्रंथ अकादमी, पटना

मिश्र, जयदेव : ए हिस्ट्री ऑफ बुद्धिस्ट आईक्नोग्राफी इन बिहार (600–1200 ई0) प्रभावती प्रकाशन, पटना 1992

मिश्र, योगेन्द्र : हिस्ट्री ऑफ विदेह, जानकी प्रकाशन पटना 1981

मिश्र, सुनील कुमार : मिथिला के मंदिर गढ़ एवं पुरातत्व, खण्ड–1, प्रकाशन वर्ष 2010,दामोदर प्रकाशन, मधुबनी

मिश्र, रमानाथ : भारतीय मूर्तिकला का इतिहास संशोधित तथा परिवर्धित संस्करण 2002, ग्रंथी शिल्पी, दिल्ली

मिश्र, रत्नेश्वर (सं0) : रिजन इन हिस्ट्री, प्रसपेक्टिंग बिहार, जानकी प्रकाशन, पटना 2002

श्रीवास्तव, वृजभूषण : प्राचीन भारतीय प्रतिमा' विज्ञान एवं मूर्ति कला, चतुर्थ परिवर्धित एवं संशोधित संस्करण 2007, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

शुक्ला, डी0 एन0 : हिन्दू कैनन्स ऑफ आइक्नोग्राफी, लखनऊ, 1958
भारतीय वास्तुशास्त्र (ग्रंथ चतुर्थ)
प्रतिमा विज्ञान, लखनऊ, 1956

शर्मा, राम प्रकाश : मिथिला का इतिहास, द्वितीय आवृति 2002, कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय दरभंगा

सरस्वती, एस0 के0 : ए सर्वे ऑफ इण्डियन स्कल्पचर्स, कलकत्ता, 1957.
अर्ली स्कल्पचर्स ऑफ बंगाल (दि0 सं0) कलकत्ता, 1962.

सहाय, भगवन्त : आइक्नोग्राफी ऑफ सम माइनर हिन्दू एंड बुद्धिस्ट डिटीज, दिल्ली, 1975
दी इन्सक्रिप्सन ऑफ बिहार, नई दिल्ली

सहृदय, हवलदार त्रिपाठी : बिहार की नदियाँ, प्रथम संस्करण मई 1977, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी पटना

सत्यार्थी, एस0 एन0 : दर्शनीय मिथिला, द्वितीय संस्करण मई 2003 ई0, विस्मृत मिथिला प्रकाशन, लहेरियासराय, दरभंगा

सिंह, अरविन्द कुमार : प्राचीन भारतीय मूर्तिकला एवं चित्रकला (पाषाण काल से गुप्त काल तक) प्रथम संसकरण 1994, मध यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल

सिंह, श्याम नारायण : हिस्ट्री ऑफ तिरहुत, द वपिष्ट मिशन प्रेस 1922

सिन्हा, बी0 पी0 : भारतीय कला को बिहार की देन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना वि0 सं0 2098.
कंप्रेहेंसिव हिस्ट्री ऑफ बिहार, मो0 I, पार्ट– I के0 पी0 जायसवाल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पटना 1974
कंप्रेहेंसिव हिस्ट्री ऑफ बिहार, मो0 I, पार्ट– II के0 पी0 जायसवाल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पटना 1974

सिन्हा, सी0पी0एन0 : मिथिला अंडर द कर्णाट्स, जानकी प्रकाशन पटना, 1979

सिन्हा, पुष्पा : बिहार की प्राचीन हिन्दू प्रतिमाएं, पटना

सिन्हा, आर0 पी0 : प्रोबलेम ऑफ हिस्टोरिकल रिसर्च इन बिहार (1912–1985 ई0) बिहार पुराविद परिषद, पटना 1987

सिन्हा, शान्ति स्वरूप : शिव की अनुग्रह मूर्तियाँ, प्रथम संस्करण 2003, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

शोध प्रबंध, आलेख, शोध पत्रिका, अभिनन्दन ग्रंथ आदि :-

- अमिय कृष्ण का चन्द्रधारी संग्रहालय, दरभंगा की पुरानिधियों का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन (ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय की पीएच0डी0 (प्राचीन भारतीय इतिहास, पुरातत्व एवं संस्कृति विभाग) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध 2009।
- चन्द्रशेखर पासवान का मिथिला की सांस्कृतिक विरासत में बौद्धधर्म की प्रासंगिकता (दिल्ली विश्वविद्यालय की पीएच0डी0 (बौद्ध अध्ययन) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध) बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 2006 ।
- राधाकृष्ण चौधरी का आलेख, "मिथिला का संक्षित राजनीतिक इतिहास" श्री राम चरित्र अभिनंदन ग्रंथ – श्री रामचरित्र अभिनंदन समिति बेगूसराय ।
- भवनाथ झा का आलेख, बिहार की गौरवमयी वैष्णव धारा (पृ0 2–28) धर्मायण अंक 75, पौष–फाल्गुन 2064, जनवरी–मार्च 2008, महावीर मन्दिर प्रकशन पटना।
- श्री राम निरेषण मिश्र का आलेख, मिथिला–मिहिर (मिथिलांक) 1936 सम्पादक सुरेन्द्र झा, दरभंगा, पृ0 153–155 ।
- सत्येन्द्र कुमार झा का आलेख, मिथिला की मूर्तिकला एक सर्वेक्षण पृ0 247–258।
- श्री सत्यनारायण ठाकुर का आलेख, मिथिला में मंदिरों का प्रादुर्भाव एवं स्वरूप (पृ0 259–258) मिथिला लोक संस्कृति विशेषांक (मिथिला शोध संस्थान, दरभंगा की शोध पत्रिका) खण्ड – 8, 2006, भाग–1।
- उपेन्द्र झा का आलेख, विदेह के कुछ ऐतिहासिक तथ्य, प्रोफेसर उमानाथ झा अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशक प्रो0 उमानाथ झा अभिनन्द समिति, दरभंगा 2003 ।
- संघ भारती, त्रैमासिक शोध पत्रिका, शिवपुरी, बेगूसराय।



चित्रावली



चित्र संख्या-1



चित्र संख्या-2



चित्र संख्या-3



चित्र संख्या-4



चित्र संख्या-5



चित्र संख्या-6



चित्र संख्या-7



चित्र संख्या-8



चित्र संख्या-9



चित्र संख्या-10



चित्र संख्या-11



चित्र संख्या-12



चित्र संख्या-13



चित्र संख्या-14



चित्र संख्या-15



चित्र संख्या-16



चित्र संख्या-17



चित्र संख्या-18



चित्र संख्या-19



चित्र संख्या-20

चित्र संख्या-21





चित्र संख्या-22



चित्र संख्या-23



चित्र संख्या-24



चित्र संख्या-25



चित्र संख्या-26



चित्र संख्या-27



चित्र संख्या-28



चित्र संख्या-29



चित्र संख्या-30



चित्र संख्या-31



चित्र संख्या-32



चित्र संख्या-33



चित्र संख्या-34



चित्र संख्या-35



चित्र संख्या-36



चित्र संख्या-37



चित्र संख्या-38



चित्र संख्या-39



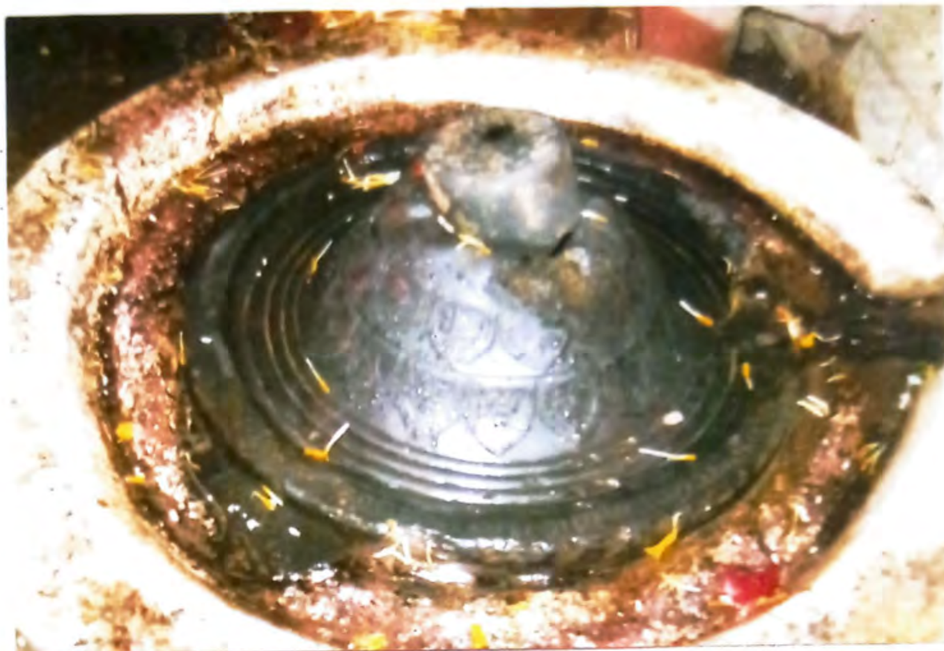
चित्र संख्या-40



चित्र संख्या-41



चित्र संख्या-42



चित्र संख्या-43



चित्र संख्या-44

लेखक-परिचय



नाम - **डॉ. सुशान्त कुमार**
जन्म तिथि - दो दिसम्बर उन्नीस सौ सतहत्तर (02-12-1977)।
पिता नाम - डॉ. गौरीनाथ मिश्र "भास्कर"
सम्पर्क - भास्कर भवन
शिवपुरी, बेगूसराय - 851101 (बिहार)।
मोबाईल नं- 09234965122,9430485228

सुशान्त कुमार ने जवाहर नवोदय विद्यालय, बेगूसराय से माध्यमिक परीक्षा तथा जवाहर नवोदय विद्यालय, पश्चिम चम्पारण से उच्चतर माध्यमिक की परीक्षा उत्तीर्ण की, तत्पश्चात् राजधानी कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली से स्नातक एवं जी.डी. कॉलेज, बेगूसराय तथा स्नातकोत्तर इतिहास विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा से स्नातकोत्तर की उपाधि प्राप्त की है।

मिथिला के इतिहास एवं पुरातत्व सम्बन्धी ज्ञान का गंभीर अध्ययन करते हुए इन्होंने डॉ. शैलेश कुमार सिन्हा अध्यक्ष, स्नातकोत्तर प्राचीन भारतीय इतिहास, पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग, जी.डी. कॉलेज, बेगूसराय के निर्देशन में "दरभंगा प्रक्षेत्र की पाषाण प्रतिमाएँ (800 ई. से 1200 ई. तक)" विषय पर शोध किया, जिस पर ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा ने पी-एच.डी. की उपाधि प्रदान की।

इनके कई शोध-आलेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। ये विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक गतिविधियों में संलग्न रहते हुए इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस, मिथिला इतिहास संस्थान, बिहार इतिहास परिषद, बिहार दर्शन परिषद आदि प्रतिष्ठित संस्थाओं के सदस्य हैं।

सम्प्रति- अध्यापन कार्य में संलग्न होकर सुशान्त कुमार मिथिला के क्षेत्रीय इतिहास पर अध्ययन करते हुए सामाजिक विज्ञान, मानविकी एवं शिक्षा संकाय सम्बन्धी शोध आलेखों की त्रैमासिक पत्रिका 'संघ भारती' के सम्पादक हैं।







कला-प्रकाशन

बी. 33/33-ए-1, न्यू साकेत कालोनी

बी. एच. यू., वाराणसी-5



ISBN - 978-93-85309-25-0

मूल्य : 4500.00 रुपये